ऐतिहासिक भाषाविज्ञान : सिद्धान्त और व्यवहार

जय कुमार 'जलज'

साहित्य, समालोचना एवं भाषा-विज्ञान विषयक हमारे अन्य प्रकाशन

मौलिक

१. हिन्दी रेखाचित्र	८.००
२. हिन्दी उपन्यास कला	६.५०
३. काव्य मनीषा	१०.००
४. पाश्चात्य निबन्ध कला	११.००
५. अंग्रेजी भाषा और साहित्य	३ ५०
६. पालि साहित्य का इतिहास	५.००
७. उर्दू भाषा और साहित्य	७.५०
८. गुजराती साहित्य का इतिहास	६.५०
९. तेलुगु साहित्य का इतिहास	६.००
१०. मलयालम साहित्य का इतिहास	४.००
११. बँगला साहित्य का इतिहास	५.५०
१२. रूसी साहित्य का इतिहास	७.००
१३. फ्रेञ्च साहित्य का इतिहास	७.००

अनूदित

१४. भाषा (लैंग्वेज)	७ ५०
१५. भारत का भाषा सर्वेक्षण, भाग १	७.००
१६. भारत का भाषा सर्वेक्षण, भाग ६ (पूर्वी हिन्दी)	४.००
१७. भारत का भाषा सर्वेक्षण, भाग ९ (पश्चिमी हिन्दी)	८.५०
१८. भारत का भाषा सर्वेक्षण, भाग ९ (पंजाबी)	८.००
१९. भाषा-विज्ञान पर भाषण, भाग १	८.००
२० भाषा-विज्ञान पर भाषण, भाग २	१२.५०
२१. भारतीय आर्य-भाषा (लाआंदा एर्रियां)	१०.५०

हिन्दी समिति

ऐतिहासिक भाषा विज्ञान : सिद्धान्त और व्यवहार

हिन्दी समिति
सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश
लखनऊ

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान : सिद्धान्त और व्यवहार

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला-संख्या—२०६

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान: सिद्धान्त और व्यवहार

लेखक
जयकुमार 'जलज'
सहायक प्राध्यापक
शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
सीहोर (म० प्र०)

हिन्दी समिति
सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश
लखनऊ

प्रथम संस्करण
१९७२

मूल्य
दस रुपये

मुद्रक
जॉब प्रिंटर्स
११९, स्वामी विवेकानन्द मार्ग
इलाहाबाद—३

प्रकाशकीय

भाषाविज्ञान के अन्तर्गत मनुष्य की अर्थपूर्ण व्यक्त ध्वनियों और उनके प्रयोगों का अध्ययन किया जाता है। दूसरे रूप में यह मानवीय बौद्धिक चेतना के विश्लेषण, तारतम्य तथा कालिक विकासक्रम का सूक्ष्म अनुशीलन है, जिसका कुछ परिचय सामाजिक इतिहास, भूगोल, नृतत्व विज्ञान से भी प्राप्त होता है। भाषा-विज्ञान के उच्च स्तरीय पठन-पाठन को वर्णनात्मक भाषाविज्ञान, तुलनात्मक भाषा-विज्ञान एवं ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया जाता है। इनमें से वर्णनात्मक भाषाविज्ञान तथा तुलनात्मक भाषाविज्ञान को तीसरी श्रेणी, ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का आधार या अनुपूरक समझा जाता है। काल के संदर्भ में एक के बाद दूसरी भाषाओं की ध्वनि, रूप, वाक्य-रचना, अर्थ और शब्दसमूह में क्या परिवर्तन होते आये हैं, उनके कारण क्या रहे हैं तथा उन परिवर्तनों के बाह्य और आन्तरिक प्रभाव कहाँ तक सक्रिय रहे हैं, इस सबका अध्ययन करते हुए ऐतिहासिक भाषाविज्ञान परिवर्तन के सिद्धान्त, नियम और प्रगति का निर्धारण करता है।

हिन्दी समिति भाषाविज्ञान के विवेचनात्मक ग्रन्थों के सर्जन एवं प्रकाशन में विशेष रुचि लेते हुए वान्द्रियेज, ग्रियर्सन, ब्लॉख, मैक्समूलर प्रभृति पाश्चात्य भाषाविदों की सुविख्यात कृतियों के हिन्दी रूपान्तर पाठकों के सम्मुख पहले ही प्रस्तुत कर चुकी है। इसी अनुक्रम में यह मौलिक ग्रन्थ "ऐतिहासिक भाषाविज्ञान : सिद्धान्त और व्यवहार" है, जिसका प्रणयन इस विषय के सूक्ष्म विवेचक एवं निष्णात अध्यापक श्री जयकुमार 'जलज' ने सम्पन्न किया है। "भाषाविज्ञान" के छात्रों के लिए यह पुस्तक विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होगी।

लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'
सचिव, हिन्दी समिति

प्राक्कथन

भारतवर्ष में ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का आरम्भिक अध्ययन यास्क, पाणिनि, कात्यायन, हेमचन्द्र आदि में उपलब्ध होता है । लेकिन वह अत्यन्त आरम्भिक और छिट-पुट रूप में है। अधिकांश प्राचीन भारतीय भाषाशास्त्रियों या वैयाकरणों का उद्देश्य भाषाओं का सांकालिक वर्णन प्रस्तुत करना रहा है । अपने वर्णन को पुष्ट करने के लिए वे कहीं-कहीं ऐतिहासक सन्दर्भ का सहारा अवश्य लेते हैं और इस प्रकार उनमें कई प्रकार की सामग्री के बीच थोड़ी-बहुत सामग्री प्राय: परवर्ती शब्दों की तुलना में रखे गये पूर्ववर्ती शब्दों के रूप में ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के अध्ययन से सम्बन्धित भी मिल जाती है। यदि कहीं अपेक्षाकृत कुछ अधिक सामग्री भी है तो वह ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के किसी एक हीं अंग से सम्बन्धित है। उदाहरण के लिए, यास्क के निरुक्त में ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का अपेक्षाकृत अधिक अध्ययन है। लेकिन वह केवल व्युत्पत्ति या अर्थविचार तक ही सीमित है। निश्चय ही प्राचीन भारत में ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का सोद्देश्य, विधिवत् और सर्वांगीण अध्ययन नहीं हुआ। अध्ययन की सुदृढ परम्परा का ऐसा अभाव वर्णनात्मक भाषाविज्ञान को नहीं झेलना पड़ा। ईसा की पाँचवीं शताब्दी पूर्व ही पाणिनि ने संस्कृत भाषा का, बिना कोई बाह्य सन्दर्भ उठाये हुए ही, सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत किया । उनके उपरान्त भी छोटे-मोटे रूप में उनकी परम्परा चलती रहीं ।

आधुनिक युग में भी भारत में ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के अध्ययन का आरम्भ (बावजूद इसके कि उसने ही संसार को इस विज्ञान के अध्ययन की मूल प्रेरणा प्रदान की) विलम्ब से हुआ। १७८६ ई० में सर विलियम जोन्स के भाषण के उपरान्त भी लगभग १०० वर्ष तक भारतवर्ष में ऐतिहासिक भाषाविज्ञान से सम्बन्धित कोई काम नहीं हुआ। बिशप काल्डवेल के ग्रन्थ का प्रकाशन अवश्य १८५६ ई० में हुआ। लेकिन उसका उद्देश्य द्राविड़ भाषाओं का ऐतिहासिक विवेचन नहीं तुलनात्मक विवेचन था। बीम्स, ट्रम्प और केलाग के ग्रन्थ १८७२ ई० के बाद ही प्रकाश में आये । उल्लेखनीय है कि सन् १८७२ ई० तक यूरोप में रैज्मस रैस्क, याकोव ग्रिम और फ्रान्त्स बॉप जैसे महान् ऐतिहासिक भाषाविज्ञानी अपना कार्य समाप्त कर चके थे और आगुस्ट

श्लाइखर द्वारा मूल भारोपीय भाषा का पुनर्निर्माण हो चुका था। किसी भारतीय मूल के विद्वान् द्वारा किया गया आधुनिक युगीन पहला कार्य सर रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर का है। उन्होंने १८७७ ई० में बम्बई विश्वविद्यालय में सात व्याख्यान दिये जिनका प्रकाशन १९१४ ई० में हुआ।

भारतीय विश्वविद्यालयों में भी भाषाविज्ञान के अध्ययन-अध्यापन का कार्य बहुत विलम्ब से आरम्भ हुआ। सबसे पहले कलकत्ता विश्वविद्यालय ने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान में प्राध्यापक का पद आरम्भ किया। लेकिन यह कार्य भी १९१४ ई० के पूर्व नहीं हो सका। लगभग आठ वर्ष बाद एक अन्य पद निर्मित हुआ और डॉ० सुनीति-कुमार चटर्जी को भारतीय भाषाशास्त्र के अध्यापन का कार्य सौंपा गया।[1] बहुत लम्बे समय तक भाषाविज्ञान को एक पूर्ण स्नातकोत्तर विषय के रूप में मान्यता ही प्राप्त नहीं हुई। उसे लन्दन विश्वविद्यालय के अनुकरण पर किसी साहित्य की स्नातकोत्तर पढ़ाई के साथ एक या आधे प्रश्नपत्र के रूप में पढ़ाया जाता था। यह परम्परा अब भी है और इसके अन्तर्गत भाषाविज्ञान के कुछ तत्वों तथा भाषा के इतिहास का सतही अध्यापन हो रहा है। भाषाविज्ञान की एक शाखा ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का स्वतंत्र विषय के रूप में अध्यापन तो एक स्वप्न मात्र है। इस प्रकार भारतवर्ष में प्राचीन पुष्ट परम्परा के अभाव, आधुनिक युगीन अध्ययन के विलम्ब से आरम्भ होने और विश्वविद्यालयों में उपेक्षाभाव के कारण ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के अध्ययन में वांछित प्रगति नहीं हो सकी। अध्यापन की समुचित व्यवस्था के अभाव में नये अध्येताओं का निर्माण भी असम्भव हो गया है। हिन्दी का ही उदाहरण लें तो धीरेन्द्र वर्मा, बाबूराम सक्सेना, किशोरीदास वाजपेयी आदि की पीढ़ी के उपरान्त ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में नये अध्येता कहाँ हैं ?

भारत में ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का अध्ययन कार्य लौकिक संस्कृत भाषा पर अत्यधिक निर्भर है। संस्कृत भाषा भारतीय आर्यभाषा के विकासक्रम की एक कड़ी मात्र है। लेकिन उसके प्रचार-प्रसार और उसके साहित्य की परम्पराओं के जीवित रहने के कारण हमारा ऐतिहासिक अध्ययन भी प्रायः उसी पर निर्भर हो गया है। अनेक अध्ययनों में म० भा० आ० भाषाओं की उपेक्षा दिखाई देती है और अध्येता लौकिक संस्कृत से सीधा हिन्दी या अन्य किसी आ० भा० आ० भाषा पर कूदता मिलता

१. Two Lectures on Linguistics—S. M. Katre, page 7.

है। अधिकांश विकासों के पीछे म० भा० आ० भाषाओं के रूप में जो कड़ी है, यदि वह लुप्त है तो हमें उसे खोज़ना होगा और यदि वह खोजी हुई है तो हमें उसका समुचित उल्लेख करना होगा।

अपनी अत्यधिक समृद्धि के कारण भारतीय अतीत का सन्दर्भ हमें सदैव भावाकुल करता है। प्राचीन भारतीय भाषा और साहित्य की चरम समृद्धि हमारी दृष्टि को प्रभावित कर लेती है और प्रायः हमारे लिए साफ देखना कठिन हो जाता है। इससे हमारे निष्कर्ष तो भ्रान्त होते ही हैं; हमारे अध्ययन वेद, लौकिक संस्कृत, यास्क, पाणिनि, कात्यायन, पंतजलि आदि के आवश्यकता से अधिक उल्लेखों से भी भर जाते हैं। नामों की इस भीड़ में तथ्यों और विश्लेषणों पर से दृष्टि हट जाती है। इसका एक प्रभाव यह भी होता है कि हमारी शैली भावप्रवण हो बैठती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की शैली किसी भी वैज्ञानिक अनुशीलन के लिए उपयोगी नहीं है।

शैली के प्रसंग में यह भी उल्लेख कर दिया जाय कि ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान के गम्भीर से गम्भीर विवेचन को भी शायद सहज ग्राह्य बनाने के लोभ में हम प्रायः अगम्भीरता और उथलेपन की परिणति तक ले जाते हैं। यह तथाकथित सहज ग्राह्यता का लोभ वांछित प्रभाव उत्पन्न करने के स्थान पर हमारे विवेचन को एक विषयान्तर ही प्रदान करता है । 'श्री वैशाखनन्दनजी भी पीछे नजर घुमाकर ....।' 'हिन्दी का घोड़ा हिनहिनाता है, पर अंग्रेजी का घोड़ा नेइंग करता है।' 'किसी आफिस में काम करने वाले को रविवार के दिन देर तक सोते रहने पर जब उसकी पत्नी 'अरे भाई उठिए' कहकर जगाती है तो उसका आशय उन महाशय से साधारण 'भाई' का सम्बन्ध जोड़ने का कभी नहीं रहता।' इस प्रकार के उथले हास्य-विनोद ऐतिहासिक भाषाविज्ञान से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों में सरलता से मिल जाते हैं । इस शैली का प्रचार सम्भवतः मैक्समूलर के कारण हुआ है ; लेकिन उनसे इसे ग्रहण करने वाले यह भूल गये कि मैक्समूलर ने मुख्यतः भाषणों में ही इसका प्रयोग किया है और उनके भाषणों में भी इससे विषयान्तर, भटकाव और उथलापन आ गया है। तथाकथित रोचकता के लिए इन सबका आयात महँगा सौदा है।

भारतवर्ष में ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के सैद्धान्तिक पक्ष पर नहीं के बराबर काम हुआ है। हिन्दी में ही इस विषय का कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं है। भाषाविज्ञान के ऐसे ग्रन्थों में जिनमें सब तरह का मसाला रहता है, ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के

सैद्धान्तिक पक्ष से सम्बन्धित कुछ सामग्री और वह भी प्रायः छिटपुट रूप में संकलित रहती है। अधिकांश कार्य व्यावहारिक पक्ष पर ही हुआ है और वह साधारणतः उद्‌भव और विकास जैसे नामों के अन्तर्गत प्रकाशित है। आवश्यकता इस बात की है कि ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों का विस्तार से विवेचन और स्पष्टीकरण किया जाय। सिद्धान्तों के विवेचन के अभाव में व्यावहारिक अध्ययन को सुनिश्चित दिशा नहीं मिल पाती और उदाहरणों को मनमाने ढंग से इस्तेमाल करके मनमाने निष्कर्ष निकालने की संभावनाएँ बढ़ जाती हैं।

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान काल के परिप्रेक्ष्य में भाषा के गत्यात्मक स्वरूप का अध्ययन करता है। इसके लिए सम्बन्धित विभिन्न कालों के साहित्य तथा संस्कृति में अध्येता की गति होनी चाहिए। अध्येता का बहुमुखी पाण्डित्य ऐतिहासिक अध्ययन के क्षेत्र में एक अनिवार्यता है। लेकिन इधर विशेषीकृत अध्ययन के कारण विशेषीकृत पाण्डित्य का जन्म हो रहा है। ऐसा पाण्डित्य वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के लिए तो ठीक है, लेकिन ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के लिए, जिसमें बाह्य सन्दर्भ आवश्यक होता है, वह सीमित उपयोग का ही है। देश में उच्चतर माध्यमिक या स्नातक शिक्षा-स्तर पर साहित्य, पुरातत्व, इतिहास, भूगोल, नृतत्व आदि के अध्ययन के प्रति एक सामान्य रुचि का निर्माण ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के अध्ययन के लिए एक प्रेरणाप्रद पृष्ठभूमि बन सकता है।

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान में पारिवारिक वर्गीकरण की विशेष चर्चा होते रहने के कारण वर्गीकरणों की ओर अध्येताओं ने आवश्यकता से अधिक ध्यान दिया है। कुछ अध्ययनों में पारिवारिकता का विश्लेषण कम और वर्गीकरणों का प्रस्तुतीकरण अधिक है। इन अध्ययनों में प्रायः रेखाएँ बनाकर भाषाओं के वर्ग-प्रवर्ग सूचित किये जाते हैं। इस प्रवृत्ति के पीछे कदाचित् यह भोला विश्वास है कि अध्येता जितना ही व्यापक वर्गीकरण प्रस्तुत करेगा उतना ही बड़ा ऐतिहासिक भाषाविज्ञानी उसे माना जायगा। वस्तुतः वर्गीकरण का अवांछनीय फैलाव हमारे ऐतिहासिक बोध को अनिवार्यतः खण्डित करता है।

अधिक बड़े भूगोल में फैली हुई दृष्टि भी केवल वर्गीकरणों को ही जन्म देती है और प्रायः इतिहास में अपनी पैठ को संकुचित कर बैठती है। अनेक परिवारों और अनेक भाषाओं को एक साथ अध्ययन के लिए समेटने में अधिक गम्भीर उपलब्धियों की आशा क्षीण हो जाती है। इसलिए उचित यह है कि एक अध्येता

एक भाषा परिवार, एक शाखा और एक भाषा के ही इतिहास-क्रम का अध्ययन करे।

स्फीत वर्गीकरणों के साथ ही कारणों तथा परिणामों की अनावश्यक संख्याएँ गिनाने की भी समस्या है। भाषाविज्ञान के हिन्दी ग्रन्थों में ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की सामग्री के अन्तर्गत अर्थ और ध्वनिपरिवर्तन के कारणों तथा परिणामों की संख्याएँ आतंकित करने वाली हैं। एक ग्रन्थ में अर्थपरिवर्तन के प्रधान कारणों की संख्या २६ दिखायी गयी है। इन्हें जिन कई भागों में बाँटा गया है यदि उन्हें और जोड़ दिया जाय तो कुल संख्या ३४ हो जाती है। अप्रधान कारण, जिनका उल्लेख अन्त में अलग से किया गया है, उक्त जोड़ में सम्मिलित नहीं हैं। प्रायः सभी ग्रन्थों ने मूलतः तारापुरवाला के ग्रन्थ से, जिसमें टकर के आधार पर कारणों का विवेचन हुआ है,[1] उक्त कारणों को लेकर उनमें अपनी ओर से मनचाहे कारण जोड़ दिये हैं। प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी टकर के विवेचन पर आधारित स्वयं तारापुरवाला का विवेचन भी अवैज्ञानिक है। कारणों तथा परिणामों की संख्यावृद्धि दिखाना चिन्ता का विषय नहीं है। लेकिन उसके पीछे स्पष्ट और सुलझा हुआ आधार तो होना चाहिए। इस आधार के अभाव में उसे आतंक पैदा करने का एक साधन ही कहा जा सकता है।

अमरीका के राकफेलर फाउण्डेशन की सहायता से सन् १९५३ ईसवी से भारत-वर्ष में अनेक स्थानों पर ग्रीष्म तथा शीतकालीन स्कूलों का आयोजन होता आ रहा है। इन स्कूलों में मुख्य रूप से वर्णनात्मक भाषाशास्त्र की अमरीकी पद्धति का प्रशिक्षण दिया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि इनके कारण देश में वर्णनात्मक भाषाविज्ञान का पर्याप्त प्रचार हुआ है। इसे ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के विकास के लिए एक शुभ और सही लक्षण माना जाना चाहिए। क्योंकि भाषाओं के मूलतः वर्णनात्मक अध्ययन के उपरान्त ही उनका ऐतिहासिक अध्ययन सम्भव होता है। लेकिन इन स्कूलों से एक हानि भी हुई है। इनमें प्रशिक्षित या इनमें प्रशिक्षित विद्वानों के द्वारा प्रशिक्षित अनेक नये अध्येताओं में वर्णनात्मक पद्धति के प्रति इतनी श्रद्धाति-शयता का जन्म हुआ है कि उनकी दृष्टि में ऐतिहासिक पद्धति उपेक्षणीय ही नहीं निन्दनीय भी बन गयी है। कुछ अध्येताओं में उक्त श्रद्धातिशयता को जन्म देने में अमरीका-यात्रा का सुअवसर पाने के लोभ का भी प्रच्छन्न और प्रमुख हाथ है। नयी पद्धति के आधार पर किसी जिले, तहसील या गाँव की संध्वनियों को एकत्र

१. Elements of Science of Language —Page 90.

करके उनके ध्वनिग्राम और रूपग्राम छाँटकर छुट्टी पा जाने वाले लेखक आज बड़े से बड़े ऐतिहासिक भाषाविज्ञानी को भी महत्व और आदर देने के लिए तैयार नहीं हैं। अन्य लेखकों ने भी इस प्रवृत्ति को लक्षित किया है।[1] होना तो यह चाहिए था कि वर्णनात्मक अध्ययन के प्रचार के साथ ऐतिहासिक अध्ययन के प्रति आदर-भावना और जिज्ञासा बढ़ती। क्योंकि किसी विषय के एक पक्ष का परिपूर्ण अध्ययन उसके अन्य पक्षों के अध्ययन के प्रति भी सहज आकर्षण उत्पन्न करता है। लेकिन शायद हर प्रचार के साथ सस्ती भावुकता का भी जन्म होता है। समय के साथ यह भावुकता समाप्त हो जाती है। यहाँ भी ऐसा होगा और हम परम्परा का आदर करने की उस स्थिति में पहुँच सकेंगे जिसमें आज वर्णनात्मक पद्धति का सबसे बड़ा प्रचारक देश अमरीका पहुँच चुका है।[2]

प्रस्तुत ग्रंथ के परिशेष ५ में दी गयी प्रमुख ग्रन्थों की अपूर्ण सूची में कुछ पुस्तकों की प्रमुखता संदिग्ध कही जा सकती है। कुछ केवल व्याकरण-ग्रन्थ ही हैं। उनके नाम वस्तुतः भारतीय आर्यभाषा के क्रमिक विकास का व्यावहारिक विवेचन करने के विशेष सन्दर्भ के कारण सम्मिलित किये गये हैं। जिन पाठकों और अध्येताओं को उक्त सन्दर्भ से कोई प्रयोजन नहीं है वे उनकी उपेक्षा कर सकते हैं।

१. रामविलास शर्मा, भाषा और समाज, १९६१, भूमिका, पृष्ठ चौदह।

२. ग्रिम के सम्बन्ध में ब्लूमफील्ड का कथन—It was Grimm's merit that by the strength of a method, he conquered for science a body of facts so vast that the generations since have worked well within the bounds he reached and scarcely ever gonebeyond.

—American Journal of Philology, 1922.

ब्लूमफील्ड के सम्बन्ध में बर्नर्ड ब्लॉक का कथन—If today our methods are in some ways better than his, if we see more clearly than he did himself certain aspects of structure that he first revealed to us, it is because we stand upon his shoulders.

—Language XXV, 92.

आरम्भ में ग्रन्थों की दो सूचियाँ बनाने का विचार था; एक ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के ग्रन्थों की और दूसरी भाषाविज्ञान के इतर ग्रन्थों की। लेकिन ऐसे ग्रन्थों की संख्या कम निकली जिन्हें शुद्ध और निर्विवाद रूप से ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के ही ग्रन्थ कहा जा सके। इसलिए आरम्भिक विचार को त्याग दिया गया। सिद्धान्त के क्षेत्र में विभाजन जितना सरल प्रतीत होता है, व्यवहार के क्षेत्र में वह उतना सरल नहीं होता। ग्रन्थों के साथ दिये गये वर्ष अधिकांशत: उनके उपलब्ध संस्करणों के प्रकाशन वर्ष हैं, वे अनिवार्यत: उनके प्रथम प्रकाशन-वर्ष ही नहीं हैं।

--जयकुमार 'जलज'

अनुक्रम

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान : स्वरूप तथा परिभाषा — १

भाषा : उत्पत्ति का प्रश्न — १६

भाषा : गठन — ३४

परिवर्तन या विकास की अनिवार्यता — ६६

ध्वनि-परिवर्तन — ८१

रूप-परिवर्तन — ११७

वाक्य-परिवर्तन — १३२

अर्थ-परिवर्तन — १४२

भाषापरिवार — १९२

भारोपीय परिवार — २१८

भारतीय आर्य भाषाएँ — २३७

परिशेष

१. आर्येतर भारतीय भाषाएँ — २९९

२. ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में भारत का मौलिक प्रदेय — ३०४

३. ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के आधुनिकयुगीन भारतीय अध्येता — ३१४

४. ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के आधुनिकयगीन विश्व-अध्येता — ३२०

५. भाषाविज्ञान : प्रमुख ग्रन्थों की अपूर्ण सूची — ३३०

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान : स्वरूप तथा परिभाषा

भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की तीन पद्धतियाँ हैं—वर्णनात्मक (Descriptive), तुलनात्मक (Comparative) और ऐतिहासिक (Diachronic या Historical)। वर्णनात्मक पद्धति की एक अन्य संज्ञा समकालिक या सांकालिक (Synchronic) भी है। इन तीन पद्धतियों को सम्भवतः कुछ अधिक महत्व देने की दृष्टि से या किन्हीं कालों में इनके विशेष महत्वपूर्ण हो उठने के कारण इन्हें वर्णनात्मक भाषाविज्ञान, तुलनात्मक भाषाविज्ञान और ऐतिहासिक भाषाविज्ञान जैसे अपेक्षाकृत स्वतंत्र और महत्वपूर्ण नाम भी दिये गये हैं।

उपर्युक्त तीन विज्ञानों में मूलभूत सत्ता वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की है। किसी भाषा में किन ध्वनिग्रामों का प्रयोग होता है, उनके प्रकार क्या हैं, उनसे रूपों की रचना कैसे होती है, रूपों को किन रूपग्रामों में विभाजित किया जा सकता है, ये रूपग्राम कितने प्रकार के हैं—बद्ध हैं या मुक्त, अर्थदर्शी हैं या सम्बन्धदर्शी, खण्ड्य हैं या अखण्ड्य, किस रूपग्राम के कितने संरूप हैं, रूपों के द्वारा वाक्य-रचना कैसे होती है, उसमें रूप किस क्रम से आते हैं और वाक्यों के प्रकार क्या हैं; इन प्रश्नों के उत्तर देना वर्णनात्मक भाषाविज्ञान का कार्य है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इनके उत्तरों में भाषा की सम्पूर्ण संरचना का वर्णन निहित है। इसलिए वर्णनात्मक भाषाविज्ञान ही संरचनात्मक भाषाविज्ञान भी है। अन्तर केवल इतना ही है कि वर्णनात्मक विशेषण में जहाँ भाषाविशेष के विभिन्न अवयवों के वर्णन का आग्रह ध्वनित है वहाँ संरचनात्मक विशेषण से इन अवयवों से निर्मित भाषाविशेष की आन्तरिक व्यवस्था के प्रति आग्रह सूचित होता है।

किसी भाषा के ध्वनिग्रामों, रूपग्रामों, वाक्यरचना-प्रणालियों आदि के वर्णन के अतिरिक्त उसकी सम्पूर्ण आन्तरिक व्यवस्था या रचना को विश्लेषित और प्रस्तुत करने के प्रति आग्रही होने के कारण संरचनात्मक (Structural) भाषाविज्ञान को वर्णनात्मक भाषाविज्ञान का ही एक विकसित रूप कह सकते हैं। जैलिग एस० हैरिस ने संरचनात्मक भाषाविज्ञान को नितान्त निरपेक्ष और विशेषीकृत रूप प्रदान किया है। वे अपने निष्कर्षों के लिए अर्थ का सर्वथा तिरस्कार करते हैं और एकमात्र वितरण को ही महत्व देते हैं।[१] वर्णनात्मक भाषाविज्ञान में भाषा के

१. Methods in Structural Linguistics—Page 3.

एक निश्चित कालखण्ड में स्थित स्वरूप का ही अध्ययन होता है; कालविस्तार में प्रवहमान उसके गत्यात्मक स्वरूप का नहीं। इसलिए वर्णनात्मक भाषाविज्ञान अनिवार्य रूप से समकालिक या सांकालिक (Synchronic) भी होता है।

स्वभावतः और साधारणतः वर्णनात्मक भाषाविज्ञान जीवित भाषाओं का ही अध्ययन करता है। क्योंकि इन्हीं में ध्वनियों के उच्चारण का वैज्ञानिक विश्लेषण सम्भव है। इसे ही भाषाविज्ञान में Superiority of ear philology over eye philology इस प्रचलित मुहावरे में प्रकट किया गया है। अमरीकी भाषा-विज्ञानियों ने ऐसी अनेक भाषाओं का अध्ययन प्रस्तुत किया है जिनमें न तो कोई साहित्य है और न जिनके भाषाभाषी शिक्षित तथा सभ्य हैं। केवल इन भाषाओं को सुनकर, इन्हें बोलने वालों से एकत्र किये गये सैकड़ों उच्चारों को विश्लेषित करके इनके अध्ययन तैयार किये गये हैं जो मृत भाषाओं के अध्ययनों की तुलना में अधिक वैज्ञानिक और प्रामाणिक हैं। वस्तुतः वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के अधिकांश विकास का श्रेय अमरीका में सम्पन्न हुए उक्त अपरिचित या अल्पपरिचित तथा साहित्य से रहित भाषाओं के अध्ययनों को ही है। फिर भी मृत भाषाओं के वर्णन करने का कार्य भी वर्णनात्मक भाषाविज्ञान ने किया है। संसार के मूर्धन्य भाषा-विज्ञानी पाणिनि जब संस्कृत भाषा का वर्णनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर रहे थे तब सम्भवतः उनकी वर्ण्य भाषा की जीवन्तता समाप्त हो चुकी थी। सर्वथा मृत भाषाओं के स्वरूप का विश्लेषण उनके साहित्यों में उपलब्ध सामग्री के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है। हाँ, यह अवश्य है कि श्रवण, परीक्षण और निष्कर्षों के पुष्टीकरण के अभाव में ऐसे विश्लेषण में वह प्रामाणिकता नहीं आने पाती जो जीवित भाषाओं के अध्ययन में होती है। कभी-कभी सम्बन्धित भाषा का समृद्ध साहित्य अध्येता की दृष्टि और संस्कार को ऐसा प्रभावित कर लेता है कि वह सही निष्कर्ष पर भी नहीं पहुँचने पाता।

वर्णनात्मक भाषाविज्ञान वस्तुपरक अध्ययन है। अध्येता द्वारा संकलित सामग्री की छँटाई (Sorting), विश्लेषण और वर्गीकरण यन्त्रवत् होता है। उसमें अनुमान और कल्पना के लिए कहीं कोई अवकाश न होने के कारण अध्येता के पूर्वाग्रह, संस्कार और सापेक्ष दृष्टि निष्कर्षों को प्रभावित नहीं कर पाते। इसीलिए प्रसिद्ध वर्णनात्मक भाषाविज्ञानी ग्लीसन का कथन है—'यदि एक भाषा पर दो भाषा-शास्त्री अलग-अलग कार्य करें तो उनके निष्कर्ष प्रायः एक से ही

होंगे।'[1] उनके निष्कर्षों में जो नगण्य से अन्तर होंगे भी, उनका कारण वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की किसी दोषपूर्णता में नहीं बल्कि सूचक द्वारा उन्हें दी गयी सामग्री के अन्तरों में निहित होगा।

किसी भाषा का विश्लेषण प्रस्तुत करने के लिए वर्णनात्मक भाषाविज्ञानी की गति वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों में होना ही पर्याप्त है। उसका इतिहास, भूगोल, साहित्य, नृविज्ञान आदि का विद्वान् होना आवश्यक नहीं। यह ठीक वैसा ही है जैसा कि शल्यचिकित्सक का केवल शल्यचिकित्सा में ही निष्णात होना पर्याप्त है। इसी प्रकार विश्लेषक को विश्लेष्य भाषा का पूर्व अभ्यास होना भी आवश्यक नहीं है। प्राय: विश्लेष्य भाषा का पूर्व अभ्यास वस्तुपरक विश्लेषण के मार्ग में, रोगी के प्रति शल्य-चिकित्सक के पूर्वानुराग की तरह बाधक बन जाता है और विश्लेषक को गलत निष्कर्षों पर पहुँचा देता है। कहना चाहिए कि वर्णनात्मक भाषाविज्ञान को अपने निष्कर्षों पर पहुँचने के क्षेत्र में एक प्रकार की स्वायत्तता प्राप्त है। अपने सिद्धान्तों की रचना और सामग्री-संकलन में उसे मानवशरीर-विज्ञान की शाखा औच्चारिक ध्वनि-विज्ञान (Articulatory Phonetics), भौतिकी की शाखा सांचारिक ध्वनिविज्ञान (Acoustic Phonetics) तथा अनेक उपकरणों, यंत्रों आदि से सहायता मिलती है। लेकिन निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए वह एकमात्र अपने ही सिद्धान्तों पर निर्भर है।

तुलनात्मक भाषाविज्ञान दो या अधिक भाषाओं की पारस्परिक तुलना का विज्ञान है। यह तुलना एक ही कालखण्ड की दो भाषाओं की हो सकती है, जैसे बुन्देली और ब्रज की तुलना की जाय, और दो कालखण्डों की दो भाषाओं की भी हो सकती है, जैसे हम प्राकृत और अपभ्रंश की तुलना करें। किन्हीं भी दो भाषाओं में तुलना तभी सम्भव है जब दोनों में कुछ समानताएँ हों या समानताएँ होने का भ्रम हो। निकटवर्ती भूगोलखण्डों की भाषाओं में पारस्परिक समानता के तत्त्व हो सकते हैं। कोई अनिवार्य नहीं, लेकिन सम्भव है कि वे किसी एक ही समान भाषा से विकसित हुई हों। यह भी सम्भव है कि हमें भूगोल के जिस बिन्दु पर दो भाषाओं में पारस्परिक समानता दीख रही है, ठीक वहीं से दूसरी और भिन्न भाषाओं का भूगोल-क्षेत्र आरम्भ होता हो और पहली के समान दीखने वाली दूसरी भाषा वस्तुत: उन्हीं भिन्न भाषाओं के वर्ग की हो। सम्भव है, उसका पहली के समान दीखना केवल

१. An Introduction to Descriptive Linguistics—Page 12.

भौगोलिक निकटता और ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक घटनाओं का परिणाम भर हो। इसका आशय यह भी हुआ कि तुलनात्मक भाषाविज्ञानी को किन्हीं भी भाषाओं की तुलना करते समय उनके बोलने वालों के इतिहास और सांस्कृतिक परम्पराओं का ज्ञान होना आवश्यक है। मध्यकालीन ईरानी भाषा के अन्तर्गत ससैनी या दक्षिण-पश्चिमी पहलवी को ध्वनियों, शब्दों और कुछेक व्याकरणात्मक विशेषताओं में सैमिटिक परिवार की भाषा अरबी के समान देखकर उसमें और अरबी में सम्बन्ध घोषित करने के पूर्व तुलनात्मक भाषाविज्ञानी को यह देखना होगा कि पहलवी में अरबी से उपर्युक्त समानताएँ कहीं भौगोलिक निकटता, अरब आक्रमणों और धर्मविजयों तथा राजनीतिक सम्बन्धों के कारण ही तो नहीं हैं? यदि वह दोनों प्रदेशों के इतिहास का अध्ययन करेगा तो उपर्युक्त दोनों भाषाओं को किसी एक ही पूर्ववर्ती भाषा से विकसित हुई कहने की जल्दबाजी से बच जाएगा। अब वह भारोपीय परिवार की किसी भाषा या भारोपीय परिवार के भारत-ईरानी उपवर्ग की ईरानी शाखा की किसी भाषा से ससैनी पहलवी की तुलना करेगा और निष्कर्ष निकाल लेगा कि ससैनी पहलवी और अरबी भाषा दो भिन्न परिवारों की भाषाएँ हैं—वे किसी एक ही पूर्ववर्ती भाषा से विकसित नहीं हुई हैं। हम कह सकते हैं कि वर्णनात्मक भाषाविज्ञान-जैसी स्वायत्तता तुलनात्मक भाषाविज्ञान में नहीं है।

भाषाओं की पारस्परिक तुलना इन बातों में होती है कि उनमें किन ध्वनिग्रामों का प्रयोग है, रूपरचना कैसी है, वाक्य के गठन की पद्धति और उसमें रूपों का क्रम क्या है। देखना होता है कि इन सब बातों में वे परस्पर कितनी समान और कितनी भिन्न हैं। इसमें जो पूर्ववर्ती कार्य है वह तो भाषाओं की संरचना का अध्ययन है। केवल परवर्ती कार्य ही तुलनात्मक भाषाविज्ञान का कार्य है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि भाषाओं की तुलना के पूर्व उनकी संरचना या आन्तरिक गठन का अध्ययन हो चुकना चाहिए। यह अध्ययन वर्णनात्मक भाषाविज्ञान करता है। उसका कार्य सम्पन्न हो चुकने के बाद ही तुलनात्मक भाषाविज्ञान का कार्य आरम्भ होता है।

तुलनात्मक भाषाविज्ञान ऐतिहासिक भाषाविज्ञान से भी घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित है। एक ही कालखण्ड की भाषाओं की पारस्परिक तुलना के स्थान पर हम क्रमिक कालखण्डों की भाषाओं की पारस्परिक तुलना करते हैं तो स्वभावतः हमारी दृष्टि ऐतिहासिक होती है। भाषा के विभिन्न अवयवों का क्रमिक विकास या परिवर्तन हमें लक्षित होता है और हमारे विवेचन में जाने-अनजाने उसकी चर्चा होती है और प्रायः यही चर्चा मुख्य बन जाती है। ऐसी स्थिति में तुलनात्मक भाषाविज्ञान के

लिए शुद्ध निजी क्षेत्र वह है जहाँ वह एक ही कालखण्ड में स्थित भाषाओं की तुलना करता है। कालखण्ड एक होता है, लेकिन भूगोलखण्ड एक से अधिक। भाषाएँ या बोलियाँ अपने-अपने भूगोलखण्डों में प्रचलित होती हैं। क्रमिक कालखण्डों की भाषाओं (शौरसेनी प्राकृत, शौरसेनी अपभ्रंश, पश्चिमी हिन्दी) की तरह वे एक ही भूगोलखण्ड में नहीं हो सकतीं। इसीलिए उनके अध्ययन को व्यतिरेकी अध्ययन भी कहा जा सकता है। इस निजी क्षेत्र के अलावा और सब जगह तुलनात्मक भाषाविज्ञान ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का सहायक या साधन भर है।

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान भाषा के गत्यात्मक स्वरूप का अध्ययन है। यहाँ भाषा को किसी कालखण्ड में स्थित मानकर उसका अध्ययन नहीं किया जाता। विभिन्न कालक्रमों में प्रवहमान और निरन्तर परिवर्तित होते हुए उसके रूप पर हमारी दृष्टि होती है। भाषा के रूप में परिवर्तन हर क्षण है। पर हर क्षण के इस परिवर्तन को पकड़ना असम्भव है। पाँच-सात वर्ष के परिवर्तन को भी हम अनुभव कर सकते हैं, संकेतित भी कर सकते हैं। पर वह भी इतना अधिक नहीं होता कि हम उसका विश्लेषण कर सकें। इसलिए ऐतिहासिक भाषाविज्ञान में भी हम भाषा के क्षण-क्षण के परिवर्तन का अध्ययन नहीं करते। भाषा के परिवर्तन की गति भी कहीं बहुत तेज और कहीं बहुत धीमी हो सकती है। पर साधारणतः ५०० वर्ष में उसका स्वरूप बहुत कुछ बदल जाता है और प्राचीन से भिन्नता दिखाने के लिए उसके लिए नयी संज्ञा का प्रयोग होने लगता है। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान इन्हीं विकासगत सोपानों का अध्ययन करता है। काल के परिप्रेक्ष्य में एक के स्थान पर आयी हुई दूसरी, दूसरी के स्थान पर आयी हुई तीसरी और इसी प्रकार एक के बाद एक आनेवाली भाषाओं की ध्वनि, रूप, वाक्य-रचना, अर्थ और शब्दसमूह में क्या परिवर्तन होते गये हैं, उन परिवर्तनों के कारण और दिशाएँ क्या हैं, जो परिवर्तन हुए हैं वे कहाँ तक स्वतः हैं और कहाँ तक बाह्य प्रभावी; इस सबका अध्ययन ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का विषय है। भाषापरिवर्तन के सामान्य सिद्धान्त, नियम और दिशाएँ क्या हैं इस पर भी वही विचार करता है। उदाहरण के लिए ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के निष्कर्ष हैं कि भाषा सदैव कठिनता से सरलता और संयोगात्मकता से वियोगात्मकता की दिशा में पहुँचने का यत्न करती है। कम से कम अभी तक ज्ञात भाषाओं का इतिहास यही है।[1]

१. It is perfectly possible for a language to change its typology in the course of its history and pass from a synthetic to an analytic structure or vice versa. The first change is more

भाषा के गत्यात्मक स्वरूप का उपर्युक्त ऐतिहासिक अध्ययन तभी सम्भव है जब कि उसके प्रत्येक कालखण्ड का स्थित्यात्मक अध्ययन हो चुका हो। यह कार्य वर्णनात्मक भाषाविज्ञान का है। यानी तुलनात्मक भाषाविज्ञान की तरह ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का कार्य भी तभी सम्भव है जब वर्णनात्मक भाषाविज्ञान अपना कार्य सम्पन्न कर चुका हो। इसी अर्थ में ऊपर यह कहा गया है कि तीनों भाषाविज्ञानों में वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की मूलभूत सत्ता है।

प्राचीन भाषाओं का रूप लिपि के माध्यम से सुरक्षित होने के कारण स्वभावतः ऐतिहासिक भाषाविज्ञान लिखित सामग्री का अत्यधिक उपयोग करता है। लेकिन भाषा के लिखित रूप की अपनी असमर्थताएँ होती हैं। उच्चरित रूप का ज्यों का त्यों प्रतिनिधि वह नहीं होता। आज लेखन और मुद्रण के इतने व्यापक प्रचलन के युग में भी रोमन और देवनागरी लिपियाँ क्रमशः अंग्रेजी और हिन्दी के परिनिष्ठित उच्चारणों को भी यथावत् कहाँ अंकित कर पाती हैं? हाफ का अंकन हाल्फ (Half) और रितु का अंकन ऋतु के रूप में होता है। मात्रा, बलाघात, सुराघात, विवृति आदि को सूचित करने के लिए भी कोई समुचित व्यवस्था नहीं है। फिर भी ऐसी ही या इनसे भी अधिक असमर्थ लिपियों में सुरक्षित भाषाओं के आधार पर ऐतिहासिक भाषाविज्ञान उनके विकास-क्रम को स्पष्ट करता है। इन कठिनाइयों में कुछ रास्ते भी वह निकाल लेता है। उदाहरण के लिए कभी-कभी वर्तनी की भूलों में उच्चरित रूप की झाँकी मिल जाती है। हिन्दी की ही अनेक शुद्ध वर्तनियों की अपेक्षा अशुद्ध वर्तनियों में उच्चारण का सही रूप विद्यमान है—

चिह्न > चिन्ह, नाच > नाँच
कवयित्री > कवियित्री, असमर्थ > अस्मर्थ
प्रशंसा > प्रसंसा, संस्कृति > संस्क्रिति, संसक्रिति
सघोष > सघोस, चन्द्रमा > चन्द्रमाँ

विभिन्न प्रदेशों में पायी जाने वाली सामग्री में वर्तनी की विभिन्न प्रकार की भूलें मिलेंगी। इनसे उन प्रदेशों में उच्चारण की भिन्नता का अनुमान भी लगाया जा सकता है। क्योंकि वर्तनी प्रायः उच्चारण का अनुगमन करती है। हिन्दी के मालवी-भाषी प्रदेश में परिनिष्ठित हिन्दी लिखते समय भी ऐ और औ के स्थान पर वर्तनी में कई बार

common than the second, at least for the language with whose history we are better acquainted--Invitaion to Linguistics--
Mario Pei, Page 98

ए और ओ का प्रयोग हो जाता है—एसे, जेसे, पेर, सेनिक, केसे, कोन, ओर (<और), दोड़ने, शोक (< शौक), सो (<सौ)।[1] वर्तनी की ये अशुद्धियाँ क्या मालवी प्रदेश के हिन्दी उच्चारण की ओर संकेत नहीं करतीं ? अन्य प्रदेशों में ठीक ऐसी ही अशुद्धियों का अभाव हो सकता है। फिर भी वर्तनी की हर भूल उच्चारण के कारण ही नहीं होती।

विवृति की जानकारी के लिए अन्य किसी साधन के अभाव में कभी-कभी कविता से सहायता मिल जाती है। उदाहरण के लिए देवनागरी लिपि में विवृति को अंकित करने के लिए कोई चिह्न नहीं है। लेकिन कविताओं से कुछ सूचनाएँ एकत्र की जा सकती हैं—

निश्चित सा करते हुए विभीषण कार्यक्रम।[2]

× × ×

काँप रहे हैं आज प्रतिध्वनि
बनकर मानो दीन विषाद।[3]

× × ×

चन्द्रिका से लिपटा घनश्याम।[4]

यहाँ प्रथम दो उदाहरणों में 'कार्यक्रम' तथा 'प्रतिध्वनि' उच्चारों में आन्तरिक विवृति नहीं है। तीसरे उदाहरण के 'घनश्याम' उच्चार में (घन + श्याम) आन्तरिक विवृति है। भविष्य में इन काव्यपंक्तियों के आधार पर प्रतिध्वनि और घनश्याम शब्द का आज का उच्चरित रूप समझा जा सकेगा। विवृति के अनंकित होने पर भी भावी अध्येता निष्कर्ष निकाल सकेगा कि प्रसाद-निराला के युग में घनश्याम शब्द के उच्चारण में आन्तरिक विवृति थी, प्रतिध्वनि शब्द के उच्चारण में वह नहीं थी। लेकिन उच्चारण के सन्दर्भ में काव्यपंक्तियों के आधार पर निकाले गये निष्कर्ष सदैव सही नहीं होते। जैसे प्रथम उदाहरण में कार्यक्रम शब्द का जो उच्चारण छन्दबद्ध

१. शासकीय महाविद्यालय, सीहोर, बी० ए० प्रथम वर्ष (१९६८-६९) के छात्रों द्वारा की गई भूलों से लिये गये उदाहरण।

२. राम की शक्तिपूजा—निराला।

३. कामायनी—प्रसाद, चिन्ता सर्ग, पृष्ठ ७।

४. वही, श्रद्धा सर्ग, पृष्ठ ४६।

है वह न तो निराला के समय था और न आज है। वह केवल छन्द के आग्रह से वैसा आबद्ध है। इस सबसे उन कठिनाइयों का अनुमान लगाया जा सकता है जिनका सामना ऐतिहासिक भाषाविज्ञानी को करना पड़ता है।

विश्लेष्य भाषाओं में परस्पर ऐतिहासिक सम्बन्ध को घोषित करने के पूर्व उनकी समानताओं को स्पष्ट करना पड़ता है। इसके लिए ऐतिहासिक भाषाविज्ञान तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग करता है। इस पद्धति का प्रयोग १७वीं शताब्दी से ही आरम्भ हो गया था। लेकिन इसका सुनिश्चित विकास, व्यापक प्रयोग और विस्तृत उपयोग १९वीं शताब्दी में हुआ। रास्क, बॉप, ग्रिम आदि ने उसी शताब्दी के आरम्भ में इसके द्वारा भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन का श्रीगणेश किया। सम्पूर्ण १९वीं शताब्दी तुलनात्मक पद्धति के प्रयोग की शताब्दी है और इसकी सर्वोत्तम उपलब्धि भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण तथा जर्मन विद्वान् श्लाइखर द्वारा मूल भारोपीय भाषा का पुनर्निर्माण है। पुनर्निर्मित रूप को सूचित करने के लिए तारक के चिह्न का आविष्कार भी श्लाइखर ने ही किया। उन्होंने मूल भारोपीय भाषा में एक कथा *Avis akvā saska (भेड़ और घोड़ा) की भी रचना की।

तुलनात्मक पद्धति में तुलनायोग्य भाषाओं की मूलभूत शब्दावली का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। यदि ध्वनि, रूप और अर्थ की दृष्टि से उनमें साम्य दिखाई देता है तो फिर इस बात की परीक्षा की जाती है कि वह साम्य संयोग मात्र है या एक-दूसरी से या दोनों के द्वारा किसी तीसरी से उधार लिया गया है। विस्तृत अध्ययन के आधार पर यह निश्चित हो चुका है कि भाषाओं में संयोगजन्य साम्य अधिक से अधिक चार प्रतिशत शब्दों में ही हो सकता है। इससे अधिक साम्य विद्यमान होने पर उक्त भाषाओं की भौगोलिक स्थिति और बोलने वालों के सांस्कृतिक, राजनीतिक इतिहास को देखते हुए उधार की सम्भावनाओं के सम्बन्ध में निर्णय किया जाता है। उधार की सम्भावनाओं के अभाव में यह मान लिया जाता है कि भाषाओं में साम्य का कारण उनके किसी एक ही पूर्ववर्ती भाषा से विकसित होने में निहित है। यह आरम्भिक कार्य निपट जाने के बाद उक्त मान्यता की अधिक गहराई से छानबीन की जाती है। अब ध्वनि, रूप-रचना, वाक्य-रचना आदि में तुलना करके समानताओं को परखा जाता है। फिर सम्बन्धित भाषाभाषियों के इतिहास, सांस्कृतिक परम्पराओं और नृतत्त्वीय अध्ययनों के आधार पर इस बात की पुष्टि की जाती है कि क्या वास्तव में कभी उनके पूर्वज एक रहे होंगे। यदि यह सारा कार्य प्रथम मान्यता की ही पुष्टि करता है तो उक्त भाषाओं को एक ही परिवार की मान लिया जाता है।

हित्ती तथा आर्मेनियन जैसी भाषाओं को उनमें अनेक भारोपीयेतर तत्वों के मिश्रण तथा परिवर्तनों के बावजूद इसी पद्धति के आधार पर भारोपीय परिवार की मानना सम्भव हुआ है।

उपर्युक्त पद्धति से परस्पर सम्बन्धित मानी गयी भाषाओं का पारस्परिक सम्बन्ध तब तक अधिक स्पष्ट नहीं होता जब तक कि उनकी पूर्ववर्ती भाषा की ध्वनियों, रूपों आदि को खोज कर उनका विकास इन सम्बन्धित भाषाओं की ध्वनियों, रूपों आदि में न दिखा दिया जाय। अनेक पूर्ववर्ती भाषाएँ ऐसी भी हैं जिनकी कोई लिखित सामग्री उपलब्ध नहीं है। ऐसी भाषाओं के रूप का अनुमान लगाने के लिए ऐतिहासिक भाषाविज्ञान पुनर्निर्माण की पद्धति का सहारा लेता है। इस पद्धति के सहारे भाषा का जो रूप प्राप्त होता है उसे उसका अनुमानसिद्ध या पुनर्निमित (Reconstructed) रूप कहते हैं। पूर्ववर्ती भाषा में लिखित सामग्री के अभाव की स्थिति में उस भाषा का पुनर्निर्माण तुलनात्मक पद्धति की अनिवार्य परिणति है। भाषा के पुनर्निर्माण से ऐतिहासिक विकास के सारे सूत्र और दिशाएँ स्पष्ट हो जाती हैं।

पुनर्निर्माण के लिए उन ज्ञात भाषाओं के रूपों को लेकर तुलना करनी पड़ती है जिन्हें हम एक ही परिवार की मानते हैं। उदाहरण के लिए, यदि हम मूल भारोपीय भाषा में होना क्रिया के वर्तमान काल अन्य-पुरुष एकवचन रूप का पुन-निर्माण करना चाहते हैं, तो हमें संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, लिथूयानी, गॉथिक आदि भाषाओं के इन्हीं रूपों को लेकर तुलना करनी पड़ेगी। जैसे—

संस्कृत	—	asti
ग्रीक	—	esti
लैटिन	—	est
लिथूयानी	—	esti
गॉथिक	—	ist

इन रूपों में मुख्य कठिनाई संस्कृत a (अ) ध्वनिग्रामों के कारण है। अन्य अनेक रूपों की तुलना करते समय ज्ञात होता है कि संस्कृत में मूल भारोपीय की ह्रस्व ऍ (e) ध्वनि अ (a) में बदल गयी है— लैटिन equus, संस्कृत अश्व। इसलिए हम मान लेंगे कि मूल भारोपीय में esti रूप रहा होगा।

एक ही परिवार की एकाधिक भाषाओं के रूपों की तुलना करते हुए किया गया पुनर्निर्माण बाह्य पुनर्निर्माण (External reconstruction) है। इसके विपरीत अन्य किसी भाषा को ध्यान में रखे बिना एक ही भाषा के रूपों के सहारे

उसके पूर्ववर्ती रूपों का पुनः निर्माण करना आन्तरिक पुनर्निर्माण (Internal reconstructicn) है। आन्तरिक पुनर्निर्माण इस मान्यता पर टिका हुआ है कि प्राचीन रूप के कुछ न कुछ चिह्न वर्तमान भाषा में किसी न किसी रूप में सुरक्षित रहते हैं। उदाहरण के लिए संस्कृत में परोक्षभूत लिट् लकार के अधिकांश रूप साधारणतः धातु के प्रथम व्यंजन की द्विरावृत्ति से युक्त होते हैं। नीचे कुछ धातुएँ और उनके सम्मुख परोक्षभूत लिट् लकार के केवल अन्य पुरुष एकवचन के रूप दिये जा रहे हैं—

पठ (पढ़ना)—पपाठ,　　दृश् (देखना)—ददर्श
नी (ले जाना)—निनाय,　　पत् (गिरना)—पपात
दा (देना)—ददौ (परस्मैपद),　ददे (आत्मनेपद)
पा (पीना)—पपौ,　　या (जाना)—ययौ
रुद् (रोना)—रुरोद,　　त्यज् (छोड़ना)—तत्याज

लेकिन यह स्थिति भू धातु के रूपों में नहीं मिलती। उनमें प्रथम व्यंजन बदला हुआ है। केवल दूसरे स्थान पर धातु का व्यंजन है—

बभूव	बभूवतु:	बभूवु:
बभूविथ	बभूवथु:	बभूव
बभूव	बभूविव	बभूविम

संस्कृत की ही अन्य धातुओं के अध्ययन से निष्कर्ष निकलता है कि अपवाद की यह स्थिति केवल वहाँ है जहाँ धातु के आरम्भ में महाप्राण व्यंजन है—

हस् (हँसना)—जहास,　　हृ (हरण करना)—जहार
धा (धारण करना)—दधौ (परस्मैपद), दधे (आत्मनेपद)
हा (छोड़ना)—जहौ,　　भञ्ज् (तोड़ना)—बभञ्ज
भुज् (रक्षा करना)—बुभोज (परस्मैपद), बुभुजे (आत्मनेपद)

इन धातुओं में भी परोक्षभूत रूप बनाने के लिए महाप्राण व्यंजन की द्विरावृत्ति होती रही होगी और रूप इस प्रकार रहे होंगे— * हहास, * हहार, * धधौ, धधे, * हहौ, * भभञ्ज, * भुभोज * भुभुजे। ये रूप पुनर्निर्मित रूप हैं जिन्हें आन्तरिक पुनर्निर्माण की पद्धति से निर्मित किया गया है। महाप्राण व्यंजन की द्विरावृत्ति, जैसी कि इनमें है, किसी समय उच्चारण के लिए सुकर नहीं रही होगी। फलस्वरूप विषमीकरण के द्वारा इन रूपों के प्रथम व्यंजन का अल्पप्राणीकरण हो गया होगा। संस्कृत में यही अल्पप्राणीकृत व्यंजन वाले रूप प्रयुक्त हो रहे हैं।

प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी सोस्युर ने आन्तरिक पुनर्निर्माण की पद्धति का भारोपीय धातुओं के लिए अत्यन्त सफलतापूर्वक प्रयोग किया था। भारोपीय धातुओं का क्रम व्यंजन + स्वर + व्यंजन का है। लेकिन कुछ धातुओं में केवल प्रथम व्यंजन ही है। सोस्युर ने उपर्युक्त पद्धति से पता लगाया कि इनमें भी दूसरा व्यंजन था। बाद में हित्ती भाषा की खोज और उसके स्वरयंत्रमुखी व्यंजनों के अध्ययन से सोस्युर की खोज की प्रामाणिकता सिद्ध हुई।

लेकिन बाह्य या आन्तरिक पुनर्निर्माण का कार्य उतना सरल नहीं है जितना इस संक्षिप्त विवेचन में प्रतीत होता है। सब प्रकार से पर्याप्त छानबीन के बाद ही किसी रूप को पुनर्निर्मित किया जाता है। पर्याप्त सामग्री के अभाव में तो गलत निष्कर्षों तक पहुँचने की सम्भावना ही अधिक रहती है। नयी खोजों से पुराने पुनर्निर्मित रूप गलत भी सिद्ध हो जाते हैं। कई बार समानताओं के भ्रम के कारण आरम्भ से ही भूल हो जाती है और जब तक उसका पता चलता है तब तक सारा पुनर्निर्माण हो चुका होता है। जो० वान्द्रियँज़ ने उचित ही कहा है कि ऐसा आवश्यक नहीं कि एक समान व्यक्ति सम्बन्धी भी हों। भाषावैज्ञानिक सम्बन्धों में भी सादृश्य से भ्रम हो सकता है।[1]

इस पद्धति में एक और भी अभाव है। अत्यन्त परिश्रमपूर्वक हम जिस रूप को पुनर्निर्मित करने तक जा पहुँचे हैं, वह उस भाषा के किस कालखण्ड, जनपद और जनवर्ग का है इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के एक साधन भाषा-कालक्रमविज्ञान (Glottochronology) के द्वारा उपर्युक्त अभाव की पूर्ति करने का यत्न किया गया है। लेकिन इससे पुनर्निर्मित रूप के केवल कालखण्ड का ही थोड़ा-बहुत निर्धारण सम्भव है। मुख्य रूप से इसका उपयोग एक परिवार की दो भाषाओं के एक-दूसरी से अलग होने के समय का निश्चय करने में किया जाता है। इस विज्ञान को विकसित करने का श्रेय मारिस स्वाडेस को है। उन्होंने १९५० ई० में इसे प्रस्तुत किया और १९५२ ई० में इसके सिद्धान्तों के आधार पर उत्तर अमरीकी इंडियनों तथा एस्किमो लोगों के भाषिक सम्बन्धों पर प्रकाश डाला। १९५३ ई० में राबर्ट बी० लीज ने दो भाषाओं के अलगाव का काल मापने के लिए इसे और अधिक स्पष्ट सैद्धान्तिक रूप प्रदान किया। ग्लीसन तथा अन्य भाषाविज्ञानियों ने भी इस क्षेत्र में कार्य किया है।

१. भाषा, पृष्ठ ३५४।

भाषा-कालक्रमविज्ञान की आधारभूत मान्यता यह है कि भाषाओं की मौलिक शब्दावली या रूपग्रामों (छोटी संख्याओं के वाचक विशेषण, सर्वनाम, शरीर के विभिन्न अंगवाची शब्द पशु, पौधों, दैवी शक्तियों और घर-गृहस्थी के वाचक शब्द) में परिवर्तन की गति बहुत कम है। १००० वर्ष में इस वर्ग के केवल १९ प्रतिशत रूपग्राम ही लुप्त होते हैं। शेष ८१ प्रतिशत सुरक्षित रहते हैं। मौलिक रूपग्रामों के लोप और सुरक्षा की यह दर सभी भाषाओं के लिए है।

इस विज्ञान और इसकी प्रतिशत सम्बन्धी मान्यता का थोड़ा-सा स्पष्टीकरण हमने भाषा-परिवार के विवेचन में किया है। इसमें सन्देह नहीं कि भाषाओं के एक-दूसरी से अलग होने के काल-निर्धारण या उनके उपसमूहों में होने का समय बताने में इसकी उपयोगिता है। इसके द्वारा तुलनात्मक भाषाविज्ञान के उन निष्कर्षों की भी परीक्षा की जा सकती है जिनमें दो या अधिक भाषाओं को एक ही परिवार की कहा जाता है। लेकिन इसके द्वारा सुझाया गया प्रतिशत का सिद्धान्त अति सामान्यीकृत है। वास्तव में अलग-अलग भाषा या अलग-अलग भौगोलिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की भाषाओं के लिए अलग-अलग प्रतिशत का निर्धारण होना चाहिए, तभी इसके निष्कर्ष अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय हो सकेंगे। फिलहाल भाषा-कालक्रमविज्ञान की प्रतिष्ठा निर्विवाद नहीं है। मेरिओ पे के अनुसार यह मूलतः अवैज्ञानिक पद्धतियों का नवीनतम प्रदर्शन मात्र है।[1]

भाषा-कालक्रमविज्ञान अपने निष्कर्षों के लिए तुलनात्मक भाषाविज्ञान पर निर्भर है। दो भाषाओं के रूपग्रामों की समुचित तुलना हो चुकने के बाद ही समान रूपग्रामों का प्रतिशत निकाला जा सकता है। ग्लीसन का कथन है कि यदि भाषाओं के २०० रूपग्रामों में तुलना की जा रही है और हम पाते हैं कि उनमें कुल १३२ या ६६ प्रतिशत रूपग्राम समान हैं, तो हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उन्हें अलग हुए एक हजार वर्ष हो चुके हैं। क्योंकि एक हजार वर्ष में अ भाषा १६२ (८१ प्रतिशत) और ब भाषा भी इतने ही रूपग्रामों को सुरक्षित रखेगी। लेकिन जिन रूपग्रामों को वे दोनों त्यागेंगी वे क्या एक से ही रूपग्राम होंगे? सम्भावना यह है कि ब भाषा अ भाषा के द्वारा सुरक्षित १६२ और त्यागे गये ३८ रूपग्रामों में से ८१ प्रतिशत सुरक्षित रखे। इस प्रकार दोनों में कुल १३२ या ६६ प्रतिशत रूपग्राम समान होने पर हम

१. Glottochronology and lexico-statistics are merely the latest manifestations of a basically unscientific methodology.
—Invitation To Linguistics. P. 119.

उक्त निष्कर्ष निकाल सकते हैं।[1] रूपग्रामों की तुलना में भूल होने पर निष्कर्ष में भी भूल हो सकती है।

इस प्रकार ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का कार्य वर्णनात्मक भाषाविज्ञान, लिखित सामग्री, तुलनात्मक पद्धति, बाह्य पुनर्निर्माण, आन्तरिक पुनर्निर्माण, भाषा-कालक्रम विज्ञान आदि पर निर्भर है। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान को इतिहास, भूगोल, नृविज्ञान (Anthropology), पुरातत्त्व (Archaeology), पुरालेखशास्त्र (Epigraphy), पुरालिपिशास्त्र (Paleography) आदि का ज्ञान होना भी आवश्यक है। काल के परिप्रेक्ष्य में भाषा के गत्यात्मक स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उसे विभिन्न भाषाओं और विभिन्न कालखण्डों में उनके बदलते हुए स्वरूप का ज्ञान होना भी अनिवार्य है। उल्लेखनीय है कि वर्णनात्मक भाषाविज्ञानी को उस भाषा का ज्ञान होना भी आवश्यक नहीं है जिसका वर्णन या विश्लेषण करने की उसकी इच्छा है। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान को वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की तरह अपने क्षेत्र में स्वायत्तता प्राप्त नहीं है। अपने निष्कर्षों की प्राप्ति के लिए ही नहीं, प्राप्त निष्कर्षों की पुष्टि के लिए भी वह अनेक विज्ञानों तथा विद्याओं पर निर्भर है। भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न भी उसके विषय-क्षेत्र में माना जाता है। सम्भवतः इन्हीं कारणों से ऐतिहासिक भाषाविज्ञान सदैव केवल महान् विद्वानों का ही विषय रहा है। विल्हैम फॉन हम्बोल्ट, रैज्मस रैस्क, याकोब् ग्रिम, फ्रान्त्स बॉप, ऑगस्त श्लाइखर आदि ऐतिहासिक भाषाविज्ञानी केवल ऐतिहासिक भाषाविज्ञानी ही नहीं थे। अन्यान्य विषयों का उनका पाण्डित्य एक स्वीकृत सत्य है।

भाषाविज्ञान के प्राचीन अध्ययनों में वर्णनात्मक, तुलनात्मक और ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के कार्यक्षेत्र का कठोर और स्पष्ट विभाजन नहीं है। प्राचीन यूनानी और भारतीय भाषाविज्ञानियों ने भाषा विशेष के गठन का वर्णन किया है। लेकिन उसकी पूर्ववर्ती भाषा भी उनकी दृष्टि में रही है। वे जाने-अनजाने एक भाषा से दूसरी भाषा के विकास तथा तुलना को स्पर्श करते गये हैं और भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी उन्होंने अनुमान लगाये हैं। इस सबके कारण उन्हें वर्णनात्मक भाषाविज्ञान तक ही सीमित नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए पाणिनि ने, जो ब्लूमफील्ड जैसे महान् भाषाविज्ञानी की दृष्टि में संसार के सबसे बड़े वर्णना-

१. An Introduction to Descriptive Linguistics. Page 343.

त्मक भाषाविज्ञानी हैं[१], केवल लौकिक संस्कृत का ही वर्णन नहीं किया, वैदिक संस्कृत से उसकी तुलना भी की और १४ प्रत्याहार सूत्रों को महेश्वर के डमरू-निनाद से उत्पन्न मानकर भाषा की दैवी उत्पत्ति की ओर संकेत भी किया। अष्टाध्यायी में उन रूपों का स्पष्ट उल्लेख है जो वैदिक संस्कृत में तो प्रचलन में थे, लेकिन लौकिक संस्कृत में जिनका प्रचलन समाप्त हो गया था। जैसे—'वा ह च च्छन्दसि'[२] (कुह = कहाँ, वैदिक भाषा में ही प्रयुक्त होता है); 'था हेतौ च च्छन्दसि'[३] (कथा = किस कारण से, वैदिक भाषा में ही प्रयुक्त होता है)। वैदिक भाषा में वैकल्पिक रूपों की अधिकता की सूचना 'बहुलं छन्दसि' कहकर दी गयी है। पूर्ववर्ती भाषा से तुलना करते समय विवेचक की दृष्टि का ऐतिहासिक विकास पर भी जा पहुँचना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार पाणिनि मुख्यतः वर्णनात्मक भाषाविज्ञान से सम्बद्ध होते हुए भी तुलनात्मक और ऐतिहासिक भाषाविज्ञान से सर्वथा असम्बद्ध नहीं हैं। कदाचित् इसी लिए कैरोल ने केवल वर्णनात्मक भाषाविज्ञान पर ही नहीं, ऐतिहासिक भाषाविज्ञान पर भी उनके ऋण को स्वीकार किया है।[४]

मध्ययुग में भी भाषा विशेष के वर्णनात्मक व्याकरणों के साथ भाषा की उत्पत्ति तथा विकास पर भी विचार होता रहा। सम्भवतः सोस्युर पहले भाषाविज्ञानी हैं जिन्होंने अपने ग्रन्थ Course de linguistique generale में, जो उनकी मृत्यु के उपरान्त १९१६ ई० में प्रकाशित हुआ, उक्त तीनों विज्ञानों या पद्धतियों की विभाजक रेखाओं को स्पष्टता प्रदान की। फिर भी, जैसा कि हम कह चुके हैं, तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का मार्ग वर्णनात्मक भाषाविज्ञान में से होकर ही है। उन्हें वर्णनात्मक भाषाविज्ञान जैसी स्वायत्तता प्राप्त नहीं है। इसलिए कम से कम उनकी ओर से सम्बन्ध-सूत्रों की अविच्छिन्नता अब भी बनी हुई है।

१. This grammar (अष्टाध्यायी) which dates some where round 350 to 250 B. C. is one of the greatest monuments of human intelligence........No other language to this day has been so perfectly described. —Language, Page 11, 1963.

२. ५–३–१३ ।

३. ५–३–२६ ।

४. Western scholars were for the first exposed to the descriptive methods of the Hindu grammarian Panini, influenced either directly or indirectly by Panini, began to produce descriptive and historical studies.

भाषाविज्ञान के अध्ययन के मुख्य विभाग ध्वनि, रूप, वाक्य, अर्थ आदि हैं। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के भी यही विभाग हैं। इन्हें प्रायः स्वतंत्र शीर्षकों के द्वारा सूचित किया जाता है, जैसे ऐतिहासिक ध्वनिविज्ञान, ऐतिहासिक रूपविज्ञान, ऐतिहासिक वाक्यविज्ञान आदि। इनका विषय-क्षेत्र ध्वनि, रूप, वाक्य आदि के क्रमिक विकास का अध्ययन करना है।

भाषा : उत्पत्ति का प्रश्न

भाषा की प्रगति की प्रथम और अन्तिम सीढ़ी की तुलना करते समय मनुष्य को उस यात्री की भाँति आश्चर्य होता है जो धीमे-धीमे बिना थकान के एक पहाड़ी की ढाल पर चढ़कर चोटी पर पहुँच जाता है और वहाँ उस चोटी से पहाड़ की खड़ी दीवार के नीचे देखता है और देखकर यह सोचता है कि मैं इस कगार के ऊपर कैसे चढ़ गया?[1] वस्तुतः लाखों वर्षों में हजारों पीढ़ियों के श्रम से अर्जित भाषा को आज मुड़कर देखते हैं तो यही अनुभूति होती है। यह सारा अर्जन मनुष्य का स्वयं का है। लेकिन यह इतना दुस्साध्य लगता है कि हम सहज ही इसका श्रेय किसी ईश्वरीय शक्ति को देने लगते हैं। भाषा की उत्पत्ति के जो अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं उनमें सबसे प्राचीन सिद्धान्त दैवी उत्पत्ति का ही है।

दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त—इसे सिद्धान्त कहने के स्थान पर सिद्धान्त के अभाव की स्थिति कहना अधिक उपयुक्त होगा। जब उत्पत्ति का कोई स्रोत समझ में नहीं आया तो दैवी उत्पत्ति कहकर सन्तोष प्राप्त कर लिया। इस प्रकार सन्तोष-प्राप्ति की चेष्टा धार्मिक पुरुषों ने ही नहीं अनेक भाषावैज्ञानिकों ने भी की है। सत्रहवीं शताब्दी में स्वीडन के एक भाषावैज्ञानिक ने यह मत प्रकट किया कि ईडन के बगीचे में ईश्वर, आदम और सर्पेण्ट ने क्रमशः स्वेडिश, डैनिश और फ्रान्सीसी भाषा का उपयोग किया था। ईसवी सन् १९३४ में आयोजित तुर्की भाषा विज्ञान-परिषद् में इस बात पर भी बहस हुई थी कि तुर्की भाषा से ही संसार की सारी भाषाएँ उत्पन्न हुई हैं और सारे शब्द तुर्की शब्द Gunes (सूर्य) से निकले हैं।[2] स्वयं मैक्समूलर तक, जिन्होंने भाषा की उत्पत्ति के सिद्धान्तों की पर्याप्त छानबीन की है, एक स्थान पर नितान्त मुग्ध भाव से लिख बैठते हैं—'हम अभी तक यह नहीं कह सकते कि भाषा क्या है? यह प्रकृति की उपज हो सकती है, यह मानवीय कला की कृति या परमात्मा की देन हो सकती है।'[3]

१. मैक्समूलर द्वारा उद्धृत डॉ० फरग्यूसन के शब्द, भाषाविज्ञान पर भाषण, पृष्ठ ३४९।

२. The Story of Language–Mario Pei, 1962, Page I8.

३. भाषाविज्ञान पर भाषण, मैक्समूलर, १९६४, पृष्ठ ३।

वेदों को अपौरुषेय मानना, संस्कृत को देववाणी कहना और पाणिनि के १४ सूत्रों का शिव के डमरू से निकला होना निरूपित करना भाषा की दैवी उत्पत्ति में ही विश्वास रखने का द्योतक है। प्रायः सभी धर्मों के अवलम्बी अपने प्रवर्तकों या धार्मिक ग्रन्थों की भाषा को ईश्वर की भाषा या आदि भाषा मानते हैं। कैथोलिक लोग अपने धार्मिक ग्रन्थ 'ओल्ड टैस्टामेण्ट' की भाषा हिब्रू को संसार की सभी भाषाओं की जननी मानते हैं। उनके अनुसार हिब्रू एक पूर्ण विकसित भाषा के रूप में आदम और हव्वा को ईश्वर द्वारा प्रदान की गई थी। फिर बाबुल की मीनार वाली घटना के कारण उसी के अनेक रूप हो गये और इस प्रकार संसार में अनेक भाषाएँ हो गयीं। अपनी इसी मान्यता के कारण एक समय अनेक हिब्रू विद्वान् संसार भर की भाषाओं से उन शब्दों को इक्ट्ठा करते फिरे थे जो संयोगवश हिब्रू शब्दों से मेल खाते थे। इससे उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया था कि वास्तव में हिब्रू ही संसार भर की भाषाओं की जननी है। बाइबिल में कहा गया है—'सर्वशक्तिमान् ईश्वर ने खेतों के प्रत्येक चौपाये को बनाया और वायु में विचरने वाले प्रत्येक पक्षी को सिरजा; और वह उनको आदम के पास लाया कि वह उन्हें देखे और उनका नामकरण करे; और आदम ने प्रत्येक जीवित प्राणी का जो नाम रखा वह उसका नाम पड़ गया।'[१] लेकिन हिब्रू को ईश्वर-प्रदत्त भाषा सिद्ध करने के उत्साह में बाइबिल के उक्त कथन की ओर कभी ध्यान ही नहीं दिया गया। डा० हेमचन्द्र जोशी ने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपने कुछ मुसलमान मित्रों के विश्वास का उल्लेख किया है—'मैं जर्मनी में तीन मुसलमान परम मित्रों के साथ एक ही डेरे में निवास करता था। वे मुझे बताते थे कि उनके धर्म के अनुसार खुदा अरबी बोलता है। इस कारण यह भी उनका पक्का विश्वास था कि मरने के बाद सभी मनुष्यों की जबान इस रूप में मुड़ जाती है कि वे खुदा के सामने इस देववाणी अरबी के अतिरिक्त और कोई बोली बोल ही नहीं सकते।'[२]

पाइथागोरस, प्लेटो तथा स्टॉइक लोगों ने भाषा को प्रकृतिप्रदत्त माना है। यह भी दैवी उत्पत्ति का ही एक रूप है।

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इन रहस्यवादी धारणाओं का परिणाम यह हुआ कि भाषा से सम्बन्धित अत्यन्त सीधे प्रश्नों के उत्तर भी रहस्यवाद की ओट में हो गये। लोगों का यह विश्वास हो गया कि भाषा को अर्जित नहीं किया जाता बल्कि मानव-सन्ततियों को वह जन्मतः प्राप्त होती है। इतिहास में इस विश्वास की परीक्षाओं

१. Genesis, 2 : 19—20.

२. **भाषाविज्ञान पर भाषण, अनुवादक की टिप्पणी, पृष्ठ ३३।**

के उदाहरण भी मिलते हैं। हेरोडोटस ने मिस्र के राजा सैमेटिक्स (Psammetichos) के, जो यह जानना चाहता था कि फ्रीजियन और मिस्री (Egyptian) जातियों में से कौन पुरानी है एक प्रयोग का वर्णन किया है। इस राजा ने दो बच्चों को उनके जन्म के बाद ही अलग रख दिया और उनके सामने कुछ भी बोलने का निषेध कर दिया। लड़के जब बड़े हुए तो उनके मुँह से 'बेकोस' शब्द निकला जो फ्रीजियन भाषा का है और जिसका अर्थ रोटी होता है। यह शब्द उसी मूल धातु से बना है जिससे अंग्रेजी का To bake (पकाना, सेकना) बना है। स्पष्टतः बच्चों के लिए इस शब्द की जानकारी असम्भव थी। बच्चों की देखरेख करने वाले किसी फ्रीजियन नौकर के मुख से सम्भवतः यह शब्द कभी उच्चरित हो गया होगा और इसे बच्चों ने सुन लिया होगा। लेकिन सैमेटिक्स ने निष्कर्ष निकाल लिया कि फ्रीजियन पुरानी जाति है।

सिसली के राजा फ्रेडरिक द्वितीय (११९४–१२५० ई०) तथा स्काटलैण्ड के राजा जेम्स चतुर्थ (१४८८–१५१३ ई०) और भारतवर्ष में अकबर बादशाह (१५५६–१६०५ ई०) ने भी इसी प्रकार के प्रयोग किये थे। अकबर का प्रयोग बहुत सफल रहा और बच्चे कुछ भी बोलने में असमर्थ रहे।

दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त धीरे-धीरे स्वतः अमान्य होता गया। लेकिन परवर्ती कालों में एक नये संस्करण के रूप में यह फिर उभरा। जिस प्रकार प्लेटो ने भाषा को ईश्वर-प्रदत्त के स्थान पर प्रकृति-प्रदत्त कहकर अपने उत्तर को वैज्ञानिकता देने की चेष्टा की थी, उसी प्रकार नये संस्करण में भाषा को मनुष्य की सूक्ष्म चेतना शक्ति या सूक्ष्म बुद्धि से उत्पन्न कहा गया है। इस सन्दर्भ में कुछ और चर्चा हम अन्त में करेंगे।

निर्णय सिद्धान्त—डैमोक्रीटस, अरस्तू तथा एपीक्यूरियन लोगों का विश्वास था कि भाषा की उत्पत्ति मनुष्यों के पारस्परिक समझौते से हुई है। इस सिद्धान्त के अनुसार जब यह देखा गया कि शरीर के विभिन्न अवयवों के संकेतों से काम नहीं चल रहा है तो मनुष्य इकट्ठे हुए और उन्होंने विभिन्न पदार्थों और क्रियाओं के लिए विभिन्न ध्वनिसंकेतों को निश्चित कर लिया।

इस सिद्धान्त के विश्वासियों ने इस बात की ओर ध्यान ही नहीं दिया कि किसी पूर्ववर्ती भाषा के अभाव में आदिम मनुष्यों की उक्त सभा किसी समझौते पर कैसे पहुँची और यदि समझौते पर पहुँचने के लिए कोई पूर्वनिर्मित भाषा थी तो एक नयी

भाषा को आविष्कृत करने की क्या आवश्यकता थी? इस बात की सम्भावना नहीं है कि उक्त सभा में विभिन्न पदार्थों और क्रियाओं को प्रदर्शित किया गया होगा और उसकी कार्यवाही सभी मौसमों में चली होगी, जिससे आँधी, पानी, धूप, लू, बिजली, बादल आदि को भी आंगिक चेष्टाओं से संकेतित करके उनके लिए ध्वनि-संकेत तय किये जा सके होंगे।

ध्वनि-अनुकरण सिद्धान्त[1]—अंग्रेजी में इसका प्रचलित नाम बौ-बौ (Bow-wow) सिद्धान्त है। मनुष्यों ने अपने आसपास के पशु पक्षियों की ध्वनियों का अनुकरण किया। फलस्वरूप कुछ शब्दों का जन्म हुआ। फिर इन्हीं शब्दों से धीरे-धीरे भाषा की उत्पत्ति हो गयी। चूँकि इस सिद्धान्त में पशु पक्षियों की ध्वनि के अनुकरण को भाषा-उत्पत्ति का मूल कहा गया है इसलिए मैक्समूलर ने कुत्ते की बोली बौ-बौ (अंग्रेजी में कुत्ते की बोली को Bow–wow कहते हैं) का नाम सम्भवतः विनोद में, इस सिद्धान्त को दे दिया। ध्वनि-अनुकरण सिद्धान्त अठारहवीं सदी के भाषावैज्ञानिकों में बहुत प्रचलित था।

जर्मन विद्वान् हेर्डर ने ध्वनि-अनुकरण सिद्धान्त का बहुत पक्ष-समर्थन किया है। भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वे जिस ढंग से अपने निष्कर्षों पर पहुँचे हैं वह देखने योग्य है—

'मनुष्य की चेतना और विचारयुक्त आत्मा प्रत्येक पदार्थ में वह चिह्न ढूँढ़ती है जिससे वह पदार्थ अन्य पदार्थों से भिन्न किया जा सकता है। मेमना मिमियाता है। यह उसका विशेष गुण है। इससे आत्मा जान जाती है कि यह उसकी विशेष पहचान है। यहाँ पर मिमियाने ने आत्मा पर सबसे अधिक प्रभाव डाला और यह अन्य सब प्रभावों से अधिक जीवित रह गया। वह मेमना फिर आत्मा के सामने आया। वह सफेद था। उसका आवरण नरम था और वह ऊन से ढँका हुआ था। आत्मा उसे छूती है। उसके रूप-रंग पर विचार करती है और ऐसा चिह्न ढूँढ़ने लगती है जिससे तुरत मेमने की पहचान हो जाय। मेमना मिमियाता है और आत्मा पहचान लेती है और मन ही मन विचार करके कहती है—'अरे, तुम तो मिमियाने वाले जानवर हो।' मिमियाने की ध्वनि मेमने को अन्य जानवरों से अलग कर

१. अनुकरण-सिद्धान्त, अनुकरणमूलकतावाद, भों-भोंवाद, शब्दानुकरणवाद, शब्दानुकरण-मूलकतावाद आदि इसी के नाम हैं। Bow–wow theory Onomotopoeic, Onomotopoetic theory, Echoic theory **आदि इसके अंग्रेजी नाम हैं।**

देने वाली निशानी बन जाती है। अब विचार कीजिए कि हमारी भाषा क्या है ? वह इसी प्रकार के शब्दों का संग्रह है।'[१]

इसमें सन्देह नहीं कि संसार की बहुत सी भाषाओं में ध्वनि-अनुकरणात्मक शब्द हैं। जैसे—कोयल पक्षी को संस्कृत में कोकिल, ग्रीक में कोकुख (Kokkykh), लैटिन में कुकुलुस् (Cuculus), अंग्रेजी में कुक्कू (Cuckoo) और हिन्दी में कोयल कहते हैं। मुर्गे के लिए संस्कृत शब्द कुक्कुट और अंग्रेजी शब्द कॉक (Cock) तथा बिल्ली के लिए चीनी शब्द मियाऊ और हिन्दी शब्द म्याऊँ भी इसी प्रकार के शब्द हैं। इनके अतिरिक्त दहाड़ना, गरजना, गुर्राना, हिनहिनाना आदि शब्द स्पष्टतः ध्वनि-अनुकरणमूलक हैं। लेकिन ऐसे सैकड़ों शब्द उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनका उनके द्वारा संकेतित जीवों की ध्वनि से कोई सम्बन्ध नहीं है। चहचहाने वाले पक्षी के लिए शब्द चहचहैया न होकर गौरैया है, बलबलाने वाला जानवर बलबलैया न कहलाकर ऊँट कहलाता है, म्याऊँ की ध्वनि करने वाले जीव का अधिक प्रचलित नाम म्याऊँ न होकर बिल्ली है और दहाड़ने वाले जानवर के नाम शेर या सिंह का दहाड़ने की ध्वनि से दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं है।

ध्वनि-अनुकरण-सिद्धान्त को पशु-पक्षियों की ध्वनि से सम्बद्ध करके निर्जीव पदार्थों, जैसे काठ, धातु आदि की ध्वनि से सम्बन्धित एक और सिद्धान्त अनुरणन-सिद्धान्त या अनुरणन-मूलकतावाद के नाम से प्रस्तुत किया जाता है। इसके अनुसार निर्जीव पदार्थों की ध्वनि का अनुकरण करने से भाषा की उत्पत्ति हुई। सजीव पदार्थों की ध्वनि के अनुकरण पर बने शब्दों की तरह निर्जीव पदार्थों के ध्वनि-अनुकरण पर बने कुछ शब्द भी भाषाओं में हैं। जैसे—सनसन, भड़भड़, चटचट, तड़तड़, थरथर, ठकठक, खड़खड़, फटफटिया, पों-पों, टपटपिया (टाइपराइटर के लिए सुझाया गया एक हिन्दी शब्द) आदि। कहना न होगा कि ध्वनि-अनुरणन सिद्धान्त ध्वनि-अनुकरण के अन्तर्गत ही है। यही स्थिति झक, जगरमगर, जगमग आदि शब्दों की भी है जिनमें ध्वनि का नहीं दृश्य का अनुकरण किया गया है।

ध्वनि या दृश्य के अनुकरण पर निर्मित शब्दों की सत्ता को भाषाओं में स्वीकार करते हुए भी यह निवेदन किया जा सकता है कि विभिन्न भाषाओं में इनकी संख्या अत्यन्त अल्प है। इन थोड़े-से शब्दों से, भाषा का विशाल ताना-बाना बुना गया होगा, यह सम्भव नहीं है। फिर इस प्रकार के जो शब्द भाषाओं में उपलब्ध

१. मैक्समूलर द्वारा उद्धृत, भाषाविज्ञान पर भाषण, पृष्ठ ३५२।

हैं वे मानव की मूलभूत आवश्यकताओं के प्रतीकार्थ न होकर साधारण कार्यों या पदार्थों के प्रतीकार्थ हैं। क्या इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि ध्वनि-अनुकरणात्मक शब्द भाषा के उत्पत्तिकाल की नहीं परवर्ती कालों की सृष्टि हैं? ऐसे शब्दों का इतिहास ढूँढ़ते हुए यस्परसन स्वयं इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। उनका कथन है—'कुछ ध्वनि-अनुकरणात्मक शब्द प्राचीन हो सकते हैं लेकिन उनका बहुत बड़ा बहुमत प्राचीन नहीं है। बहुत से कुछ शताब्दी पूर्व के और कुछ इतने पूर्व के भी नहीं हैं। इस प्रकार के शब्दों का प्रचलन आज की बोली जाने वाली भाषाओं में जितना है उतना सम्भवतः पहले नहीं था। अधिक सटीक अभिव्यक्ति के लिए ध्वनि और अर्थ को संयुक्त करने की प्रवृत्ति सर्वथा अधुनातन है।[1]

यदि हम यह मान भी लें कि आरम्भ में कुछ शब्द पशु-पक्षियों या निर्जीव पदार्थों से उत्पन्न ध्वनियों के अनुकरण पर मनुष्य ने सीखे, तो भी शेष विशाल शब्द-समूह की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमारी समस्या ज्यों की त्यों बनी रहती है। सम्भवतः इसी कारण हेर्डर ने, जिन्हें 'भाषा की उत्पत्ति' विषय पर बर्लिन एकैडमी द्वारा आयोजित निबन्ध-प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार मिला था और जिन्होंने ध्वनि-अनुकरण सिद्धान्त का भारी पक्ष-समर्थन किया था, यह सिद्धान्त त्याग दिया और वे यह मानने लगे कि भाषा किसी आश्चर्यजनक रीति से मनुष्य के पास तक पहुँची।

विस्मयबोधक शब्द सिद्धान्त[2]—अंग्रेजी में इसका प्रचलित नाम पूह्-पूह्

१. Though some echo words may be very old, the great majority are not······I have been struck by the fact of so many of them being quite recent not more than a few centuries and some not even that......there is very probability that this class of words is really more frequent in the spoken language of recent times than it was formerly.

There was in history a slow, progressive development towards more adequate expressions, in which sourd and sense are united in a marriage-union closer than was ever known to our ancestors.—Language its Nature, Development and Origin. Page 411.

२. मनोभावाभिव्यक्ति सिद्धान्त, आवेगीवाद, मनोभावाभिव्यक्तिवाद, मनोराग-व्यंजकमूलकतावाद, मनोभावाभिव्यंजकतावाद आदि इसी के अन्य नाम हैं। Pooh Pooh theory या Intergectional theory इसके अंग्रेजी नाम हैं।

(Pooh–Pooh theory) सिद्धान्त है। इसके अनुसार आदिम मनुष्य के मुख से सबसे पहले दुःख, प्रसन्नता, घृणा, विस्मय आदि के बोधक शब्द आह, ओह, धिक्, छिः, अरे, पूह आदि निकले होंगे और फिर इन्हीं शब्दों से भाषा का विकास हुआ। इन शब्दों से भाषा की उत्पत्ति मानने के कारण ही इस सिद्धान्त का नामकरण मैक्समूलर ने इन्हीं में से एक शब्द पूह् के आधार पर कर दिया। पूह् शब्द अंग्रेजी में घृणा को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होता है।

भाषाओं में ऐसे शब्दों की संख्या भी अधिक नहीं है। फिर यदि ये शब्द उक्त मनोभावों के सीधे वाहक होते तो संसार भर की भाषाओं में इन्हें एक-सा होना चाहिए था। जैसे अन्य शब्द विभिन्न पदार्थों या व्यापारों के यादृच्छिक रूप में बोधक हो गये, उसी प्रकार सम्भवतः ये शब्द भी विभिन्न भावनाओं के बोधक हो गये। अर्थात् कोई आश्चर्य नहीं यदि विस्मय और उसके बोधक शब्द में परस्पर वैसा ही सम्बन्ध हो जैसा पहाड़ या गौरैया शब्द और इनसे सूचित पदार्थ या जीवधारी में है।

अचानक मुँह से निकले हुए सम्बोधनों के आधार पर भाषा की उत्पत्ति के इस सिद्धान्त के विरुद्ध हॉर्नटूक ने एक और आधार पर आपत्ति उठायी है। वे लिखते हैं—'भाषा का साम्राज्य तब स्थापित होता है जब सम्बोधनों के राज्य का पतन होता है......हम जिन विस्मयसूचक शब्दों का स्वेच्छा से प्रयोग करते हैं वे हमारे मुँह से उसी अवस्था में निकलते हैं जब प्रेम, स्नेह या किसी विषयवासना की प्रचण्डता का हमें अकस्मात् अनुभव होता है। इस अवस्था में हम कुछ समय के लिए भाषा रहित मूक बन जाते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हमें उत्तर देने का समय कम रहता है, इसलिए केवल विस्मयसूचक शब्द ही मुँह से निकल पड़ते हैं।'[१]

इस सिद्धान्त के विरुद्ध मैक्समूलर का तर्क यह है कि ये शब्द भाववहन करने में पूर्णतः समर्थ नहीं हैं। हमें यह न भूलना चाहिए कि हूँ! टुच्! छिःछिः! धिक् धिक्! ये ऐसे शब्द हैं जिनमें शब्दों के साथ इशारे अनिच्छा से आकर उनकी उपयोगिता बढ़ा जाते हैं।[२] मैक्समूलर के कथन का स्वाभाविक निष्कर्ष यह है कि जो शब्द स्वयं असमर्थ हैं उनसे समर्थ भाषा कैसे उत्पन्न हो सकती है?

ए० एस० डायमण्ड ने ध्वनिशास्त्रीय आधार पर विस्मयबोधक शब्द-सिद्धान्त का विरोध किया है। उनका कहना है कि चिल्लाहटों या विस्मयबोधक शब्दों में उस

१. मैक्समूलर द्वारा उद्धृत, भाषाविज्ञान पर भाषण, पृष्ठ ३६१–३६२।
२. वही, पृष्ठ ३६३।

रूप में स्वर या व्यंजनों का प्रयोग ही नहीं होता जिस रूप में वे साधारणतः भाषाओं में प्रयुक्त होते हैं।[1] हम डायमण्ड के इस तर्क से सहमत न भी हों तो भी यह तो स्पष्ट है कि विस्मयबोधक शब्दों से भाषा की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि इस प्रकार के कुछ शब्द आरम्भ में रहे होंगे, लेकिन आज प्राचीन-अर्वाचीन भाषाओं में इन शब्दों के जो उदाहरण सुलभ हैं, कोई आवश्यक नहीं कि वे आदिम विस्मय-बोधक शब्दों के ही अवशिष्ट या विकसित रूप हों। इस सिद्धान्त में इतना सत्य अब भी है कि भाषा की उत्पत्ति तीव्र कष्ट या आनन्द के क्षणों में हुई। लेकिन इन क्षणों में भी जो शब्द निकले वे विस्मयबोधक ही थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

धातु सिद्धान्त[2]—इस सिद्धान्त से जर्मन प्रोफेसर हेस, डॉ० स्टाइन्थाल और विशेष रूप से मैक्समूलर का नाम सम्बन्धित है। मैक्समूलर द्वारा १८६१ ई० में रायल इन्स्टीटयूट लन्दन में दिये गये एक भाषण के कुछ अंशों को यहाँ-वहाँ से ज्यों का त्यों उद्धृत करते हुए इसे स्पष्ट किया जा सकता है—

'सभी शब्द अन्ततः अपनी प्रारम्भिक अवस्था में व्यक्तियों के मन पर पड़ी बाहर के पदार्थों की छाप और मनुष्यों के व्यक्तिगत अनुभव से प्राप्त ज्ञान के संकेत हैं और ये संकेत क्रम से सभी मनुष्यों के विचारों को व्यक्त करने के योग्य बनाये गये।'[3]

'हम भाषा की काट-छाँट करते-करते अन्त में धातुओं पर पहुँचते हैं और इन धातुओं में प्रत्येक धातु कोई व्यक्तिगत विचार नहीं, किन्तु साधारण विचार प्रकट करती है। प्रत्येक नाम या संज्ञा, यदि हम उसका पूरा-पूरा विश्लेषण करेंगे तो उसके

१. And it is not only the meaning but also the phonetic character of language that differs as the poles from cries and intergections. The latter are in articulate, these are neither consonants nor vowels in the sense in which language consists of consonants and vowels.

—The History of Origin of Languages—1960, Page 263.

२. **मैक्समूलर के इस धातु-सिद्धान्त को डिंगडाँगवाद** (Ding Dong theory) **भी कहते हैं। डिंग-डाँग का अर्थ है ध्वनि (मूल अर्थ है घंटे पर चोट की ध्वनि अर्थात् टन-टन)। किसी डंडे से यदि हम विभिन्न पदार्थों पर प्रहार करें तो विभिन्न ध्वनियाँ निकलेंगी। इसी प्रकार मनुष्य ने विभिन्न पदार्थों के सम्पर्क में आकर उच्चारण-अवयवों से इन पदार्थों के लिए विभिन्न ध्वनियाँ कीं। मैक्समूलर के अनुसार उसकी यही ध्वन्यात्मक प्रतिक्रियाएँ मूल धातुएँ बनीं।**

३. **भाषाविज्ञान पर भाषण, पृष्ठ ३६५।**

भीतर हमें क्रियावाचक धातु मिलेगी, जो बताती है कि यह नाम या संज्ञा इस विशेष विचार के कारण अपने इस रूप में बनायी गयी।'[१] जैसे 'अंग्रेजी शब्द moon (चन्द्रमस्) का क्या अर्थ है? उसका अर्थ है माप करने वाला। सूर्य का क्या अर्थ है? उसका अर्थ है सव या प्रसव करने वाला अर्थात् जन्म देने वाला। अंग्रेजी में Earth (अर्थ, भूमि) का मूल आशय जोती हुई भूमि है।'[२] संस्कृत में मनुष्य के लिए मर्त्य शब्द का प्रयोग होता है। ग्रीक में ध्वनि-परिवर्तन के कारण इसका रूप brotos (ब्रोतौस) है। लैटिन में इसका प्रतिरूप Mortalis (मोर्तालिस) और अंग्रेजी में यह शब्द Mortal बन गया है।'[३] इन शब्दों में 'वह, जो मरता है' यह साधारण विचार भरा हुआ है। 'मन् धातु का अर्थ संस्कृत में मनन करना है। इसी शब्द से संस्कृत में मनु शब्द बनाया गया, जिसका मूल अर्थ मनन करने वाला या विचारक है। फिर इसका अर्थ मनुष्य भी हो गया। बाद की संस्कृत में देखते हैं कि इस मन् धातु से कई शब्द बनाये गये, जैसे मानव, मानुष, मनुष्य आदि, जो सब मनन करने वाला अर्थ रखते हैं। गौथिक में हम man (मान्) तथा इसका दूसरा रूप Mannisks (मानिस्कास्) मनुष्य के अर्थ में पाते हैं और आधुनिक जर्मन में maun (मान्) और इसका दूसरा रूप mensch (मेन्श) पाते हैं।[४] अंग्रेजी शब्द man भी इसी मन् धातु से बना है।'

इन धातुओं से भाषा की उत्पत्ति सिद्ध करते हुए मैक्समूलर ने कहा—'चार या पाँच सौ धातुएँ, जो भाषा के भिन्न-भिन्न परिवारों में उनकी भाषाओं के आधारभूत तत्व-स्वरूप मानी गयी हैं, न तो पशु-पक्षियों की ध्वनियों की नकल पर बनी हैं और न ही विस्मयसूचक शब्दों से निकली हैं। ये ध्वनियों के कुछ मूलरूप शब्द हैं जो मनुष्यों की प्रकृति में निहित एक शक्ति द्वारा उत्पन्न किये गये हैं।'[५] फिर मैक्समूलर ने घोषणा की—'यह सिद्धान्त भाषाविज्ञान का सबसे महत्वपूर्ण आविष्कार है।'[६]

मनुष्य ने अपनी शक्ति से इन धातुओं को कैसे प्राप्त कर लिया? कैसे वह प्रत्येक पदार्थ को देखकर उसके प्रति अपनी ध्वन्यात्मक प्रतिक्रिया प्रकट करता गया

१. भाषाविज्ञान पर भाषण, पृष्ठ ३६५।
२. वही, पृष्ठ ३७५।
३. वही, पृष्ठ ३७७।
४. वही, पृष्ठ ३७७।
५. वही, पृष्ठ ३७६।
६. वही, पृष्ठ ३७८।

और यह प्रतिक्रिया धातुओं का रूप लेती गयी? इन प्रश्नों का उत्तर मैक्समूलर के भाषण में यह है—

'अफलातून की भाषा में कह सकते हैं कि इनका (धातुओं का) अस्तित्व प्रकृति या सृष्टि में ही भरा था, अर्थात् अफलातून के साथ ही हम इस विचार के साथ ही यह भी कहना चाहते हैं कि जब यह कहते हैं कि प्रकृति या सृष्टि में धातुएँ भरी थीं तो इसका अर्थ यह भी होता है कि ये धातुएँ ईश्वर द्वारा हमें दी गयीं।'[1] यह समझना कठिन है कि यदि मैक्समूलर को यही सब कहना था तो उन्होंने भाषा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का विरोध क्यों किया? धातु सिद्धान्त की परिणति यदि 'ये धातुएँ ईश्वर द्वारा हमें दी गयीं' में ही करनी थी तो मैक्समूलर को उसका इतना विद्वत्तापूर्ण समारम्भ करने की क्या आवश्यकता थी? फिर ईश्वर ने यदि चार या पाँच सौ धातुएँ बनायी थीं तो उस भले आदमी को भाषा सम्बन्धी शेष कार्य भी सम्पन्न कर देने में क्या कठिनाई थी?

मैक्समूलर के निष्कर्ष भारोपीय परिवार की भाषाओं से लिये गये धातुओं के उदाहरणों पर आधारित हैं। लेकिन संसार में भारोपीय, सैमिटिक आदि परिवार के अलावा और भी भाषा-परिवार हैं जिनमें धातुओं की स्थिति नहीं है। इन भाषा-परिवारों पर मैक्समूलर का सिद्धान्त कैसे चरितार्थ होगा?

इस सिद्धान्त में एक मूलभूत भूल भी है। शब्दों में धातुओं की खोज परवर्ती कार्य है। व्याकरण शास्त्र और भाषाविज्ञान ने कुछ भाषाओं के विश्लेषण के उपरान्त ही उनके कुछ शब्दों को उपसर्ग, धातु, प्रत्यय आदि के संयोग से गठित पाया है। ऐसी स्थिति में यह कहना कि आदि मानवों ने आरम्भ में सामान्य विचार-बोधक कुछ धातुएँ निर्मित कीं और फिर उन्हें शब्दों के रूप में विकसित होने दिया, उचित नहीं है। सम्भावना यही है कि उन्होंने वाक्यों का उच्चारण किया होगा। उनके इन उच्चरित वाक्यों के गठन का शब्दों, धातुओं और ध्वनियों में विश्लेषण बाद का—बेहद बाद का कार्य है।

मैक्समूलर ने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ध्वनि-अनुकरण तथा विस्मय-बोधक शब्दवाद का खण्डन और धातु सिद्धान्त की स्थापना करते हुए संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मन आदि अनेक भाषाओं से शब्दों और उनमें निहित धातुओं के जो प्रचुर उदाहरण दिये हैं, उनसे मात्र यही बात समझ में आती है कि उक्त भाषाएँ

१. भाषाविज्ञान पर भाषण, पृष्ठ ३७९।

किसी एक मूल की हैं—धातु-सिद्धान्त की स्थापना उनसे नहीं होती। आगे चलकर हेर्डर की तरह मैक्समूलर ने भी अपने सिद्धान्त का त्याग कर दिया।

डिंगडाँगवाद के अर्थ में नहीं लेकिन इस अर्थ में कि भाषा की उत्पत्ति कुछ गिनी-चुनी धातुओं से हुई है, धातु-सिद्धान्त बराबर प्रचलित रहा। मैक्समूलर के धातु-सिद्धान्त या डिंगडाँगवाद से यह इस अर्थ में भिन्न है कि यह मनुष्य की उस दैवी शक्ति का प्रश्न ही नहीं उठाता जिसने पदार्थों के प्रति उसमें ध्वन्यात्मक प्रतिक्रियाओं को सामान्य विचार से युक्त धातुओं के रूप में उत्पन्न किया। इसकी स्थापनाएँ, विशेष रूप से ए० एस० डायमण्ड की स्थापनाएँ, मैक्समूलर की तरह अलौकिक न होकर सर्वथा लौकिक हैं।

१८२३ ईसवी में एलैक्जैण्डर मुरे ने अपने ग्रन्थ 'द हिस्ट्री ऑव यूरोपियन लैंग्वेजेज़' में नौ एकाक्षरी धातुओं को भाषा का मूल आधार घोषित किया और कहा कि भाषा की उत्पत्ति इन्हीं नौ धातुओं से हुई है।[१] डॉक्टर स्मित्त (Dr. Schmidt) केवल एक ही धातु से पूरी भाषा की रचना मानते हैं। उनके अनुसार सारे ग्रीक शब्द ए धातु से और सारे लैटिन शब्द हि धातु से निकले हैं।[२]

ए० एस० डायमण्ड अपनी पुस्तक 'द हिस्ट्री ऑव ओरिजिन ऑव लैंग्वेज' (प्रथम प्रकाशन १९५९ ईसवी, द्वितीय संस्करण १९६० ईसवी) में भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में डॉ० मुरे के सिद्धान्त की गैर जानकारी में भी बहुत कुछ उन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचे हैं जिन पर डॉ० मुरे १८२३ में पहुँचे थे। उन्होंने प्राचीन और अर्वाचीन साहित्यों[3] तथा प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओं[४] में प्रयुक्त शब्दों (पदों) के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि प्राचीनों में जहाँ क्रियाओं की प्रयोग-संख्या अधिक है वहाँ अर्वाचीनों में क्रमशः विशेषणों तथा संज्ञाओं की प्रयोग-संख्या अधिक है। जहाँ पूर्व-पाषाण युग (Palaeolithic age) के अन्तिम दिनों में व्यक्ति लगभग पचास प्रतिशत क्रियाओं का प्रयोग करते थे वहाँ आधुनिक अंग्रेजी में यह प्रयोग दस प्रतिशत से भी कम रह गया है। ये क्रिया-शब्द या धातुएँ सभी भाषाओं में

१. **डॉ० मुरे की ये आदिम नौ धातुएं हैं**—Ag, bag, dwag, cwag, lag, mag, nag, rag **और** Swag। **ये विभिन्न क्रियाओं के लिए प्रयुक्त हुईं। जैसे**—Ag **धातु तीव्रता और तत्परता से प्रहार करने के लिए प्रयुक्त हुई होगी।**

२. Curtius, Griechische Etymologic, Page 13.

३. **अध्याय—३।**

४. **अध्याय—४।**

व्यंजन + स्वर + व्यंजन या व्यंजन + स्वर + व्यंजन + स्वर और कभी-कभी व्यंजन + स्वर से निर्मित हैं।[१] इन सादा क्रियाओं का रूप केवल यही आभास देता है कि इनका प्रयोग एक व्यक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों से सहायता की याचना, प्रार्थना, आह्वान या आदेश के लिए हुआ होगा। इन्हीं धातुओं से भाषा का जन्म हुआ।[२] कहने की आवश्यकता नहीं कि पारस्परिक सहायता के लिए आह्वान के सन्दर्भ में आदिम मनुष्यों द्वारा एकाक्षरी शब्दों का उच्चारण और उनसे भाषा की उत्पत्ति की बात असम्भाव्य स्थितियों की ओर संकेत नहीं करती।

यो–हे–हो सिद्धान्त—इसे श्रमपरिहरण-मूलकतावाद भी कहते हैं। श्रम करते समय उच्चारण-अवयवों से ध्वनि करते रहने से श्रम का परिहरण होता है। मल्लाह यो–हे–हो, धोबी हियो और अन्य अनेक श्रमिक हूँ, हो, भैया रे आदि शब्दों को उच्चरित करते हुए अपने श्रम का परिहार करते जाते हैं। यो–हे–हो सिद्धान्त के प्रवर्तक न्वायर (Noire) के अनुसार इन्हीं श्रम परिहरण-मूलक शब्दों से भाषा की उत्पत्ति हुई। उल्लेखनीय है कि भाषाओं में श्रमपरिहरण-मूलक शब्दों की उतनी भी स्वल्प भूमिका नहीं है जितनी ध्वनि-अनुकरणात्मक या विस्मयबोधक शब्दों की है।

इंगित सिद्धान्त (Gestural theory)—आरम्भ में मनुष्य ने हाथ के संकेतों से भावों की अभिव्यक्ति का कार्य लिया होगा। साधारण कार्य भी वह अपने हाथों से सम्पन्न करता था। लेकिन उसके उच्चारण-अवयव हाथ के संकेतों का अनजाने में अनुकरण करते रहे और उच्चारण-अवयवों द्वारा हाथ के संकेतों के इसी अनजाने अनुकरण से भाषा की उत्पत्ति हुई। इस रूप में इस सिद्धान्त का प्रवर्तन डार्विन ने किया था।

टा–टा सिद्धान्त (Ta–Ta theory) की मूलवर्ती मान्यताएँ भी यही हैं इसलिए डार्विन द्वारा प्रवर्तित इंगित-सिद्धान्त और टा-टा सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं है।

कुछ समय उपरान्त आइसलैण्डिक भाषा के विद्वान् अलेक्जेंडर जोहानसन ने डार्विन द्वारा संकेतित इंगित सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन किया और भाषा के विकास की चार अवस्थाओं की कल्पना की—

१. अध्याय—६–७।
२. अध्याय—८, ९, १२।

पहली अवस्था में मनुष्य अपने भावों––भय, क्रोध, दुःख आदि को भावव्यंजक ध्वनियों के द्वारा व्यक्त करता था।

दूसरी अवस्था में जीवधारियों और निर्जीव पदार्थों की ध्वनियों के अनुकरण पर शब्द निर्मित हुए।

तीसरी अवस्था में मनुष्य के उच्चारण-अवयवों ने उसके ही हाथ के संकेतों का अनजान (unconscious) अनुकरण किया। जोहानसन के अनुसार भाषा के विकास में यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवस्था है। इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने शब्दों की उच्चारण-विधि में ही नहीं बल्कि स्वर तथा व्यंजनों की उच्चारण-विधि में भी हाथ के संकेतों की अनुकरणात्मकता घोषित की। उदाहरण के लिए उन्होंने कहा कि र से आरम्भ होनेवाली धातुओं का अर्थ गति होता है। चूँकि गति का निर्देश देते समय आरम्भिक मनुष्यों का हाथ आगे की ओर दौड़ता रहा होगा और इस संकेत का जिह्वा अनजाने में अनुकरण नहीं करती रही होगी इसलिए जिह्वा के दौड़ने से र ध्वनि उत्पन्न हुई होगी।[1]

इसी प्रकार म् से आरम्भ होनेवाली धातुओं का अर्थ चुप होना होता है। चूँकि चुप होने का संकेत देने के लिए उन मनुष्यों का हाथ ठहरी हुई या बन्द होने की मुद्रा में होता रहा होगा और होठों ने अनजाने में हाथ के इन संकेतों का अनुकरण किया होगा, इसलिए होठों के बन्द होने से म् ध्वनि हुई होगी। जोहानसन का यह भी कहना है कि आदि मनुष्य ने अपने शरीर में तरह-तरह के 'कर्वज़' देखे और उच्चारण-अवयवों के द्वारा उनके अनुकरण पर १९६ मूल भावों के द्योतक शब्दों का निर्माण भी उसने आरम्भ में किया।

चौथी अवस्था में सूक्ष्म भावों के लिए भी शब्दों की उत्पत्ति हुई

उक्त अवस्थाओं में पहली और दूसरी अवस्थाएँ और कुछ नहीं क्रमशः केवल विस्मयबोधक-शब्द सिद्धान्त तथा ध्वनि-अनुकरण सिद्धान्त हैं। तीसरी अवस्था का पूर्ववर्ती अंश डार्विन द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्त तथा टा-टा सिद्धान्त का ही रूप है। लेकिन उत्तरवर्ती अंश, जिसमें ध्वनि और अर्थ में परस्पर सम्बन्ध स्थापित किया गया है

१. 'र' ध्वनि के उच्चारण में जिह्वानोक लुंठित अवस्था में वर्त्स के निकट पहुँच जाती है और फेफड़ों से आनेवाली हवा के प्रभाव से तेजी से थरथरा कर उससे टकराती है। उसकी यह क्रिया उसके दौड़ने के समान प्रतीत होती है।

तथा शरीर के 'कर्व्ज़' के अनुकरण पर शब्दों की उत्पत्ति की बात है, जोहानसन की अपनी देन है। वास्तव में यह अंश असम्भव कल्पनाओं पर निर्भर है।

संगीत सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार भाषा की उत्पत्ति आदिम मनुष्यों के संगीत से हुई। यस्पर्सन का भी कथन है कि भाषा की उत्पत्ति खेल-खेल में हुई। उच्चारण-अवयव गाने के खेल में उच्चारण करने में अभ्यस्त हुए। आरम्भ में अर्थ-विहीन अक्षर बने और फिर विशेष स्थिति में उनका प्रयोग होने पर वे अर्थ से संयुक्त हो गये।

गाने और प्रेम का निकट सम्बन्ध होने के कारण कभी-कभी इसे प्रेम सिद्धान्त (woo-woo theory) भी कहा जाता है।

सम्पर्क सिद्धान्त (Contract theory)—इस मत का प्रवर्तन मनोविज्ञान के विद्वान् जी० रेवेज़ (Revesz) ने किया। मनुष्य में आपसी सम्पर्क रखने की सहज प्रवृत्ति है। सम्पर्क के लिए एक दूसरे के प्रति इंगित या स्पर्श के माध्यम पर्याप्त समर्थ माध्यम नहीं हैं। इसलिए सम्पर्क के माध्यम के रूप में उच्चारण-अवयवों से उच्चरित ध्वनियों से धीरे-धीरे भाषा का विकास हुआ। आरम्भ में हर्ष, शोक आदि भावों की भावावेश में ध्वन्यात्मक अभिव्यक्तियाँ हुई होंगी। रेवेज़ इन ध्वनियों को सम्पर्क ध्वनि नहीं मानते। वास्तव में ये ध्वनियाँ केवल भावावेश की अभिव्यक्ति के लिए हुई होंगी, भाव के सम्प्रेषण या विनिमय के लिए नहीं। लेकिन इन्हीं ध्वनियों से शायद सम्पर्क ध्वनियाँ विकसित हुईं। प्रयोग की परम्पराओं ने इन्हें विशिष्ट अर्थों से सम्बद्ध कर दिया।

उपर्युक्त सिद्धान्तों में से अनेक को समन्वित करके उन्नीसवीं सदी के प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक स्वीट ने भी भाषा की उत्पत्ति को समझाने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि आरम्भ में भाषा इंगित (gesture) और ध्वनि-समूह दोनों पर आधारित थी। धीरे-धीरे ध्वनि-समूह के आधार पर शब्द और भाषा विकसित हुई। आरम्भ में तीन प्रकार के शब्द थे—(१) ध्वनि-अनुकरणात्मक, (२) विस्मय-बोधक या मनोभावाभिव्यंजक, (३) प्रतीकात्मक। प्रतीकात्मक शब्द वह है जो संयोगवश या किसी स्वल्प सम्बन्ध के कारण किसी अर्थ से सम्बन्धित हो गया है और इस प्रकार उसका प्रतीक बन गया है। वास्तव में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध प्रतीकात्मक ही है। इस प्रकार स्वीट के अनुसार ध्वनि-अनुकरणात्मक, विस्मयबोधक तथा प्रतीकात्मक शब्दों से भाषा का विकास हुआ।

समकालीन भाषाशास्त्री ई० एच० स्तूर्तवाँ ने भी एक महत्वपूर्ण और सर्वथा मौलिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, जिसके गुणों से सहसा इन्कार करना कठिन है। उनका कहना है कि चूँकि हमारे सारे प्रयोजन और भाव हमारे न चाहते हुए भी हमारी भावमुद्राओं और ध्वनियों से अभिव्यक्त हो जाते हैं, इसलिए भाषा के रूप में एक ऐसा माध्यम आविष्कृत किया गया जिससे हम झूठ बोल सकें और धोखा दे सकें।[1]

भाषा-उत्पत्ति के सन्दर्भ में भाषावैज्ञानिकों में इस बात पर भी पर्याप्त और रोचक बहस हुई कि पहले क्रियावाचक धातुएँ बनीं या संज्ञाएँ। एडम स्मिथ का मत है कि पहले क्रियावाचक धातुएँ बनीं, क्योंकि उस समय नामों की इतनी अधिक आवश्यकता नहीं थी। नामों से व्यक्त होने वाले पदार्थ उँगली के संकेत से बताये जा सकते थे। जैसे—जब लोगों ने देखा कि एक भेड़िया आ रहा है तो उन्होंने उँगली के इशारे से उसे बताया और चिल्लाने लगे—'आता है, आता है।' इसके विपरीत ड्यूगैल्ड स्टेवर्ट ने मत प्रकट किया कि मनुष्य द्वारा प्रथम गढ़े गये शब्द नाम (संज्ञा) थे और क्रिया का बोध नाना अंगों द्वारा संकेतों से कराया जाता था। जब लोगों ने भेड़िए को अपनी ओर आते देखा होगा तो वे 'आता है, आता है' नहीं किन्तु 'भेड़िया भेड़िया' चिल्लाये होंगे, भेड़िए के दौड़ने का काम उन्होंने कल्पना पर छोड़ दिया होगा, क्योंकि भेड़िया उनके सामने ही दौड़ा आ रहा था।[2] बहस इस बात पर भी हुई कि पहले जातिवाचक शब्द बने या व्यक्तिवाचक। ऐडम स्मिथ ने व्यक्तिवाचक शब्दों और लाइबनित्स ने जातिवाचक शब्दों का पक्ष-समर्थन किया।

विभिन्न राजाओं ने जो प्रयोग किये उनसे भी भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न का उत्तर नहीं प्राप्त हुआ। इन प्रयोगों में एक बड़ा दोष यह रहा है कि जिन स्थानों पर ये प्रयोग हुए उनमें वह परिवेश निर्मित ही नहीं किया गया जिसका सामना आदिम मनुष्य को करना पड़ा होगा। किसी निश्चित सीमित स्थान पर विकसित करते हुए ऐसे बच्चों को वे राजा वन्य प्रकृति का मुक्त विचरण, पशु-पक्षियों का सम्पर्क, भोजन-पानी की दम तोड़ने वाली चिन्ता, हिंस्र जन्तुओं का भारी आतंक, उनके माता-पिता का आतुर स्नेह और देखरेख कहाँ दे सके होंगे? न उनके सम्मुख सुरक्षा की समस्या आयी होगी और न यौनसंतुष्टि के लिए साथी ढूँढ़ने की समस्या। भाषा की उत्पत्ति निश्चिन्त, सुरक्षित और समस्याओं से मुक्त मनुष्य ने नहीं बल्कि चिन्तित, अरक्षित और समस्याओं से घिरे हुए मनुष्य ने की होगी। आहार, भय या कामभावना के क्षणों में घनी वनस्पति की ओट के कारण इंगितों की भाषा को असमर्थ पाकर आदि मनुष्य ने

१. The Story of Language--Mario Pei, 1952, Page 19.

२. डॉ० स्टीवार्ट का कृतित्व, खंड तृतीय, पृष्ठ २७।

अपने साथियों के आह्वान के लिए ध्वनि की होगी। और धीरे-धीरे ऐसी ही निरर्थक ध्वनियाँ विशिष्ट पदार्थों या परिस्थितियों के लिए रूढ़ होकर सार्थक ध्वनि-संकेतों का रूप ले बैठी होंगी।

आधुनिक भाषाओं के इतिहास के आधार पर भाषा-उत्पत्ति के प्रश्न को हल करने के सुझाव भी भाषावैज्ञानिकों की ओर से दिये गये हैं। किन्तु ये सुझाव बहुत उपयोगी नहीं हैं। इस बात की सम्भावना अधिक है कि इस मार्ग पर चलकर हम गलत निष्कर्षों पर जा पहुँचें। सम्भवतः आधुनिक भाषाओं के इतिहास को खोजते-खोजते ही यस्पर्सन जैसे भाषावैज्ञानिक भी यह निष्कर्ष निकाल बैठे कि आरम्भिक भाषा में बहुत लम्बे शब्द थे।[१] वस्तुतः मानवीय स्वरयंत्र ने पचासों वर्ष तक बहुत छोटे-छोटे शब्दों का ही उच्चारण किया होगा। ये शब्द अपने आप में वाक्य रहे होंगे। डॉ० मरे, ए० एस० डायमण्ड आदि तो इन शब्दों का एकाक्षरीहोना तक मानते हैं।

वान्द्रियैज ने उक्त सुझावों का विरोध करते हुए स्पष्ट कहा है कि हमारी ज्ञात प्राचीनतम भाषाओं में, जिन्हें हम पूर्वज भाषाएँ भी कहते हैं, भाषा की आरम्भिकता के कोई अवशेष नहीं हैं। आधुनिक भाषाओं से उनकी भिन्नता होते हुए भी वे केवल भाषा-विकास या परिवर्तन की झलक देती हैं, भाषा-उत्पत्ति की नहीं।[२] इसी प्रकार वान्द्रियैज ने असभ्य जातियों की भाषा[३] तथा बच्चों की भाषा[४] के आधार पर भी भाषा-उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष निकालने के विरुद्ध चेतावनी दी है।

१. We must imagine primitive language as consisting (chiefly atleast) of very long words.—Language its Nature, Development and Origin—Page 421, 1954.

२. Language — J. Vendryes 1959, Page 5.

३. Nor can we advance much further by the study of the language of uncivilized peoples. Sawages are not primitive peoples, although they have wrongly been called so. Some of their languages are as complex as the most complex of our own, while others possess a simplicity that our most simple languages might well envy......... If there is a difference between the languages of socalled civilized people and those of savages, it lies in the ideas expressed than in the expression itself.—**वही, पृष्ठ ६ ।**

४. We might indeed be tempted to seek it in the language of children, an equally futile attempt. Children can only teach us how an organized language is acquired.—**वही, पृष्ठ ६ ।**

भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न को सुलझाने के लिए प्रवर्तित उपर्युक्त अनेक सिद्धान्तों में से कुछ में परस्पर प्रायः नहीं के बराबर मतभेद हैं। जैसे इंगित सिद्धान्त और टा-टा सिद्धान्त। कुछ मनुष्य के आदिम परिवेश की गलत कल्पना पर निर्भर हैं। जैसे निर्णय सिद्धान्त या यो-हे-हो सिद्धान्त, और कुछ समस्या के केवल एक अंश को सुलझाकर उसे सर्वांशतः सुलझी हुई मान बैठे हैं । जैसे ध्वनि-अनुकरण सिद्धान्त। ध्वनि-अनुकरण सिद्धान्तवादी की यह मान्यता वैसी ही है जैसी अलंकारवादी की यह मान्यता कि उसने अलंकार का विवेचन करके काव्यानन्द की समस्या सुलझा ली है । । कुछ सिद्धान्त इस कारण भ्रान्त हो गये कि वे यह मानकर चले कि शब्द और अर्थ में यादृच्छिक प्रतीकात्मक सम्बन्ध नहीं बल्कि प्रत्यक्ष अटूट सम्बन्ध है । जैसे मैक्समूलर या जोहानसन के सिद्धान्त। वास्तविकता यह है कि किसी भाषा के कुछ शब्दों में अगर ऐसा कोई सम्बन्ध है भी तो वह संयोगवश है। ये विद्वान् संयोग को नियम मान बैठे और फिर इस तथाकथित नियम की सिद्धि के लिए सामग्री जुटाने तथा उसे नियम के अनुकूल ढालने में लगे रहे। भाषा को ईश्वर की या फिर सर्वोच्च बुद्धि-सम्पन्न मनुष्य की कृति मानकर भी कुछ विद्वान् निश्चिन्त होते रहे । भाषा ईश्वर-कृत है और भाषा सर्वोच्च बुद्धि-सम्पन्न मानवकृत है इन दोनों ही कथनों में कोई तात्विक अन्तर नहीं है । दोनों में ही कृतिकार सामान्य से भिन्न है और जो सामान्य से भिन्न है वह सब कुछ कर सकता है। मानव में चूँकि सर्वोच्च बुद्धि है इसलिए वह भाषा को उत्पन्न कर सका। ऐसा कथन करते समय कथनकर्ता की दृष्टि में आज का विकसित मानव है, जब कि भाषा की उत्पत्ति का सम्बन्ध आदिम मनुष्य से है। फिर क्या ठिकाना कि मनुष्य की बुद्धिमत्ता ने भाषा का आविष्कार किया या भाषा के आविष्कार ने मनुष्य को क्रमशः बुद्धिमान् बनाया।

सिद्धान्तों की इतनी बड़ी भीड़ ही यह बात स्पष्ट कर देती है कि भाषा की उत्पत्ति की समस्या भाषाविज्ञान की सबसे अधिक विवादास्पद समस्या है । भाषा-वैज्ञानिकों ने हैरान होकर इसे भाषाविज्ञानेतर समस्या भी कहा है । वर्णनात्मक भाषाशास्त्र (Linguistics) में इस विषय को विचारणीय ही नहीं माना जाता। इस पर विचार करने वाले भाषाविज्ञान (Philology) को उसमें Metalinguistics या Exolinguistics नाम दिया गया है । इन नामों से ही भाषाशास्त्र से कुछ इतर सामग्री का अर्थ निकलता है। १८६६ ईसवी में पेरिस में स्थापित भाषाविज्ञान-परिषद् (La Societe de Linguistique) के संस्थापकों ने नियम बनाकर परिषद् में भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न पर विचार करने को

निषिद्ध घोषित कर दिया।[१] वास्तव में इस प्रश्न का उत्तर नृतत्त्वशास्त्र, समाजशास्त्र, प्राणिशास्त्र और भाषाविज्ञान को मिलकर ढूँढ़ना चाहिए। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध शरीर-वैज्ञानिक वी० ई० नीगस के ग्रन्थ[२] में दिये गये तथ्यों के आधार पर डॉ० रामविलास शर्मा ने मनुष्य के स्वरयंत्र की श्रेष्ठता का उल्लेख किया है।[3] यदि वास्तव में मनुष्य का स्वरयंत्र अन्य सभी प्राणियों से अधिक विकसित है तो भाषा की उत्पत्ति में मनुष्य की शरीर-रचना की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही होगी।

१. Section 2 of the Statutes of the Soicety.

२. द कम्परेटिव अनाटोमी एंड फिजियोलॉजी ऑव द लैरिन्क्स, लन्दन १९४९।

३. मनुष्य का गल-प्रतिस्वनक (Pharyngeal resonator) उसकी अपनी विशेषता है। यह दूसरे स्तन्यों में नहीं होता। मनुष्य का घोषयंत्र गर्दन में धँसा हुआ होता है। उसका कंठपिधान कोमल तालु से पृथक् होता है। इससे मनुष्य के पास विशद गलगुहा होती है। ध्वनि करने के समय गलगुहा के आकार में काफी परिवर्तन सम्भव होता है। घोषयंत्र की इन सब विशेषताओं के कारण मनुष्य अन्य पशुओं की अपेक्षा अधिक और भिन्न कोटि की ध्वनियाँ कर सका।—भाषा और समाज, १९६१ पृष्ठ, १९।

भाषा : गठन

मनुष्य के उच्चारण अवयवों से ध्वनियों का उच्चारण होता है। ये ध्वनियाँ परस्पर निकट आकर या संयुक्त होकर रूपों का निर्माण करती हैं। रूपों से वाक्य निर्मित होते हैं और वाक्य अर्थ को वहन करते हैं। किसी भी भाषा का गठन या संरचना इन्हीं ध्वनियों, रूपों और वाक्यों से होती है। अर्थ-वहन के कार्य से सीधे सम्बन्धित होने के कारण भाषा में वाक्य की स्वाभाविक सत्ता है, जब कि रूपों तथा ध्वनियों में वाक्य का विभाजन केवल विश्लेषण का परिणाम है और फलस्वरूप एक कृत्रिम कार्य है। लेकिन वाक्य ध्वनियों और उनसे निर्मित रूपों पर निर्भर है। फिर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ध्वनियाँ और रूप, विशेषतः अर्थदर्शी रूपग्राम बहुत शीघ्रता से बदलते या विकसित होते हैं। इसलिए न केवल वर्णनात्मक भाषाविज्ञान में बल्कि ऐतिहासिक भाषाविज्ञान में भी इनकी मूलभूत विशेषताओं का अध्ययन अपेक्षित है।

उच्चारण-अवयव

प्राचीन भारत में उच्चारण-अवयव-सम्बन्धी प्रथम स्थान नाभि था। आज के विद्वान् यह स्थान फेफड़ों को मानते हैं। श्वास प्रक्रिया के अन्तर्गत फेफड़ों में नासिका या कभी-कभी मुख-विवर के मार्ग से हवा पहुँचती और इन्हीं मार्गों से बाहर निकलती रहती है। यह हवा ही जो फेफड़ों में पहुँचती है या उनसे बाहर आती है ध्वनियों के उच्चारण का आधार है।

फेफड़ों के पश्चात् छोटे-छोटे चैनल्स से जुड़ी हुई श्वास-नलिका है जो गले तक आती है और भोजन-नलिका के आगे स्थित है। हमारे जीवन के लिए भोजन-नलिका का कितना ही महत्व क्यों न हो ध्वनि-उत्पादन की दृष्टि से उसका कुछ भी महत्व नहीं है। श्वास-नलिका के ऊपर एक कोमल छोटी जिह्वा सी होती है। इसे अभिकाकल या स्वरयंत्र-मुखावरण कहते हैं। इसका कार्य भोजन-नलिका में जाने वाले खाद्य या पेय पदार्थों को श्वास-नलिका में जाने से रोकना है। इन पदार्थों के श्वास-नलिका के निकट पहुँचते ही अभिकाकल नीचे की ओर झुककर श्वास-नलिका को बन्द कर लेता है और ये पदार्थ आगे सरक कर भोजन की नली में पहुँच जाते हैं।

श्वास-नलिका में अभिकाकल से कुछ नीचे स्वर-यंत्र होता है। यह ध्वनि

उत्पन्न करने वाला प्रधान अवयव है। दुर्बल मनुष्यों के गले में जो बाहर की ओर निकला हुआ कुछ कठोर भाग, जिसे टेंटुआ कहा जाता है, दिखाई देता है, यह वही है। इस स्थान पर श्वास-नलिका कुछ मोटी होती है।

स्वरयंत्र में पतली झिल्ली के बने दो लचीले परदे होते हैं। इन्हें स्वर-तंत्रियाँ कहते हैं। ये होठों जैसी होती हैं। पुरुषों में इनकी लम्बाई ३।४ इंच और स्त्रियों में १।२ इंच होती है।

इन परदों या होठों या स्वर-तंत्रियों के मध्य का खुला हुआ मार्ग स्वरयंत्र-मुख या काकल कहलाता है। साँस लेते समय या बोलते समय हवा इसी मार्ग से आती-जाती है।

स्वरतंत्रियों को एक-दूसरी के निकट और दूर लाया ले जाया जा सकता है। यह कार्य शीघ्रतापूर्वक हो सकता है। जब कोई व्यक्ति शीघ्रतापूर्वक ऐसा नहीं कर पाता तो उसे रुक-रुककर बोलना या हकलाना पड़ता है।

स्वरतंत्रियों की एक-दूसरी की निकटता की दृष्टि से कई स्थितियाँ हो सकती हैं। वनियों के उच्चारण की दृष्टि से तीन स्थितियाँ महत्वपूर्ण हैं—

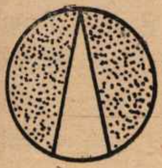

1

१. स्वरतंत्रियाँ परस्पर निकट,
अघोष ध्वनियों के उच्चारण की स्थिति।

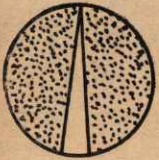

2

२. स्वरतंत्रियाँ परस्पर अधिक निकट,
सघोष ध्वनियों के उच्चारण की स्थिति।

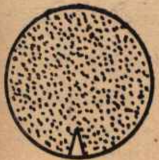

3

३. स्वरतंत्रियों का तीन-चौथाई भाग बन्द,
केवल स्वरयंत्रमुख के रूप में एक-चौथाई भाग खुला हुआ, फुसफुसाहट के रूप में ध्वनियों के निकलने की स्थिति।

श्वास लेने में स्वरतंत्रियाँ परस्पर अधिक दूर रहती हैं। प्रश्वास में यह दूरी कुछ कम हो जाती है। अघोष ध्वनियों के उच्चारण में यह दूरी कुछ और कम हो जाती है। फिर सघोष और फुसफुसाहट की ध्वनियों के उच्चारण में क्रमशः और कम होती जाती है।

संसार की किसी भी भाषा की कोई भी ध्वनि ऐसी नहीं है जिसके निर्माण में स्वरतंत्रियों का कुछ न कुछ हाथ न हो। जिन भाषाओं में फेफड़ों से ही आने वाली हवा से ध्वनियों के उच्चारण में सहायता मिलती है उनमें हवा को सर्वप्रथम इसी स्थान पर बाधा सहन करनी पड़ती है। सघोष ध्वनियों के उच्चारण में यह बाधा अधिक होती है, अघोष ध्वनियों के उच्चारण में अत्यन्त मामूली। इतनी मामूली कि इसका उल्लेख भी प्रायः नहीं किया जाता।

स्वरतंत्रियाँ ही नहीं समूचा स्वरयंत्र भी ध्वनियों के निर्माण में सहायता पहुँचाता है। अफ्रीका की कुछ भाषाओं में पाये जाने वाले अन्तःस्फोटात्मक व्यंजनों के उच्चारण में स्वरयंत्र कुछ नीचे को होकर सहायक बनता है।

स्वरतंत्रियों के ऊपर इन्हीं जैसी दूसरी स्वरतंत्रियाँ होती हैं। इन्हें मिथ्या स्वरतंत्रियाँ कहते हैं। ये असली स्वरतंत्रियों से कुछ छोटी होती हैं। कभी-कभी असली स्वरतंत्रियों के कुछ दूर-दूर रहने पर भी मिथ्या स्वरतंत्रियाँ परस्पर निकट आकर फेफड़ों से आयी हुई हवा का मार्ग सँकरा करके फुसफुसाहट वाली ध्वनियाँ उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार फुसफुसाहट वाली ध्वनियों का उच्चारण दो प्रकार से सम्भव है—स्वरतंत्रियों के द्वारा और मिथ्या स्वरतंत्रियों के द्वारा।

स्वरयंत्र-मुखावरण के पश्चात् और मुख-विवर तथा नासिका-विवर के पूर्व गलबिल (Pharynx) का भाग होता है। उसकी पिछली भीत को गलबिल-भित्ति (Pharynx wall) कहते हैं। गलबिल का उपयोग भारतीय ध्वनियों के उच्चारण में नहीं होता।

गलबिल के पश्चात् मुख-विवर और नासिका-विवर आरम्भ होते हैं। जिस स्थान से इन दोनों विवरों को रास्ते फूटते हैं वहीं ऊपर की ओर एक छोटी सी जिह्वा-सी होती है, इसे अलिजिह्व या कौआ कहते हैं। इसे दर्पण में देखा जा सकता है और प्रायः हम सभी इससे परिचित होते हैं। इसे कोमल तालु का एक अधिक गतिशील और उभरा हुआ अंग कहा जा सकता है। कोमल तालु सहित अलिजिह्व की तीन स्थितियाँ हो सकती हैं—

(१) शिथिल रूप में नीचे की ओर गिरा होना। यह इसकी स्वाभाविक और साधारण स्थिति है। इसके गिरे रहने से नासिका-मार्ग खुला रहता है और उससे श्वास आता-जाता रहता है। मुँह को खोले बिना ही जब हम हामी भरने की ध्वनि 'हैं' या 'हूँ' रूप में करते हैं तब हमारा अलिजिह्व इसी स्थिति में होता है।

(२) तनकर नासिका-मार्ग को बन्द कर देना। निरनुनासिक ध्वनियों का उच्चारण इसी स्थिति में होता है। अलिजिह्व को इस स्थिति में पहुँचाने के लिए

उच्चारण-अवयव

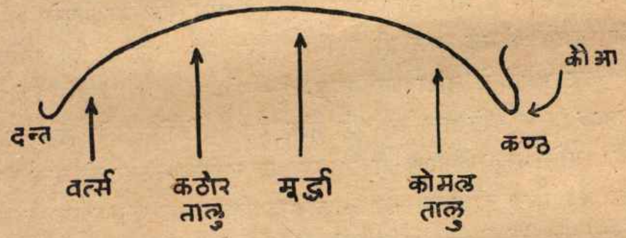

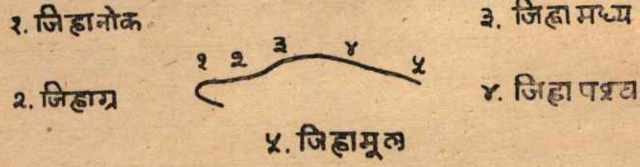

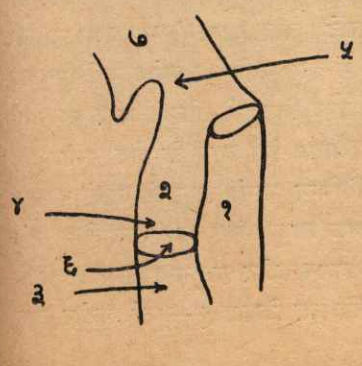

१. भोजन-नलिका (Gullet)
२. श्वास-नलिका (Windpipe)
३. स्वरयंत्र (ध्वनियंत्र, Larynx)
४. स्वरयंत्र-मुख (काकल, Glottis)
५. स्वरयंत्र-मुखावरण (अभिकाकल, Epiglottis)
६. स्वरतंत्री (Vocal cords)
७. कण्ठ (उपालिजिह्व, गलबिल, Pharynx)

हमें बल लगाना पड़ता है। जो व्यक्ति लम्बी बीमारी के बाद उठते हैं वे ऐसा नहीं कर पाते। फलस्वरूप उनकी निरनुनासिक ध्वनियाँ भी अनुनासिक रूप में उच्चरित होती हैं। 'वे नाक के सुर में बोलते हैं।'

(३) तीसरी स्थिति उपर्युक्त दो के मध्य की है। इसमें हवा मुख और नासिका दोनों विवरों से निकलती है। अनुनासिक ध्वनियों का उच्चारण इसी दशा में होता है।

अलिजिह्व के पश्चात् मुख-विवर में ऊपर की ओर तालु, ऊपर के दाँत और ऊपर का होठ तथा नीचे की ओर जिह्वा, नीचे के दाँत और नीचे का होठ होता है। ऊपर की ओर स्थित ये सारे उच्चारण-अवयव निष्क्रिय कहे जा सकते हैं, ये गतिमान् नहीं होते। इनमें कोमल तालु ही अपवाद कहा जा सकता है। सुविधा के लिए तालु को चार भागों में बाँटा जा सकता है—कोमल तालु, मूर्द्धा, कठोर तालु और वर्त्स। कोमल तालु गतिशील अंश है और यह अलिजिह्व के साथ ऊपर-नीचे हो सकता है। अलिजिह्व के साथ ही उठकर यह नासिका-विवर को बन्द करने में सहायक होता है। जिन व्यक्तियों का अलिजिह्व किसी कारण-वश टूट जाता है उनमें कोमल तालु ही अलिजिह्व का सम्पूर्ण कार्य करने का प्रयत्न करता है। इसीलिए खण्डित अलिजिह्व वाले व्यक्ति भी पूर्ण अलिजिह्व वाले व्यक्तियों के समान ही उच्चारण करते दिखाई देते हैं। फिर भी खण्डित अलिजिह्व वाले व्यक्तियों का उच्चारण सहज और सुविधापूर्ण नहीं होता। सोते समय कोमल तालु ढीला पड़ा रहता है और इस पर हमारा नियंत्रण नहीं होता। फलस्वरूप साँस लेते समय यह फड़कता है और खर्राटे की आवाज सुनाई देती है। जो व्यक्ति अधिक खर्राटे लेता है वह अधिक गहरी नींद में सोया हुआ माना जाता है। यह मान्यता सच ही है क्योंकि अधिक गहरी नींद में सोये व्यक्ति का कोमल तालु पर कम नियंत्रण रह जाता है। हलकी नींद में हम जागरण के अधिक निकट होते हैं और कोमल तालु पर हमारा अधिक नियंत्रण होता है। ध्वनिशास्त्र में खर्राटे की आवाज एक प्रकार की लुंठित ध्वनि मानी जाती है। भारतीय भाषाओं में इस ध्वनि का प्रयोग नहीं मिलता। कोमल तालव्य ध्वनियों के उच्चारण में कोमल तालु जिह्वा के पिछले भाग का स्पर्श ग्रहण करने के लिए कुछ नीचे की ओर झुक आता है। तालु के शेष सभी भाग अपने स्थान पर स्थिर रहते हैं और जिह्वा के विभिन्न भागों का उनसे स्पर्श कराकर विभिन्न ध्वनियाँ उच्चरित की जाती हैं। कोमल तालु मांस का बना होता है। उसके बाद का प्रदेश सख्त हड्डी से बना होने के कारण कठोर मालूम पड़ता है। हड्डी से बने हुए इस अंश को हमने ऊपर तीन भागों में विभक्त किया है—मूर्द्धा, कठोर तालु

और वर्त्स। बनावट की दृष्टि से मूर्द्धा और कठोर तालु में कोई अन्तर नहीं है। उनमें केवल स्थान का ही भेद है। कोमल तालु के पश्चात् पहले मूर्द्धा का प्रदेश है और फिर कठोर तालु का। वर्त्स प्रदेश कुछ अधिक उभरा हुआ और अत्यन्त विषम होता है। इसके उभार और विषमता को इस पर अँगुली फिरा कर अनुभव किया जा सकता है। यह ऊपर के दाँतों के मूल तक फैला हुआ होता है।

तालु के नीचे जिह्वा स्थित है। यह गतिशील उच्चारण-अवयव है। उच्चारण में इसका भारी महत्व एक इसी बात से समझा जा सकता है कि विभिन्न भाषाओं में इसके पर्याय भाषा के पर्याय हैं। फ़ारसी शब्द ज़बान का अर्थ जिह्वा के साथ-साथ भाषा भी है। लैटिन भाषा में भी Lingua शब्द की यही स्थिति है। भाषाविज्ञान के क्षेत्र में व्यवहृत Language, Linguistics आदि शब्द जिह्वा के फ्रांन्सीसी पर्याय Langue और लैटिन के Lingua से सम्बन्ध रखते हैं। जिह्वा होठों से लेकर मूर्द्धा के अन्त तक के प्रत्येक स्थान का स्वयं स्पर्श कर सकती है। कोमल और लचकदार होने के कारण यह सहज ही आगे-पीछे, ऊपर-नीचे और इधर-उधर हट सकती है। इसके अतिरिक्त वह लुंठित (Rolled) अवस्था में भी हो सकती है और उसके दोनों पार्श्व ऊपर की ओर उठकर फेफड़ों से आयी हुई हवा को बाहर निकलने दे सकते हैं। जिह्वा को जिह्वामूल, जिह्वापश्च और मध्य, अग्र तथा जिह्वा-नोक आदि भागों में बाँटा जा सकता है। इसके और भी भाग किये जा सकते हैं।

ऊपर और नीचे के दाँत भी ध्वनि-उच्चारण में सहायक होते हैं। संसार की अधिकांश भाषाओं में ऊपर के दाँत ही ध्वनि उत्पत्ति की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। जैसा कि कहा जा चुका है, दाँत भी निष्क्रिय उच्चारण-अवयव हैं। नीचे की दंतपंक्ति को हम भले ही आगे-पीछे हटा सकें, लेकिन ऊपर की दंतपंक्ति स्थिर रहती है। ध्वनिशास्त्र में दाँत शब्द का आशय ऊपर की दंतपंक्ति से और उसमें भी सामने वाले दाँतों से होता है। ये जिह्वा की नोक या नीचे के होठ के साथ मिलकर ध्वनि उत्पन्न करने में सहायता पहुँचाते हैं। दाँतों के दो भाग किये जा सकते हैं। ऊपर के भाग को अग्र और नीचे के भाग को दन्तमूल कहा जा सकता है।

उच्चारण-अवयवों में सबसे अधिक स्पष्ट अवयव होठ हैं। इन्हें सक्रिय अवयव कहा जा सकता है। ये पूर्णतया उन्मुक्त रहकर भी ध्वनि के उच्चारण में सहायक हो सकते हैं; जैसे हिन्दी 'आ' के उच्चारण में। दोनों होठ परस्पर मिल-कर और फिर खुलकर 'प्', 'फ्' इत्यादि ओष्ठ्य ध्वनियों का उच्चारण कर सकते

हैं। नीचे का होठ ऊपर के दाँत के निकट पहुँचकर फ्, ब् आदि ध्वनियों का उच्चारण करता है। विभिन्न स्वरों के उच्चारण में दोनों होठ गोलाई की दृष्टि से विभिन्न आकार ग्रहण कर सकते हैं।

इस प्रकार मनुष्य के उच्चारण-अवयव विभिन्न स्थानों, प्रयत्नों और मुद्राओं के सहारे अनन्त ध्वनियों का उच्चारण करने में समर्थ हो सकते हैं। लेकिन मनुष्य के कान इतने शक्तिशाली नहीं हैं कि वे अनन्त ध्वनियों के अन्तर को पकड़ सकें। वे केवल उन्हीं ध्वनियों में भेद कर सकते हैं जिनमें पर्याप्त अन्तर हो। उदाहरण के लिए मूर्द्धा और वर्त्स के बीच के प्रदेश के विभिन्न भागों का स्पर्श करके मनुष्य की जिह्वा विभिन्न ध्वनियों का उच्चारण कर सकती है। मूर्द्धा से वर्त्स तक का प्रदेश काफी विस्तृत भी है। लेकिन हमारे कान प्राय: तीन ही प्रकार की ध्वनियों के अन्तर को पकड़ने के अभ्यस्त हैं—मूर्द्धन्य, कठोर तालव्य और वर्त्स्य। डैनियल जोन्स के अनुसार एक अभ्यस्त या विशेषज्ञ कान लगभग पचास स्वरों को पकड़ सकता है, जिनमें अनुनासिक आदि कुछ अन्य प्रकार सम्मिलित नहीं हैं।[१] किन्तु पचास की यह संख्या उस अनन्त स्वर-संख्या का एक अंश मात्र है, जिसे उच्चारण-अवयवों की सहायता से उच्चारित किया जा सकता है।

ध्वनि

किसी एक भाषा की ध्वनियों का अध्ययन प्राचीन है लेकिन ध्वनि मात्र का अध्ययन आधुनिक कहा जा सकता है। हमारे देश में ही संस्कृत-काल में संस्कृत भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों का अध्ययन और वर्गीकरण मिलता है, किन्तु इस अध्ययन में अध्येता की दृष्टि एक भाषा की ध्वनियों तक ही सीमित है। आधुनिक ध्वनि-वैज्ञानिक का दृष्टिकोण किसी एक भाषा की अपेक्षा भाषा मात्र की ध्वनि को ग्रहण करने का है। इस प्रकार आधुनिक दृष्टिकोण ध्वनि के क्षेत्र में मूलभूत सिद्धान्तों को अधिक उठाता है।

भाषा का स्वाभाविक अंग भले ही वाक्य हो, किन्तु ध्वनि का अपना महत्व है। ध्वनि के अभाव में अर्थ, रूप, वाक्य आदि सभी अस्तित्वहीन हो जाते हैं। ध्वनि का भी लिखित रूप या प्रतीक की अपेक्षा उच्चरित रूप ही महत्त्वपूर्ण है। यह बात इसी से समझी जा सकती है कि किसी भाषा को सीखने के लिए प्राय: यही व्यावहारिक सुझाव दिया जाता है कि हम उस भाषा के बोलने वालों के मध्य रहें। वास्तव में लिखित रूप तो ध्वनित या उच्चरित रूप का अनुकरण-मात्र है। इसलिए भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों का अध्ययन हमें भाषाओं की वर्णमालाओं से नहीं बल्कि

१. Out Line—page, 122.

भाषाओं को सुनकर करना चाहिए। वर्णमाला से भाषा तक नहीं भाषा से वर्णमाला तक पहुँचने का मार्ग ही स्वाभाविक मार्ग है। यही कारण है कि जो व्यक्ति लिखित रूप में अधिक उलझता है उसे भाषा सीखने में विलम्ब होता है। किसी भाषा की वर्णमाला द्वारा उसका अध्ययन आरम्भ करने से एक दोष यह आ जाता है कि अध्येता की दृष्टि ध्वनिग्रामीय हो जाती है, जब कि भाषा-ध्वनियों को समझने, सीखने और उनका विश्लेषण करने के लिए दृष्टि को ध्वनिशास्त्रीय होना चाहिए।

ध्वनि की उत्पत्ति के लिए किसी पदार्थ में कम्पन होना अनिवार्य है। मेज पर रखा हुआ निष्कम्प गिलास ध्वनि उत्पन्न नहीं करता। लेकिन किसी फाउण्टेन पेन से उस पर चोट करते ही उसमें कम्पन और फलस्वरूप ध्वनि उत्पन्न होती है। गिलास के थरथराते या काँपते हुए किनारों को अँगुली से छूकर अनुभव किया जा सकता है। यदि गिलास को जोर से छूकर उसके कम्पनों को रोक दिया जाय तो ध्वनि भी बन्द हो जायेगी।

साधारण जीवन में हम देखते हैं कि हवा की सहायता से ध्वनि उत्पन्न की जा सकती है। हम बाँस की निर्जीव बाँसुरी को फूँकते हैं और उससे ध्वनि फूट पड़ती है। ध्यान देने की बात यह है कि केवल हवा से ही ध्वनि उत्पन्न नहीं होती। ध्वनि उत्पन्न करने के लिए हवा में बाधा भी डाली जानी चाहिए। बाँसुरी की बनावट वादक के मुँह से निकली हुई हवा में बाधा डालती है। वह उसे मोड़कर उसे अपने छिद्रों में से निकलने के लिए विवश करती है। फल यह होता है कि हवा बोलती है। इस प्रकार अकेली हवा नहीं बल्कि बाधा खायी हुई हवा ध्वनि उत्पन्न करती है। हवा और बाधा का यह संयोग फेफड़ों और उच्चारण अवयवों के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। फेफड़े श्वास या प्रश्वास के रूप में हवा दान करते हैं और उच्चारण-अवयव बाधा डालते हैं। उच्चारण-अवयवों द्वारा प्रदत्त बाधा के कारण ही श्वास-प्रश्वास में निहित हवा को सुनिश्चित कम्पन प्राप्त होते हैं और वातावरण में व्याप्त हवा के माध्यम से ध्वनि सुनाई देती है।

हम अपने जीवन के लिए निरन्तर बाहर से साफ हवा नासिका-मार्ग से और कभी-कभी मुख-मार्ग से भी श्वास-नलिका के द्वारा फेफड़ों तक पहुँचाते हैं। फिर फेफड़ों की गन्दी हवा को इसी ढंग से बाहर निकालते हैं। फेफड़ों तक जाने वाली और फेफड़ों से बाहर आने वाली दोनों ही प्रकार की हवा ध्वनि के उच्चारण में काम आती है। संसार की अधिकांश भाषाओं में फेफड़ों से आने वाली गन्दी हवा ही

ध्वनि-उच्चारण में काम आती है। यह अशुद्ध हवा है। शुद्ध हवा की सहायता से हम उन भाषाओं में भी कुछ ध्वनियों का उच्चारण करते हैं जिनमें अशुद्ध हवा ही उच्चारण का मुख्य आधार है। 'च्, च्' की ध्वनि इसी प्रकार की ध्वनि है। श्वास-प्रश्वास की यह शुद्ध-अशुद्ध हवा उच्चारण-अवयवों के कारण विभिन्न बाधाएँ पाती है और ध्वनि उत्पन्न होती है।

हम जो कुछ भी कानों से सुनते हैं वह ध्वनि है। इस परिभाषा के अन्तर्गत पहाड़ के टूटने से लेकर फूल के गिरने तक की ध्वनि सम्मिलित है। बच्चे का रोना, हँसना, पशुओं का बोलना, पक्षियों का चहचहाना और मनुष्यों की बातचीत भी ध्वनि ही है। इन ध्वनियों में, जिन्हें हम कानों से सुनते हैं, बहुत सी ऐसी हैं जो अर्थ को वहन करती हैं। रात को पालतू कुत्ते के अचानक भौंक उठने की ध्वनि किसी अपरिचित के आगमन जैसे विस्तृत अर्थ को वहन करती है। किसी उत्सव में श्रोताओं की बार-बार ताली बजाने की ध्वनि उनकी सराहना और प्रसन्नता का अर्थ प्रकट करती है। किन्तु वास्तव में ये सब केवल ध्वनियाँ हैं, भाषा-ध्वनियाँ नहीं।

भाषा-ध्वनि—भाषा-ध्वनि बनने के लिए किसी ध्वनि को केवल अर्थ-वहन ही नहीं करना चाहिए बल्कि मनुष्य के मुखविवर से उच्चरित भी होना चाहिए। लेकिन ऐसी भी बहुत सी ध्वनियाँ हैं जो मनुष्य के मुखविवर से ही उच्चरित होती हैं। जैसे खाँसने, जम्हाई लेने, छींकने, रोने और हिचकी लेने की ध्वनि। और कई बार ये अर्थ को वहन भी करती हैं; जैसे कई बार खाँसकर हम अपने आगमन या उपस्थिति के अर्थ को प्रकट करते हैं। जिसके प्रति हम अपने इस आगमन या उपस्थिति के अर्थ को प्रकट करना चाहते हैं वह हमारे खाँसते ही इस अर्थ को समझ जाता है और समझकर तदनुसार आचरण करता है। संयुक्त हिन्दू-परिवारों में श्वसुर या मुखिया का आगमन जान-बूझकर उत्पन्न की गयी उसकी खाँसी की ध्वनि से ही प्रकट होता है। फिर भी ये सब ध्वनियाँ भाषा-ध्वनि नहीं कही जा सकतीं। भाषा-ध्वनि वास्तव में वह लघुतम ध्वनि है जो मनुष्य के मुख से प्रयत्नपूर्वक उच्चरित हुई हो, जिस पर उसका पूर्ण नियंत्रण हो और जो अन्य ध्वनि या ध्वनियों के साथ मिलकर अन्य अर्थ प्रकट करने में भी समर्थ हो। भाषा-ध्वनि की यह परिभाषा जो हमने यहाँ प्रस्तुत की है ध्वनि और भाषा-ध्वनि के अन्तर को पूरी तरह स्पष्ट करती है। खाँसी, जम्हाई या हिचकी की ध्वनियाँ प्रयत्नपूर्वक नहीं उत्पन्न होतीं और उन पर हमारा नियंत्रण भी नहीं होता। हम उन्हें जब चाहें तब रोक नहीं सकते। और यदि ये कभी प्रयत्नपूर्वक भी होती हैं, अर्थ को वहन भी करती हैं, तो भी इनमें एक

बड़ा अभाव यह रह जाता है कि ये अन्य ध्वनि या ध्वनियों के साथ मिलकर किसी अन्य अर्थ को प्रकट नहीं करतीं। खाँसी की ध्वनि हिचकी की ध्वनि के साथ मिलकर खाँसी और हिचकी की ही सूचना देगी, किसी अन्य बात की नहीं। इसी तरह जम्हाई और छींकने की ध्वनियाँ मिलकर भी अपने अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ को प्रकट नहीं कर सकतीं। इनके विपरीत हम हिन्दी भाषा की 'प्' ध्वनि को लें। यह मनुष्य के मुखविवर से उच्चरित है, स्वतंत्र रहकर भले ही यह किसी अर्थ को प्रकट न करे, किन्तु अन्य ध्वनियों के साथ प्रयुक्त होकर विभिन्न अर्थों को प्रकट करती है। जैसे—'अल' ध्वनियों के साथ आकर 'पल', 'आनी' ध्वनियों के साथ आकर 'पानी', 'ईर' ध्वनियों के साथ आकर 'पीर' शब्द में निहित अर्थ को प्रकट करती है। पल, पानी और पीर शब्दों में जो अर्थ हैं उनका स्वतंत्र 'प्' ध्वनि में निहित किसी अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। इनके अर्थ अन्य अर्थ हैं। पशुओं या जड़ पदार्थों से या मनुष्य के ही हाथ-पैरों की चोट से उत्पन्न होनेवाली ध्वनियाँ तो एक इसी बात पर भाषा-ध्वनि के क्षेत्र से अलग समझी जा सकती हैं कि वे मनुष्य के मुखविवर से उच्चरित नहीं होतीं। 'भाषा-ध्वनि मनुष्य के उच्चारण-अवयवों से उच्चरित विश्लेषणीय यादृच्छिक प्रतीक वाली (Arbitrary) ध्वनि की वह लघुतम इकाई है जिसका उच्चारण और श्रोतव्यता की दृष्टि से स्वतन्त्र व्यक्तित्व हो।' भाषा-ध्वनि की यह प्रचलित परिभाषा खाँसी, जम्हाई, हिचकी आदि की ध्वनियों को भाषा-ध्वनि से भिन्न नहीं सिद्ध कर पाती। खाँसी की ध्वनि को ही लें तो वह उच्चारण-अवयवों से उच्चरित होती है। स्थान, प्रयत्न आदि की दृष्टि से उसका अध्ययन-विश्लेषण किया जा सकता है। अनेक बार वह यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीक का कार्य करती है (जैसा परिवार के मुखिया के उदाहरण में पहले स्पष्ट किया गया है।) उच्चारण और श्रोतव्यता की दृष्टि से उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व भी होता है। लेकिन हम जानते हैं कि खाँसी, जम्हाई, हिचकी आदि की ध्वनियाँ भाषा-ध्वनि नहीं हैं। अनेक विद्वानों ने भाषा-ध्वनि की परिभाषा करने के लिए एक सुविधाजनक मार्ग यह चुन लिया है कि वे उसे भाषा में प्रयुक्त ध्वनि कहकर परिभाषित करते हैं। 'भाषा में प्रयुक्त ध्वनि' इस परिभाषा के पूर्व अनेक बार उपर्युक्त प्रचलित परिभाषा की सभी विशेषताओं को भी उल्लिखित कर दिया जाता है। निश्चय ही भाषा-ध्वनि को भाषा में प्रयुक्त ध्वनि कह देने से सारी समस्याएँ हल हो जाती हैं। किन्तु इसमें एक बड़ा दोष यह है कि इसके लिए हमें पहले भाषा की परिभाषा प्रस्तुत करनी पड़ती है और भाषा-ध्वनि की स्वतंत्र परिभाषा निर्मित नहीं हो पाती। ऐसी परिस्थिति में भाषा-ध्वनि की जो परिभाषा हमने ऊपर प्रस्तुत की है वह अत्यन्त उपयुक्त प्रतीत होती है।

सूक्ष्मता की दृष्टि से भाषा-ध्वनि का प्रयोजन संध्वनि से है, क्योंकि भाषा में संध्वनि का ही प्रयोग होता है, ध्वनिग्राम का नहीं। इसलिए भाषा-ध्वनि का आशय संध्वनि से ही लेना चाहिए। फिर भी उसे एक व्यापक शब्द के रूप में ग्रहण करना अधिक सुविधाजनक है। ऐसी स्थिति में ध्वनिग्राम तथा संध्वनि दोनों को ही उसके अन्तर्गत लिया जा सकता है।

ध्वनि-श्रवण—उत्पन्न हुई ध्वनि को वातावरण की हवा ले उड़ती है। हवा का यह सर्वव्यापी माध्यम सुलभ न हो तो ध्वनि की यात्रा हो पाना अत्यन्त कठिन है। वैसे और भी पदार्थ, जिनमें लचक हो और जो ध्वनिस्रोत से कान तक अविच्छिन्न रूप में फैले हुए हों, माध्यम बन सकते हैं। बच्चे धागे का टेलीफोन बनाकर आपस में बातचीत कर लेते हैं। पानी के भीतर पैठा हुआ मनुष्य पानी के भीतर उत्पन्न हुई ध्वनि को सुन लेता है। लेकिन हवा के माध्यम की तुलना में ये माध्यम नितान्त महत्वहीन हैं। हवा में ईथर होता है, उसमें कम्पन उत्पन्न होता है और इस प्रकार ध्वनि-लहर निर्मित होती है। ध्वनि-लहर किसी माध्यम में पैदा हुई एक प्रकार की अवस्था या हलचल है जो अपना रूप नहीं बदलती और एक निश्चित वेग से आगे बढ़ती है। इस प्रकार की गति को माध्यम में लहर-गति कहते हैं। जिस माध्यम में लहरें उत्पन्न होती हैं उसके कण कम्पित होते हुए भी अपने स्थान को नहीं छोड़ते। माध्यम के अग्रवर्ती कणों में थोड़े समय के बाद उसी प्रकार की गति पायी जाती है जिस प्रकार की गति पिछले कणों में होती है और इस प्रकार ध्वनि एक ऊर्जा के रूप में माध्यम के एक कण से दूसरे कण में संचरित होती चलती है। ध्वनि-लहर जैसा कि फ्रान्सीसी वैज्ञानिक लाप्लास ने सबसे पहले सैद्धान्तिक रूप में सिद्ध किया, ३३२.५ मीटर प्रति सेकण्ड की गति से हवा में गमन करती है। ध्वनि-लहर के प्रयोगों से प्राप्त गति ३३२ मीटर प्रति सेकण्ड है। जैसे-जैसे यह आगे बढ़ती जाती है इसकी तीव्रता कम होती जाती है और यह क्रमशः धीमी सुनाई पड़ने लगती है। एक स्थान वह आता है जहाँ यह सुनाई भी नहीं पड़ती। यह स्थान वह है जहाँ हवा तो है लेकिन उसमें ध्वनि-लहर नहीं पहुँच पायी है। हम जितने जोर से बोलते हैं उतनी ही शक्तिशाली ध्वनि-लहरें उत्पन्न होती हैं। वे उतनी ही अधिक दूर तक जाती हैं, इसीलिए अपेक्षाकृत अधिक दूर तक सुनाई देती हैं। जिस दिशा में हम मुँह करके बोलते हैं उससे भिन्न दिशाओं में भी शक्तिशाली ध्वनि-लहरें निर्मित नहीं हो पातीं, इसीलिए भिन्न दिशाओं में अपेक्षाकृत कम दूर तक और धीमा सुनाई देता है। ध्वनि-लहरों का विस्तृत अध्ययन और विश्लेषण किया गया है, किन्तु वह भौतिकी का विषय है।

ध्वनि-लहर कान तक पहुँचती है। कान को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—बाह्य, मध्यवर्ती और आभ्यन्तर। बाह्य कान के भी दो भाग माने जा सकते हैं। एक वह है जो फैला हुआ-सा बाहर दिखाई देता है। यह ध्वनि-लहरों को रोकता है और उन्हें कर्ण-छिद्र या कर्णनलिका में जाने देता है। कर्ण-नलिका बाह्य कर्ण का दूसरा भाग है। इसकी लम्बाई लगभग एक इंच होती है। भीतर की ओर जहाँ यह नलिका समाप्त होती है वहाँ एक झिल्ली होती है जो बाह्य कर्ण को मध्यवर्ती कर्ण से जोड़ती है। बाह्य कर्ण के पहले भाग का महत्व यह है कि उसके कारण अधिक ध्वनि-लहरें पकड़ी जाती हैं। यदि वह न हो तो कर्ण-छिद्र कम लहरों को ग्रहण कर पायेगा और हम अपेक्षाकृत कम सुन पायेंगे।

मध्यवर्ती कर्ण एक छोटी सी कोठरी है। इसमें तीन छोटी-छोटी हड्डियाँ होती हैं। इन हड्डियों का एक सिरा बाह्य कर्ण की झिल्ली से और दूसरा आभ्यन्तर कर्ण के बाहरी छिद्र से जुड़ा होता है।

आभ्यन्तर कर्ण में शंख के आकार का हड्डियों का एक समूह होता है। इसके खोखले भाग में झिल्लियों के भीतर एक द्रव पदार्थ भरा रहता है। इस भाग के भीतरी सिरे की झिल्ली से श्रावणी-शिरा के तन्तु आरम्भ होते हैं, जिनका सम्बन्ध मस्तिष्क से होता है।

ध्वनि की लहरें बाह्य कर्ण की नलिका से चलकर अन्तिम सिरे पर स्थित झिल्ली पर कम्पन उत्पन्न करती हैं। यह कम्पन मध्यवर्ती कर्ण की हड्डियों के माध्यम से आभ्यन्तर कर्ण के द्रव पदार्थ तक पहुँचता है। उसमें लहरें उत्पन्न होतीं हैं। श्रावणी-शिरा के तन्तु यह सूचना मस्तिष्क तक पहुँचाते हैं और हम सुन लेते हैं। इस प्रकार वक्ता के उच्चारण से आरम्भ हुई ध्वनि-लहरों की यात्रा समाप्त हो जाती है।

ध्वनि ठीक से सुनाई दे इसके लिए आवश्यक है कि ध्वनि-उत्पादक पदार्थ प्रति सेकण्ड लगभग बीस से कम और बीस हजार से अधिक कम्पनावृत्तियाँ उत्पन्न न करे। बहुत अधिक या बहुत कम कम्पनावृत्तियों से उत्पन्न ध्वनि को ग्रहण करने में हमारे कान सक्षम नहीं होते। जैसे-जैसे व्यक्ति वृद्ध होता जाता है कम्पनावृत्तियों की उक्त अधिकतम सीमा घटकर दस हजार प्रति सेकण्ड या इससे भी कम रह जातीं हैं।

ध्वनियां : वर्गीकरण—ध्वनियों का वर्गीकरण कई आधारों पर किया जा सकता है। जैसे—

(१) वायु-प्रवाह की अबाधता के आधार पर।
(२) घोषत्व के आधार पर।
(३) प्राणत्व के आधार पर।
(४) उच्चारण में उपयोग में आने वाली हवा के आधार पर।
(५) अनुनासिकता के आधार पर।

इनमें से पहले आधार पर ध्वनियाँ स्वर तथा व्यंजन में, दूसरे आधार पर अघोष तथा सघोष में, तीसरे आधार पर अल्पप्राण तथा महाप्राण में, चौथे आधार पर अन्तःस्फोटात्मक तथा बहिःस्फोटात्मक में और पाँचवें आधार पर अनुनासिक तथा निरनुनासिक में वर्गीकृत होती हैं। पहले आधार की खोज तो नयी है लेकिन स्वर तथा व्यंजन के रूप में वर्गीकरण अत्यन्त प्राचीन है। प्राचीन काल में भारतवर्ष में पतंजलि (द्वितीय शताब्दी ई० पू०) और यूनान में डायोनिसस थ्रैक्स (द्वितीय शताब्दी ई० पू०) ने स्वर तथा व्यंजन के रूप में ध्वनियों के वर्गीकरण का भिन्न आधार माना था। उनकी सारी चर्चाओं का सार यह है कि स्वर का उच्चारण स्वतंत्र और व्यंजन का उच्चारण परतंत्र होता है। अब यह वर्गीकरण वायुप्रवाह की अबाधता पर आधारित है। इसके आधार पर स्वर वह ध्वनि है जिसके उच्चारण में हवा अबाध गति से मुख-विवर से निकल जाती है। और व्यंजन वह ध्वनि है जिसके उच्चारण में हवा मुख-विवर से अबाध गति से नहीं निकल पाती, उसके मार्ग में पूर्ण या अपूर्ण अवरोध उपस्थित किया जाता है। स्वर तथा व्यंजन की ये मान्य आधुनिक परिभाषाएँ भी निर्दोष नहीं हैं।[1]

स्वर तथा व्यंजन ध्वनियों को फिर अनेक आधारों पर वर्गीकृत किया जा सकता है। उदाहरण के लिए स्वर के वर्गीकरण के निम्नलिखित आधार हैं—

(१) जिह्वा का कौन सा भाग ऊपर उठकर मुख-विवर का रूप परिवर्तित करता है, इसके आधार पर स्वरों के पश्च, मध्य और अग्र वर्ग बनाये जा सकते हैं। और सूक्ष्मता से और भी वर्ग बन सकते हैं। हिन्दी स्वरों में उ, ऊ, ओ और आ भी पश्च; अ मध्य तथा इ, ई, ए अग्र स्वर हैं।

(२) जिह्वा का व्यवहृत पश्च, मध्य या अग्र भाग कितना ऊपर उठता है, इसके आधार पर स्वरों को संवृत, अर्ध-संवृत, अर्धविवृत और विवृत कहा जा सकता है। जिनके उच्चारण में जिह्वा का व्यवहृत भाग सर्वाधिक ऊपर उठता है और

१. इस सन्दर्भ में लेखक की पुस्तक 'ध्वनि और ध्वनिग्राम शास्त्र' का सातवाँ अध्याय देखें।

फलस्वरूप मुखविवर बहुत सँकरा हो जाता है वे संवृत स्वर हैं। इसके विपरीत जिनके उच्चारण में यह भाग सबसे कम ऊपर उठता है और मुख-विवर सर्वाधिक खुला रहता है वे विवृत स्वर हैं। इनके बीच में अर्ध संवृत और अर्ध विवृत की दो स्थितियाँ और हैं। ऐसी स्थितियों में उच्चरित स्वर अर्ध संवृत और अर्ध विवृत कहे जाते हैं। उपर्युक्त पश्च, मध्य और अग्र स्वर संवृत, अर्ध संवृत, अर्ध विवृत और विवृत हो सकते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी पश्च स्वरों में ऊ संवृत, ओ अर्धसंवृत औ अर्धविवृत और आ विवृत स्वर है।

(३) स्वरों के वर्गीकरण के लिए एक आधार उच्चारण के समय होठों की आकृति का भी हो सकता है। कुछ स्वरों के उच्चारण में होठ पूर्ण अवृत्ताकार या विस्तृत और कुछ के उच्चारण में पूर्ण वृत्ताकार रहते हैं। हिन्दी ई के उच्चारण में वे लगभग पूर्ण अवृत्ताकार और हिन्दी ऊ के उच्चारण में लगभग पूर्ण वृत्ताकार होते हैं। इनके बीच में अनेक स्थितियाँ हो सकती हैं, जिन्हें हमने डैनियल जोन्स द्वारा प्रस्तुत मानस्वरों के चित्र में एक नयी रेखा डालकर स्पष्ट किया है।[1]

स्वरों के वर्गीकरण के उपर्युक्त तीन आधार ही प्रमुख हैं। मानस्वरों की रचना और वर्गीकरण में इन्हीं आधारों को मुख्य रूप से लिया गया है। किन्तु कुछ अन्य आधारों पर भी स्वरों के वर्ग बन सकते हैं। जैसे—

यदि स्वर के उच्चारण में कोमल तालु तथा कौआ नासिका-मार्ग को पूरी तरह बन्द कर लेते हैं और सारी हवा मुख-विवर से बाहर निकलती है, तो स्वर निर-नुनासिक या मौखिक कहलाता है। जैसे अ, आ, इ आदि। इसके विपरीत यदि नासिका-मार्ग कुछ खुला रहता है तो वह अनुनासिक सुनाई देता है। जैसे अँ, आँ, इँ आदि। यह आधार कोमल तालु तथा कौए की स्थिति का है।

स्वरतंत्रियों की स्थिति के आधार पर स्वरों के सघोष तथा अघोष दो उच्चारण हो सकते हैं। प्रायः सभी स्वर सघोष होते हैं। अर्थात् उनके उच्चारण में स्वरतंत्रियाँ परस्पर निकट आ जाती हैं और फेफड़ों से आनेवाली हवा को घर्षण करके निकलना पड़ता है। किन्तु कुछ भाषाओं और बोलियों में स्वरों के अघोष उच्चारण भी मिलते हैं। इनके उच्चारण में स्वरतंत्रियों से निकलते समय हवा को घर्षण नहीं करना पड़ता। लेखन में स्वरों के नीचे एक वृत्त रखकर उनकी अघोषता प्रकट की जाती है। अवधी बोली में कुछ स्वर-ध्वनियों के अघोष रूप भी मिलते हैं, यथा—

१. ध्वनि और 'ध्वनिग्राम शास्त्र', पृष्ठ ४८ तथा ११६।

उ, इ, ए
o o o

जिन स्वरों के उच्चारण में मुँह की मांसपेशियाँ कड़ी पड़ जाती हैं उन्हें दृढ और जिनके उच्चारण में ये शिथिल रहती हैं उन्हें शिथिल स्वर के वर्ग में रखा जा सकता है। हिन्दी में इ, उ, अ आदि शिथिल और ई, ऊ आदि दृढ़ स्वर कहे जा सकते हैं। ए की स्थिति मध्यवर्ती है। ह्रस्व स्वरों की अपेक्षा दीर्घ और विवृत स्वरों की अपेक्षा संवृत स्वर अधिक दृढ़ होते हैं।

उपर्युक्त आधारों के अतिरिक्त मात्रा और संयुक्तता इन दो आधारों पर भी स्वरों का वर्गीकरण किया जा सकता है। मात्रा की दृष्टि से ह्रस्व और दीर्घ ये दो प्रमुख वर्ग बनते हैं। इनके मध्य और इनके पहले तथा बाद में भी कुछ अन्य वर्ग बनाये जा सकते हैं। हिन्दी में अ, इ, उ आदि ह्रस्व और आ, ई, ऊ आदि दीर्घ स्वर हैं। संयुक्तता की दृष्टि से अ, इ, ई, ए, ओ आदि हिन्दी के मूल या असंयुक्त स्वर हैं। इसके विपरीत ऐ, औ संयुक्त स्वर हैं जिनका उच्चारण क्रमशः अ+ए, अ+ओ है। वैदिक काल में ए और ओ भी संयुक्त स्वर थे। इनका उच्चारण अ+इ, अ+उ था और ऐ, औ का उच्चारण क्रमशः आ+इ, आ+उ था।

व्यंजन के उच्चारण में प्रयत्न और उच्चारण-स्थान (Place of articulation) की आवश्यकता होती है। इन्हीं दो मूल आधारों पर व्यंजन का वर्गीकरण किया जाता है। प्रयत्न अनेक प्रकार का हो सकता है—

(१) **स्वर-तंत्रीय या आभ्यन्तर उच्चारण-अवयव द्वारा किया गया प्रयत्न**—इसके कारण व्यंजन जपित, घोष और अघोष होते हैं। यह प्रयत्न स्वरों में भी अपेक्षित होता है। इसलिए ये भेद स्वरों के भी हो सकते हैं।

(२) **हवा सम्बन्धी प्रयत्न**—इसके कारण व्यंजन अल्पप्राण और महाप्राण सुनाई देते हैं। प्राण का अर्थ है हवा। जिन व्यंजनों के उच्चारण में हवा की अधिकता हो वे महाप्राण (Aspirated) और जिनके उच्चारण में हवा की अधिकता न हो वे अल्पप्राण (Unaspirated) व्यंजन कहलाते हैं।

(३) **हवा के बाहर निकलने का मार्ग चयन सम्बन्धी प्रयत्न**—इस प्रयत्न पर व्यंजन का मौखिक, नासिक्य और अनुनासिक (मौखिक × नासिक्य) होना निर्भर है। हवा मुख-विवर से निकलती है तो मौखिक, जैसे—क्, प्, फ् आदि; नासिका-विवर से निकलती है तो नासिक्य, जैसे—ङ, न्, म् आदि और दोनों से निकलती है तो अनुनासिक, जैसे—कँ, पँ, फँ आदि व्यंजन उच्चरित होते हैं।

संस्कृत व्याकरणों में नासिक्य व्यंजनों (ङ, ञ्, ण्, न्, म्) को स्पर्श कहा गया है। इन्हें स्पर्श कहना इस अर्थ में ठीक है कि इनके उच्चारण में उच्चारण-अवयव, जैसे—जिह्वापश्च और कण्ठ, जिह्वाग्र और कठोर तालु, पीछे की ओर मुड़ी हुई जिह्वा-नोक और मूर्द्धा, जिह्वाग्र और दन्त तथा दोनों होठों का स्पर्श होता है।[1] किन्तु हवा का अवरोध इनमें नहीं होता। वह मुख-विवर में गूँजकर नासिका-मार्ग से अनवरुद्ध रूप से बाहर निकल जाती है। नासिका-मार्ग से हवा निकलने की अपनी विशेषता के कारण ये अन्य व्यंजनों से भिन्न ठहरते हैं। इसलिए इन्हें नासिक्य के नाम से एक अलग वर्ग में रखना ही उचित और वैज्ञानिक है। अन्तरराष्ट्रीय ध्वनि-लिपि में भी इन्हें अलग वर्ग के रूप में स्थान दिया गया है।

(४) **हवा निकलने की रीति सम्बन्धी प्रयत्न**—इस आधार पर व्यंजनों के अनेक प्रकार हो सकते हैं—

स्पर्श—यदि बाह्य उच्चारण-अवयवों में से कोई भी अवयव एक-दूसरे का स्पर्श करके हवा को पूरी तरह रोक कर फिर बाहर (अन्तःस्फोटात्मक व्यंजनों में भीतर की ओर भी) निकलने देते हैं तो इस रीति से उच्चरित ध्वनियाँ स्पर्श व्यंजन कहलाती हैं।

स्पर्श व्यंजन संसार की सभी भाषाओं में पाये जाते हैं। इनके उच्चारण में तीन स्थितियाँ होती हैं—हवा का आगमन, अवरोध और उन्मोचन या स्फोट। स्पर्श व्यंजनों के पूर्ण उच्चारण में ये तीनों स्थितियाँ रहती हैं और ध्वनि उन्मोचन या स्फोट के पश्चात् सुनाई पड़ती है। पूर्ण उच्चारण अकेले स्पर्श, जैसे क्, प् आदि का (अकेले व्यंजन का उच्चारण यद्यपि कठिन है) या किसी स्वर के पूर्व आये स्पर्श व्यंजन का सुनाई पड़ता है। अपूर्ण उच्चारण संयुक्त व्यंजन के अन्तर्गत प्रथम व्यंजन के रूप में आये हुए स्पर्श व्यंजन का, जैसे रक्त में 'क्' का सुनाई देता है। हिन्दी के शब्दान्त में आये हुए अल्पप्राण स्पर्श व्यंजन अपूर्ण उच्चरित होते हैं, जैसे पाप्, शाक् आदि। अपूर्ण उच्चरित होने वाले स्पर्शों के उच्चारण में केवल दो ही स्थितियाँ होती हैं—हवा का आगमन और उसका अवरोध।

संघर्षी—बाह्य उच्चारण-अवयवों में से दो उच्चारण इतने निकट आ जाते

१. ङ्, ञ्, ण्, न् व्यंजन स्पर्श की दृष्टि से अपने वर्ग के अन्य व्यंजनों की अपेक्षा कुछ पीछे से उच्चरित होते हैं। क्, ख्, ग्, घ् कोमल तालव्य हैं किन्तु ङ् कण्ठ्य; त्, थ्, द्, ध् दन्त्य हैं किन्तु न् वर्त्स्य। इसी प्रकार ञ्, ण् भी क्रमशः वर्त्स्य और कठोर तालव्य न होकर कठोर तालव्य और मूर्द्धन्य हैं।

हैं कि हवा के बाहर निकलने की रीति संघर्षी होती है। अर्थात् हवा को घर्षण करके निकलना पड़ता है। यह स्थिति स्वर और स्पर्श ध्वनियों के मध्य की है। इसमें न तो स्पर्श की तरह हवा का पूर्ण अवरोध होता है और न स्वर की तरह पूर्ण अनवरोध। दोनों होठ; ऊपर के दाँत और नीचे का होठ, जीभ और दाँत, जीभ और वर्त्स आदि की सहायता से हवा का मार्ग रोकने की चेष्टा की जाती है।

अंग्रेजी फ्, व् (जैसे Calf और Carve में); विदेशी भाषा के प्रभाव-स्वरूप हिन्दी के पढ़े-लिखे लोगों में प्रयुक्त होने वाली ज़्, ख़्, ग़् और हिन्दी की श्, ष्, स्, ह्, ध्वनियाँ संघर्षी हैं। अन्त की चार ध्वनियों का संस्कृत नाम ऊष्म है।

स्पर्श-संघर्षी—इस प्रकार के व्यंजनों के उच्चारण में हवा को स्पर्श व्यंजनों की तरह रोका जाता है। किन्तु स्पर्श की तरह उसका स्फोट या उन्मोचन झटके के साथ नहीं होता, बल्कि संघर्षी व्यंजनों की तरह धीरे-धीरे होता है। इसमें हवा के अवरोध की स्थिति स्पर्श की तरह और उसके बाहर निकलने की स्थिति संघर्षी व्यंजन की तरह होती है। हिन्दी की च्, छ्, ज्, झ् ध्वनियाँ स्पर्श संघर्षी हैं। संस्कृत वैयाकरणों ने इन्हें स्पर्श के अन्तर्गत ही माना है। स्पर्श ध्वनि की तरह इनके भी पूर्ण और अपूर्ण उच्चारण मिलते हैं—ये उच्चारण वैसे ही और वैसी ही स्थितियों में घटित होते हैं जैसे और जैसी स्थितियों में स्पर्श व्यंजनों के दोनों उच्चारण घटित होते हैं।

पार्श्विक (Lateral)—पार्श्विक ध्वनियों के उच्चारण में मुख-विवर के ऊपरी भाग की मध्यरेखा के किसी स्थान पर जीभ के द्वारा हवा को अवरुद्ध किया जाता है। किन्तु उसके खुले हुए एक या दाएँ-बाएँ दोनों पार्श्वों से हवा अनवरुद्ध रूप से प्रवाह के साथ निरन्तर बाहर निकलती रहती है। अपनी इसी विशेषता के कारण यह स्पर्श व्यंजनों से भिन्न ध्वनि है। हवा के अनवरुद्ध रूप से निरन्तर बाहर निकलते रहने के कारण इसका उच्चारण देर तक सम्भव है। इसी कारण इसमें अक्षर बनाने की भी क्षमता है। सम्भवतः यही कारण है कि संस्कृत में इसे अन्तःस्थ (स्वर तथा व्यंजन के मध्य की) ध्वनि कहा गया है। संसार की अधिकांश भाषाओं में किसी न किसी प्रकार की पार्श्विक ध्वनि विद्यमान है। हिन्दी में ल् ध्वनि पार्श्विक है। इसके उच्चारण में जिह्वाग्र वर्त्स का स्पर्श करके हवा को अवरुद्ध करता है। जिह्वा का शेष भाग 'इ' स्वर के उच्चारण की मुद्रा में रहता है। इसीलिए इसको इ-धर्मी या शुक्ल (clear) पार्श्विक व्यंजन कहा जाता है। एक महत्वपूर्ण पार्श्विक ध्वनि कृष्ण (dark) पार्श्विक है। उसके उच्चारण में शेष भाग 'उ'

के उच्चारण की मुद्रा में, अर्थात् जिह्वापश्च कोमल तालु की ओर उठा हुआ रहता है। इसीलिए उसे उ-धर्मी भी कहा जाता है। यह उ-धर्मी कृष्ण पार्श्विक ध्वनि अंग्रेजी भाषा में शब्दों के अन्त में और व्यंजनों के साथ आने पर सुनाई पड़ती है। हिन्दी में यह ध्वनि नहीं है। अंग्रेजी में भी अन्य स्थानों पर पार्श्विक ध्वनि का शुक्ल इ-धर्मी उच्चारण ही होता है।

लुंठित (Rolled)––फेफड़ों से आने वाली हवा की सहायता से अलिजिह्व, होठ या जिह्वा की नोक को कई बार हिलाया जा सकता है। हिलने के लिए इन अवयवों को कुछ मुड़कर बेलन की तरह लुंठित होकर हवा के मार्ग में आना पड़ता है। इस प्रकार लुंठित ध्वनि उत्पन्न होती है। जिह्वानोक लुंठित अवस्था में वर्त्स के निकट पहुँच जाती है और फेफड़ों से आने वाली हवा के प्रभाव से तेजी से थरथरा कर उससे टकराती है। यह टकराहट दो से चार तक हो सकती है। हिन्दी भाषा में इसी ध्वनि का प्रयोग होता है। कभी-कभी खेल-खेल में कुछ बच्चे फेफड़ों की अधिक और अधिक सप्रवाह हवा की सहायता से जिह्वानोक को वर्त्स के निकट देर तक थरथराते रहकर बहुत देर तक इसका उच्चारण करते मिलते हैं। उनकी यह ध्वनि भाषा-ध्वनि नहीं है। अलिजिह्व की थरथराहट से जो लुंठित ध्वनि उत्पन्न होती है, जर्मन और फ्रान्सीसी भाषाभाषी उसका प्रयोग भाषा-ध्वनि के रूप में करते हैं।

उत्क्षिप्त (Flapped)––उत्क्षिप्त व्यंजनों के उच्चारण में भी जिह्वानोक या अलिजिह्व को उत्क्षिप्त होने (फेंके जाने) के लिए फेफड़ों से आने वाली हवा के मार्ग में आना पड़ता है। लुंठित व्यंजनों के उच्चारण में जिह्वानोक या अलिजिह्व हवा के द्वारा कई बार प्रताड़ित होकर थरथराता है। किन्तु उत्क्षिप्त व्यंजन के लिए उपर्युक्त अवयवों में हवा के द्वारा केवल एक बार शक्तिपूर्ण प्रताड़न होता है। एक बार के प्रताड़न से थरथराने का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। प्रताड़न के परिणामस्वरूप ये अवयव झटके के साथ हवा के मार्ग से हट जाते हैं।

हिन्दी 'ड़' ध्वनि के उच्चारण में जिह्वानोक उठकर और पीछे की ओर मुड़कर अपने निचले भाग से मूर्द्धा का स्पर्श करती है। हवा के प्रताड़न से वह झटके के साथ नीचे गिरती है और गिरते समय वर्त्स से टकरा कर यह ध्वनि उत्पन्न करती है। ढ़ इसी का महाप्राण रूप है। फ्रान्सीसी भाषा में अलिजिह्व के उत्क्षेप से उत्पन्न होने वाली ध्वनि सुनाई देती है।

अर्धस्वर (Semi Vowel)––कुछ ध्वनियों के उच्चारण में स्वर और व्यंजन दोनों की ही कुछ विशेषताएँ मिलती हैं। इसलिए इन्हें अर्द्ध स्वर कहना उचित

ही है। इनके उच्चारण में हवा का प्रवाह अत्यन्त शिथिल होता है। इसलिए इनमें न तो स्वरों की सी मुखरता होती है और न बलाघात वहन करने की शक्ति ही। ये दोनों विशेषताएँ इन्हें व्यंजन के निकट ला देती हैं। किन्तु इनका आरम्भ स्वर-स्थिति से होता है। इनके उच्चारण में बाह्य उच्चारण-अवयव हवा के मार्ग में अवरोध उपस्थित नहीं करते। इनकी ये विशेषताएँ इन्हें स्वर के क्षेत्र में सिद्ध करती हैं। इस प्रकार स्वर और व्यंजन दोनों की विशेषताओं वाले होने के कारण ये अर्द्ध स्वर की संज्ञा पाते हैं। य्, व् हिन्दी के अर्द्ध स्वर हैं। इनका उच्चारण क्रमशः इ और उ स्वर-स्थितियों से आरम्भ होता है। हिन्दी की ये दोनों ध्वनियाँ सघोष हैं।

व्यंजनों को वर्गीकृत करने का दूसरा आधार उच्चारण-स्थान (Place of articulation) का है। इस आधार पर व्यंजनों के अनेक भेद हो सकते हैं। नीचे उनका संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है—

स्वरयंत्रमुखी (Glottal)—स्वरयंत्र-मुख या तो पूरी तरह बन्द होकर हवा के मार्ग में पूर्ण या कुछ खुला रहकर अपूर्ण बाधा डालता है और इस प्रकार स्पर्श या संघर्षी स्वरयंत्रमुखी ध्वनि उच्चरित होती है। जर्मन तथा डैनिश भाषाओं में स्वरयंत्रमुखी स्पर्श ध्वनि भाषाध्वनि के रूप में प्रयोग में आती है। यह एक प्रकार की हलकी खाँसी के रूप में सुनाई पड़ती है। हिन्दी 'ह्' स्वरयंत्रमुखी संघर्षी ध्वनि है।

उपालिजिह्वीय (Pharyngal)—गलबिल-प्रदेश में जिह्वामूल और गलबिल-भित्ति की सहायता से स्पर्श या संघर्ष की स्थिति बनायी जाती है। अरबी की 'बड़ी हे' और 'ऐन' तथा अफ्रीका की बहुत-सी भाषा-ध्वनियों का स्थान उपालिजिह्वीय है।

अलिजिह्वीय (Uvular)—जिह्वामूल या जिह्वापश्च को अलिजिह्व के निकट उठाकर वायु-मार्ग पूर्ण अवरुद्ध या सँकरा किया जाता है। क़् स्पर्श और ग़्, ख़् संघर्षी ध्वनियाँ इसी स्थान से सम्बन्धित हैं। इन ध्वनियों का प्रचलित नाम जिह्वामूलीय है।

कोमल तालव्य (Soft Palatal)—जिह्वापश्च और कोमल तालु का वायु-मार्ग को पूर्ण अवरुद्ध या सँकरा करने के लिए परस्पर सहयोग होता है। हिन्दी क्, ख्, ग्, घ्, ङ् का उच्चारण-स्थान कोमल तालु ही है। इसमें से ङ का उच्चारण कोमल तालु से भी कुछ पिछले (कण्ठ की ओर के) स्थान पर होता है।

मूर्धन्य (Cerebral)--जिह्वानोक मूर्द्धा का स्पर्श करके हवा के मार्ग में पूर्ण अवरोध उपस्थित करती है या फिर वह मूर्द्धा के केवल इतने निकट पहुँच जाती है कि हवा को संघर्ष करके निकलना पड़े। संस्कृत का टवर्ग इसी स्थान पर उत्पन्न स्पर्श और ष् संघर्षी ध्वनि है। हिन्दी ण् ध्वनि भी मूर्द्धन्य है।

कठोर तालव्य (Palatal)--जिह्वाग्र या जिह्वानोक कठोर तालु का स्पर्श करके या उसके निकट पहुँच कर कठोर तालव्य ध्वनियाँ उत्पन्न करती है। संस्कृत च्, छ्, ज्, झ्, और हिन्दी ञ् तथा संस्कृत संघर्षी श् और हिन्दी टवर्ग कठोर तालव्य ध्वनियाँ हैं। इन ध्वनियों का अधिक प्रचलित नाम तालव्य है।

वर्त्स्य (Alveoler)--जिह्वाग्र और वर्त्स का सहयोग वर्त्स्य ध्वनियों की सृष्टि करता है। हिन्दी च्, छ्, ज्, झ्, न्, ल्, र्, स्, श् और अंग्रेजी ट्, ड् व्यंजन वर्त्स्य हैं।

दन्त्य (Dental)—ऊपर के दाँत और जिह्वाग्र या जिह्वानोक की सहायता से ये ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। इनके उच्चारण-स्थान दाँत हैं। हिन्दी त्, थ्, द्, ध् व्यंजन इसी स्थान से उच्चरित होते हैं।

दन्त्योष्ठ्य (Labio-dental)—ऊपर के दाँत और नीचे का होठ उच्चारण-स्थान के रूप में कार्य करते हैं। अंग्रेजी Y और F ध्वनियाँ दन्त्योष्ठ्य ध्वनियाँ हैं। इन दोनों के उच्चारण में संघर्ष होता है।

द्वयोष्ठ्य (Bilabial)—कुछ ध्वनियों के उच्चारण में दोनों होठ उच्चारण-स्थान का कार्य करते हैं। हिन्दी अंग्रेजी प्, ब् तथा हिन्दी फ्, भ्, म् और व् द्वयोष्ठ्य ध्वनियाँ हैं।

उच्चारण-स्थानों की दृष्टि से संसार की ध्वनियाँ कुछ आगे अर्थात् स्वरयंत्र-मुख से होठों की ओर को खिसकती हुई प्रतीत होती हैं। संस्कृत में जिन ध्वनियों को कण्ठ्य, मूर्द्धन्य, तालव्य आदि कहा गया है, हम जानते हैं कि हिन्दी तक आते-आते (लगभग २००० वर्ष में) वे कोमल तालव्य, कठोर तालव्य तथा वर्त्स्य में परिवर्तित हो गयी हैं। अनेक ध्वनियों में क्रमशः और आगे बढ़ने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। वास्तव में होठों की ओर के उच्चारण-अवयवों की सहायता से उच्चारण करना अधिक सहज है। इस सहजता को बच्चों द्वारा सबसे पहले ओष्ठ्य उच्चारण (पापा, मामा, बाबा, माँ, ममी) ही करने से समझा जा सकता है।

अभी तक जिन व्यंजनों का वर्णन किया गया है उनके उच्चारण में फेफड़ों से

आने वाली हवा का उपयोग किया जाता है। इसके विपरीत संसार की भाषाओं में कुछ ऐसे भी व्यंजन पाये जाते हैं। जिनका उच्चारण बाहर से आने वाली शुद्ध हवा पर निर्भर है। ऐसी ध्वनियों का उच्चारण संसार के सभी भाषाभाषी करते हैं, किन्तु भाषा-ध्वनि के रूप में इनका प्रयोग बहुत कम भाषाओं में पाया जाता है। भाषा-ध्वनि के रूप में प्रयुक्त होने वाले ऐसे व्यंजन हैं—अन्तःस्फोटात्मक एकस्पर्श (implosive), अन्तःस्फोटात्मक द्विस्पर्श (click) और उद्गार व्यंजन (ejective या glottalized stop)।

शब्दों में दो या अधिक व्यंजन जब निकट आते हैं तो उन्हें संयुक्त व्यंजन कहा जाता है। ऐसे व्यंजनों के मध्य कोई स्वर-ध्वनि नहीं होती। निकट उच्चरित होने वाले दोनों व्यंजन यदि एक-सी ध्वन्यात्मक विशेषताओं वाले हैं तो उन्हें द्वित्व व्यंजन (double consonant) कहते हैं। पक्का, पप्पा, अम्मा, कच्चा, लज्जा, रज्जु आदि हिन्दी शब्दों में और agood deed, illegal, unknown (nn), unnatural आदि अंग्रेजी शब्दों के उच्चारण में व्यंजनद्वित्व सुने जा सकते हैं। स्पर्श तथा स्पर्शसंघर्षी व्यंजन के उच्चारण में, जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है, तीन स्थितियाँ—हवा का आगमन, अवरोध और स्फोट होती हैं। इन व्यंजनों के द्वित्व उच्चारणों में दूसरी स्थिति प्रलम्बित हो जाती है। शेष दोनों स्थितियाँ वैसी ही रहती हैं जैसी एक व्यंजन के उच्चारण में। इसलिए द्वित्व व्यंजन यह नामकरण ही वैज्ञानिक नहीं है। वैज्ञानिक दृष्टि से पप्पा में दो प् न होकर एक ही प् है जिसकी अवरोध की स्थिति प्रलम्बित हो गयी है। दो प् तो तब कहना वैज्ञानिक होता जब दोनों प् की उपर्युक्त तीन-तीन स्थितियाँ होतीं।

स्पर्श महाप्राण या स्पर्शसंघर्षी महाप्राण व्यंजनों का द्वित्व रूप में उच्चारण नहीं होता। इसका कारण यह है कि व्यंजन का महाप्राण होना और कुछ नहीं केवल स्फोट में अधिक हवा का निकलना है, और चूँकि द्वित्व व्यंजन में प्रथम व्यंजन का स्फोट होता ही नहीं इसलिए वह महाप्राण भी नहीं होता। लेखन में भले ही द्वित्व का प्रथम व्यंजन महाप्राण लिखा हुआ मिले, किन्तु उच्चारण में वह अल्पप्राण ही सुनाई पड़ता है। झझ्झर का उच्चारण झज्झर ही होता है।

संघर्षी व्यंजन के उच्चारण में केवल दो स्थितियाँ होती हैं—हवा का आगमन और संघर्ष करते हुए उसका निकास। संघर्षी व्यंजनों के द्वित्व में दूसरी स्थिति प्रलम्बित हो जाती है। किस्सा, रस्सा, हिस्सा आदि के उच्चारण के समय यही होता है।

यदि निकट उच्चरित होने वाले दोनों व्यंजन भिन्न ध्वन्यात्मक विशेषताओं वाले अर्थात् भिन्न उच्चारण-स्थानों तथा प्रयत्नों से उत्पन्न हैं तो वे संयुक्त व्यंजन कहलाते हैं। संयुक्त व्यंजनों में यदि पहला स्पर्श या स्पर्शसंघर्षी है तो उसका स्फोट नहीं होता। उसकी केवल दो स्थितियाँ होती हैं, जैसे रक्त, सख्य, सप्त, अच्छा आदि में क्, ख्, प् और च् के उच्चारण में हवा का आगमन और अवरोध ये दो ही स्थितियाँ घटित होंगी। पहले व्यंजन के संघर्षी होने पर उसकी दोनों स्थितियाँ—हवा का आगमन और संघर्ष करते हुए उसका निकास, होती हैं। किन्तु दूसरी स्थिति असंयुक्त उच्चारण की तुलना में कुछ संक्षिप्त हो जाती है। रस्ता, किश्त, सस्य, कष्ट में आयी हुई स्, श्, स् और ष् ध्वनियों में रस्, आश्, धनुष् आदि शब्दों में आयी हुई इन्हीं ध्वनियों की अपेक्षा दूसरी स्थिति की संक्षिप्ति समझी जा सकती है।

ध्वनिग्राम

किसी भाषा में हम ध्वनियों का प्रयुक्त रूप ही सुनते हैं। प्रयुक्त होकर ही वे अर्थ को वहन करती हैं। अप्रयुक्त रूप में हम उन्हें केवल अपने अध्ययन की सुविधा के लिए ही देखते-परखते हैं। जैसे प् या क् ध्वनि का वास्तव में कोई महत्व नहीं है अगर वह भाषा में प्रयुक्त होकर अर्थ को वहन न करे। 'आ' का भी स्वतंत्र कोई महत्व नहीं है यदि वह अन्य ध्वनियों के साथ या अकेले ही प्रयुक्त होकर—शब्द बनकर भाव प्रकट नहीं करता।

प्रयुक्त रूप ही ध्वनियों का स्वाभाविक और वास्तविक रूप है और प्रयोग में आकर वे अपने पड़ोस की ध्वनियों से प्रभावित होती हैं। पड़ोस की ध्वनियों से प्रभावित होना ध्वनियों की प्रवृत्ति ही है। इसे ही कहा जाता है कि ध्वनि अपने परिवेश या वातावरण से प्रभावित होती है—अपने आप को परिवेश के अनुसार ढालती और परिवर्तित करती है। जैसे—

मिष्टान्न

पटना

इनमें प्रयुक्त ट् ध्वनियाँ एक सी नहीं हैं। प्रथम में ष् के प्रभाव से कुछ महाप्राणता आ गयी है (यह इसी से स्पष्ट है कि इसका उच्चारण अब कई लोग ठ् ही करते हैं—मिष्टान्न > मिष्ठान्न)। इसके विपरीत द्वितीय में महाप्राणता नहीं है। यद्यपि दोनों ही कठोर तालव्य अघोष और अल्पप्राण ध्वनियाँ थीं किन्तु अपने परिवेश के कारण प्रथम ने कुछ महाप्राणता अर्जित कर ली है और उसमें इसी कारण द्वितीय से कुछ भिन्नता, परिवर्तन या विशेषता आ गयी है।

ध्वनियों का जो प्रयुक्त रूप होता है उसे संध्वनि कहते हैं। इन्हीं संध्वनियों से ध्वनिग्राम बनते हैं।

ध्वनिग्राम को ब्लूमफील्ड ने A minimum unit of distinctive sound feature[१] कहकर परिभाषित किया है। अध्ययन के लिए गृहीत भाषा में अध्येता जितनी ध्वनियों को अपने सूचक या सूचकों से सुनता है, उनमें बहुत सी बहुत कुछ समान होती हैं। उनमें केवल अपने परिवेश के कारण ही भिन्नता होती है, जैसे 'की' और 'कू' में दोनों 'क्' ध्वनियाँ समान हैं। उनमें केवल परिवेशगत अन्तर ही है—परवर्ती ध्वनि ई के कारण प्रथम क् में कुछ अग्रता और द्वितीय क् में परवर्ती ध्वनि ऊ के कारण कुछ पश्चता आ गयी है। (ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि ई अग्र और ऊ पश्च स्वर है।) लेकिन उनकी यह परिवेशगत ध्वन्यात्मक विशेषता distinctive नहीं कही जा सकती। इसी को कहा जायगा कि क् ध्वनिग्राम की दो संध्वनियाँ हैं—क् १, क् २ —

। क् । [क् १] [क् २]

Kenneth L. Pike ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Phonemics में 'Phonemics' नाम के नीचे एक पंक्ति दे रखी है—'A technique for reducing languages to writing.' स्पष्ट है कि वे phonemics को इसी रूप में ग्रहण करते हैं। किन्तु वास्तव में Phonemics (ध्वनिग्रामशास्त्र) केवल इसी उद्देश्य को पूरा करने वाला विभाग नहीं है। वह केवल लेखन की सुविधा के लिए अर्थात् लिपि-निर्माण के लिए ही मार्ग प्रशस्त नहीं करता। यही कारण है कि अध्ययन के लिए गृहीत उन भाषाओं के भी ध्वनिग्राम छाँटे जाते हैं जिनके लिए लिपि तैयार करने का कोई तात्कालिक प्रश्न नहीं होता। किसी भी भाषा में संध्वनियों की संख्या बहुत अधिक होती है। उनमें से सभी का पृथक्-पृथक् पूर्ण वर्णन करना अध्ययन को अनावश्यक विस्तार देना होगा। अध्येता केवल ध्वनिग्रामों का पूर्ण वर्णन करेगा। ये ध्वनिग्राम जब रूप-रचना के उद्देश्य से एक दूसरे के निकट आते हैं तो परस्पर प्रभावित होते हैं। इसी प्रभाव से इनमें परिवेशगत ध्वन्यात्मक विशेषताएँ उत्पन्न होती हैं और ये संध्वनि कहलाने लगती हैं। किसी भाषा के ध्वनिग्रामों से परिचित अध्येता उसकी संध्वनियों की ध्वन्यात्मक विशेषताओं को बिना किसी कठिनाई के समझ सकता है।

१. Language—Page 179.

ध्वनिग्रामों के तीन प्रकार हो सकते हैं—

(१) **मुख्य ध्वनिग्राम** (Simple primary phonemes)—प्रत्येक भाषा में इनकी संख्या सीमित हुआ करती है। विभिन्न भाषाओं में यह संख्या लगभग १५ और ५० के मध्य मिलती है। परिनिष्ठित खड़ी बोली हिन्दी में इनकी संख्या ५० के लगभग है। शिकागो में बोली जाने वाली परिनिष्ठित अंग्रेजी के ध्वनिग्रामों के सम्बन्ध में आँकड़े एकत्रित करके यह देखा गया कि उनकी संख्या कुल ३२ है। मुख्य ध्वनिग्रामों के अनेक प्रकार संसार की भाषाओं में मिलते हैं—जैसे स्वर और व्यंजन के अन्तर्गत स्पर्श, संघर्षी, लुंठित, पार्श्विक, नासिक्य। इनके भी अनेक भेद-उपभेद किये जा सकते हैं। क्, ख्, ग्, घ् आदि और अ, ई आदि हिन्दी के मुख्य ध्वनिग्राम ही हैं।

(२) **संयुक्त ध्वनिग्राम** (Compound phonemes)—संयुक्त ध्वनिग्राम मुख्य ध्वनिग्रामों के ऐसे संयोग मात्र हैं जो अर्थ और शब्द-रचना के लिए इकाई के रूप में प्रयुक्त होते हैं। हिन्दी ऐ और औ को संयुक्त ध्वनिग्राम कहा जा सकता है। इनकी ध्वनिग्रामिक सत्ता इतनी स्पष्ट है कि हिन्दी वर्णमाला में इन्हें पृथक् वर्ण के रूप में गिना और लिखा जाता है। ये 'ए' और 'ओ' से भिन्न हैं। इनकी यह भिन्नता निम्नलिखित शब्दों से समझी जा सकती है—

मेल	मैल
ओर	और

परिनिष्ठित अंग्रेजी में संयुक्त ध्वनिग्रामों की संख्या १२ मानी जाती है। बंगला में यह संख्या अधिक है।

(३) **गौण ध्वनिग्राम** (Secondary phonemes)—इनका प्रयोग मुख्य या संयुक्त ध्वनिग्रामों की तरह स्वतंत्र रूप से नहीं होता अपितु जब दो या अधिक ध्वनिग्राम मिलकर अपेक्षाकृत लम्बे रूप, जैसे शब्द या वाक्य निर्मित करते हैं तब ये सुनाई देते हैं। कभी-कभी एक ध्वनिग्राम के साथ भी इन्हें सुना जा सकता है। मुख्य ध्वनिग्रामों को मालूम करना सरल है किन्तु गौण ध्वनिग्रामों को मालूम करना निश्चय ही अपेक्षाकृत एक कठिन कार्य है। इन्हें गौण इसलिए कहा जाता है क्योंकि इनका प्रयोग गौण रूप से ही भाषाओं में होता है। इनके प्रमुख रूप ये हैं—

(अ) **बलाघात** (Stress)—बलाघात के कारण निम्नलिखित शब्दों में अर्थसम्बन्धी परिवर्तन हो गये हैं—

Conduct	Conduct
Contest	Contest
Present	Present
Increase	Increase

अतः इनके आधार पर अंग्रेजी भाषा में बलाघात को गौण ध्वनिग्राम माना जा सकता है। यद्यपि हिन्दी में बलाघात का प्रयोग मिलता है किन्तु यहाँ वह गौण ध्वनिग्राम की स्थिति भी प्राप्त नहीं कर पाता, क्योंकि उसके द्वारा अर्थ परिवर्तित नहीं होता।

(**ब**) **सुराघात** (Pitch)—कई बार सुराघात भी अर्थ-परिवर्तन का कार्य करता है। जैसे—

भारतवर्ष में ऐसा हुआ ?
भारतवर्ष में ऐसा हुआ।

यहाँ सुराघात के आधार पर ही हम दोनों वाक्यों के उच्चारण से प्रश्न और उत्तर का भेद करते हैं। इसलिए यहाँ वाक्य के अन्त में सुराघात है। चीनी, तिब्बती, बर्मी, स्यामी आदि कुछ भाषाएँ सुराघात का प्रयोग मुख्य ध्वनिग्राम के रूप में करती हैं। वहाँ अर्थ को बदलने के लिए सुराघात मुख्य साधन के रूप में प्रयुक्त होता है। चीनी भाषा में—

(एक सुर में) मा = माता
(अन्य सुर में) मा = घोड़ा

(**स**) **मात्रा** (Quantity)—मात्रा को भी गौण ध्वनिग्राम कहा जा सकता है। इससे भी अर्थ में परिवर्तन होता है। जैसे—

रज	राज
रस	रास
दिन	दीन

किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि हिन्दी अ और आ, इ और ई में केवल मात्रा का ही अन्तर नहीं है। उनमें संवृति, स्थान आदि की दृष्टि से भी अन्तर है।

अफ्रीका की ईव भाषा ऐसी है जिसमें वास्तव में मात्रा के कारण अर्थ में परिवर्तन देखा जाता है—

ba (कीचड़), ba : (खुला)

यहाँ मात्रा को गौण ध्वनिग्राम कहा जायगा। बलाघात, सुराघात और मात्रा की ध्वनिग्रामिक सत्ता की ओर संकेत करने के उद्देश्य से इनके लिए क्रमशः Stroneme, Toneme और Chroneme नाम सुझाए गये हैं। जैसे भाषा में वास्तविक प्रयोग Phoneme (ध्वनिग्राम) का न होकर Allophone (संध्वनि) का होता है, उसी प्रकार Stroneme, Toneme और Chroneme का वास्तविक प्रयोग न होकर Strone, Tone और Chrone का होता है।

(द) अनुनासिकता (Nazalization)—अनुनासिकता को भी गौण ध्वनिग्राम कहा जा सकता है। कभी-कभी इसका प्रयोग भी अर्थ को बदल देता है।

हाथ	हाँथ
रीवा	रीवाँ
चावल	चाँवल

आदि शब्दों में अनुनासिकता के कारण कोई अर्थगत अन्तर नहीं पड़ा है। लेकिन—

सास	साँस
कहा	कहाँ
बाग	बाँग
गई	गईं
सवार	सँवार
साप	साँप

आदि शब्दों में केवल अनुनासिकता के कारण ही अन्तर आ गया है। इनमें अनुनासिकता की ध्वनिग्रामिक सत्ता है। चूँकि इसका प्रयोग मुख्यता से नहीं होता इसलिए गणना भी गौण ध्वनिग्रामों में की जाती है।

(ध) विवृत्ति (Juncture)—ध्वनिग्रामों के उपर्युक्त किसी भी प्रकार द्वारा उच्चारों में कोई अन्तर उपस्थित किये बिना ही कभी-कभी हम दो उच्चारों में अर्थगत अन्तर पाते हैं। यह अन्तर विवृति (Juncture) के कारण उत्पन्न होता है। विवृति को दूसरे शब्दों में विराम या मौन भी कह सकते हैं। शब्दतः इसका अर्थ खुलाव या खुलासा है। यह दो अक्षरों या वाक्यों के मध्य का खुलाव है। इसी खुलाव

के कारण दो अक्षर, शब्द या वाक्य, दो अक्षर, शब्द या वाक्य के रूप में सुनाई देते हैं। विवृति के कारण ही वे ध्वन्यात्मक दृष्टि से अलग-अलग या दूर-दूर सुनाई पड़ते हैं। मंजु + लता और मंजुल+ता इन दो उच्चारों में कोई ध्वन्यात्मक अन्तर (भिन्नता) नहीं है। अर्थात् दोनों में ही ऊपर गिनाये गये मुख्य और गौण ध्वनिग्राम समान हैं। किन्तु प्रथम उच्चार में मंजु के बाद और द्वितीय में मंजुल के बाद विवृति है। विवृति की इसी स्थान-भिन्नता के कारण ही दोनों में अर्थगत भिन्नता है।

स्पष्ट है कि भाषाओं में विवृति की ध्वनिग्रामिक सत्ता है। यही कारण है कि इसे भी ध्वनिग्राम (Phoneme) कहा जाता है। किन्तु भाषाओं में यह प्रवृत्ति भी गौण रूप से ही अर्थ-वहन का कार्य करती है।

ध्वनिग्रामों से रूपग्राम और रूप या पद बनते हैं। शब्द का वाक्य में प्रयुक्त रूप ही रूप या पद है। वाक्य में अपनी भूमिका निभाने के लिए शब्द को कुछ परिवर्तित होना पड़ता है। अपने परिवर्तित रूप में ही वह रूप या पद कहलाता है। इसीलिए संस्कृत में शब्द के रूप चलते हैं। इन रूपों का ही वाक्य में प्रयोग होता है। संस्कृत में शब्द को प्रकृति या प्रातिपदिक और वाक्य में प्रयोग करने के पूर्व उसमें जो सम्बन्ध-तत्व जोड़ा जाता है उसे प्रत्यय कहते हैं। प्रत्यय युक्त प्रातिपदिक ही रूप है। पाणिनि ने पद या रूप की परिभाषा दी है—'सुप्तिङन्तं पदम्।' अर्थात् सुप् या तिङ् जिनके अन्त में हों वे पद हैं। सुप् और तिङ् सम्बन्धतत्व या प्रत्यय हैं।

पद या रूपों से रूपग्राम छाँटे जाते हैं। रूपग्राम वाक्य की लघुतम सार्थक इकाई है। रूप या पद लघुतम सार्थक इकाई नहीं है। एक रूप या पद में कई रूपग्राम हो सकते हैं जैसे—'लड़के जाते हैं' वाक्य में प्रयुक्त 'लड़के' रूप में तीन रूपग्राम हैं—लड़का, बहुवचन और कर्ताकारक। रूपग्रामों के भिन्न भिन्न वर्ग होते हैं। ये वर्ग उच्चार में एक दूसरे का स्थान नहीं ले सकते। जैसे 'राम जाता है' में राम रूपग्राम का स्थान 'श्याम', 'लड़का' आदि रूपग्राम ले सकते हैं। लेकिन 'काला', 'लिखना' आदि रूपग्राम नहीं। कहा जायगा कि 'राम', 'श्याम' और 'लड़का' एक वर्ग के हैं; 'काला' और 'लिखना' ये दोनों उपर्युक्त वर्ग में नहीं आते। इसी प्रकार Worker, Dancer आदि में आया हुआ—er एक रूपग्राम है, किन्तु Smaller, Deeper आदि में आया हुआ—er एक भिन्न वर्गीय रूपग्राम है। सुविधा के लिए कह सकते हैं कि इस प्रकार का वर्गीकरण प्राचीन 'Parts of speech' नामक वर्गीकरण के निकट है।

भाषा में काल, लिंग, वचन, पुरुष, कारक आदि के रूपग्राम होते हैं। इन्हें सम्बन्ध-दर्शी रूपग्राम कह सकते हैं। ये अर्थदर्शी रूपग्रामों के साथ संयुक्त होकर रूप या

पद निर्मित करते हैं। अर्थदर्शी रूपग्रामों के साथ सम्बन्धदर्शी रूपग्रामों के संयुक्त होने की प्रत्येक भाषा की अपनी पद्धतियाँ होती हैं और कालान्तर में इनमें परिवर्तन भी होते रहते हैं। उदाहरण के लिए संस्कृत भाषा के पद 'हस्तेन' में अर्थदर्शी हस्त और सम्बन्धदर्शी—एन जिस ढंग से संयुक्त हैं उसी ढंग से संस्कृत से विकसित हुई भाषा हिन्दी के पद—'हाथ से' या 'हाथ के द्वारा' में संयुक्त नहीं हैं।

खण्डीकरण (Segmentation) की दृष्टि से रूपग्रामों के दो भेद हैं—(१) खण्ड्य रूपग्राम (Segmental morpheme) जिन्हें रूप या पद से अलगाया जा सके। जैसे 'सुन्दरता' में सुन्दर+ता इन दोनों रूपग्रामों को अलगाया जा सकता है। ये खण्ड्य रूपग्राम हैं। (२) अखण्ड्य रूपग्राम (Supra Segmental morpheme)—इन्हें रूप या पद से अलगाया नहीं जा सकता। बलाघात (Stress), सुराघात (Pitch) आदि अखण्ड्य रूपग्राम हैं।

एक रूपग्राम के अनेक संरूप होते हैं। ये संरूप संध्वनियों की तरह ही विभिन्न परिवेशों में प्रयुक्त होते हैं। अर्थात् व्यतिरेकी वितरण (Contrastive distribution) में न आकर परिपूरक वितरण (Complementary distribution) में आते हैं। उदाहरण के लिए असहिष्णु, अबुद्धिमत्तापूर्ण इन हिन्दी रूपों में 'अ—' निषेधसूचक अर्थदर्शी खण्ड्य रूपग्राम है। लेकिन अनधिकार, अनावश्यक, अनिच्छा, अनीश्वर रूपों में यह 'अन्—' क्या है? वास्तव में यह 'अ—' रूपग्राम का ही संरूप है। 'अ—' और 'अन्—' दोनों ही भिन्न परिवेशों में प्रयुक्त होते हैं। अर्थात् दोनों परिपूरक वितरण में हैं। 'अ—' का प्रयोग तभी होगा जब कि उससे संयुक्त होने वाले रूप या रूपग्राम में पहली ध्वनि व्यंजन हो। यह 'अ—' का अपना परिवेश है। इसमें 'अन्—' का प्रवेश वर्जित है। 'अन्—' का प्रयोग तभी होगा जब कि उससे संयुक्त होने वाले रूप या रूपग्राम में पहली ध्वनि स्वर हो। जैसे अधिकार, आवश्यक, इच्छा, ईश्वर में अ, आ, इ और ई। यह 'अन्—' का अपना परिवेश है। इसमें 'अ—' का प्रयोग नहीं हो सकता। इस प्रकार 'अ—' और 'अन—' का वितरण परिपूरक है। वे एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी, व्यतिरेकी या Contrastive नहीं हैं। अधिक प्रयोग के कारण 'अ—' को रूपग्राम (morpheme) कहेंगे। 'अन्—' उसका संरूप (allomorph) है। 'अन्—' उस परिवेश में नहीं जायगा जो 'अ—' का है। इसी प्रकार 'अ—' उस परिवेश में नहीं जायगा जो 'अन्—' का है। क्योंकि दोनों का दल एक है। जैसे एक ही दल के दो व्यक्ति एक ही चुनाव-क्षेत्र में खड़े नहीं होते वैसे ही संरूप अपने

रूपग्राम या रूपग्राम अपने संरूप के परिवेश में प्रयुक्त नहीं होता। भिन्न दल का व्यक्ति उसी चुनावक्षेत्र से खड़ा हो सकता है। इसी प्रकार अन्य रूपग्राम 'अ—' या 'अन्—' के परिवेश में प्रयुक्त हो सकता है। जैसे 'सु—', 'कु—' आदि रूपग्राम सुसहिष्णु, सुबुद्धिमत्तापूर्ण, सुअधिकार, सुआवश्यक, सुइच्छा, सुईश्वर, कुसहिष्णु, कुबुद्धिमत्तापूर्ण, कुअधिकार, कुआवश्यक, कुइच्छा, कुईश्वर इन रूपों में प्रकट हो सकते हैं।

जब दो या अधिक रूपों या रूपग्रामों का संयोग होता है तो प्राय: कुछ ध्वन्यात्मक या ध्वनिग्रामीय परिवर्तन घटित होते हैं। ऊपर के उदाहरणों में 'अ—' रूपग्राम और 'आवश्यक' रूप के संयुक्त होने पर रूप बनना चाहिए था 'अ आवश्यक', लेकिन बनता है 'अनावश्यक'। यह परिवर्तन क्यों हुआ, इसका अध्ययन रूपध्वनिग्रामविज्ञान (Morphophonemics) के अन्तर्गत किया जाता है। रूपध्वनिग्रामिक परिवर्तनों से शब्द या रूपों के स्वरूप में अन्तर आ जाता है। जैसे घोड़ा + दौड़ = घुड़दौड़, पान + आई = पनयाई; बॉय + स् = बॉयज़ आदि। इन परिवर्तनों का अध्ययन प्राचीन भारतीय सन्धि के अन्तर्गत किये गये अध्ययनों से अधिक व्यापक है। क्योंकि सन्धि में संयुक्त होने वाले दो रूपों या रूपग्रामों के केवल उन्हीं परिवर्तनों का अध्ययन रहता है जो पहले रूप के अन्त और दूसरे रूप के आरम्भ में घटित होते हैं। रूपध्वनिग्रामविज्ञान में ऐसी स्थितियों के अन्य स्थानीय परिवर्तन भी, जैसे उक्त उदाहरणों में घो>घु, पा>प अध्ययन के विषय होते हैं।

रूपों से वाक्य निर्मित होते हैं। वास्तव में रूपशास्त्र और वाक्यशास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राय: सभी भाषाओं में वाक्य-गठन के कारण रूप-गठन में परिवर्तन हो जाता है। तात्पर्य यह कि भाषाओं में रूपों का गठन बहुत कुछ वाक्यों के गठन पर निर्भर है। Mohan killed Ram वाक्य के इस गठन में मोहन और राम इन रूपग्रामों के साथ क्रमशः कर्ता तथा कर्म कारक के शून्य रूपग्राम भी जुड़े हुए हैं। लेकिन Ram killed Mohan इस वाक्य में कर्ताकारक का रूपग्राम मोहन के स्थान पर राम के साथ और कर्म कारक का राम के स्थान पर मोहन के साथ संयुक्त हो बैठा है। इसीलिए अनेक भाषाशास्त्री रूप और वाक्य इन दोनों का अध्ययन एक साथ ही करते हैं।

रूप, रूपग्राम, ध्वनिग्राम, ध्वनि आदि में वाक्य का विभाजन कृत्रिम और भाषाशास्त्रीय देन है। हम भाषा के गठन का अध्ययन ध्वनि से आरम्भ न करके वाक्य से भी कर सकते थे। लेकिन मानवीय चिन्तन लघु से महत् की ओर गमन करता है।

फिर वैज्ञानिक विश्लेषण ही एक कृत्रिम कार्य है। इसलिए उसे भाषा की कृत्रिम इकाई ध्वनि से आरम्भ करने में हानि ही क्या है? ध्वनि से अध्ययन का आरम्भ करना सुविधापूर्ण भी है। और फिर वाक्य से अध्ययन आरम्भ करके हम वाक्य की स्वाभाविकता का एक सतही बोध उत्पन्न करने के सिवा और कुछ उपलब्ध भी तो नहीं करते।

भाषा में वाक्य की स्वाभाविक सत्ता है। इसीलिए उसकी महिमा का गान किया जाता है—'वैयाकरण पद और पदार्थ को अन्तिम सत्य नहीं मानते हैं, असत्य मानते हैं, अनित्य मानते हैं, माया मानते हैं, पद और पदार्थ अविद्या हैं, अज्ञान हैं, अवास्तविक हैं। अतएव वैयाकरण पदवाद का खण्डन करके वाक्यवाद की स्थापना करते हैं, पदस्फोट का खण्डन करके वाक्यस्फोट का ही समर्थन करते हैं।........ वाक्य ही सार्थक होता है, प्रत्येक पद नहीं।.. ......वाक्य ही अक्षर, ध्रुव, कूटस्थ, अपरिणामी, अक्षय एवं किसी प्रकार के अवयवों से रहित है, पद नहीं।'[1]

बच्चे पहले वाक्य सीखते हैं। वे अपने आसपास की भाषा को वाक्यों के माध्यम से पकड़ते हैं। वे कहेंगे—'घर चलो' लेकिन 'घर चलो' में कौन-कौन सी ध्वनियाँ हैं और 'घर' का तथा 'चलना' का शब्दकोश में क्या अर्थ है, 'चलना' से 'चलो' कैसे बना, इसे वे बहुत बाद में सीखते हैं। लेकिन यह भाषा को सीखने की बात है, उसके भाषाशास्त्रीय अध्ययन की नहीं। भाषाशास्त्रीय अध्ययन के लिए ध्वनियों या संध्वनियों से अध्ययन आरम्भ करना सुविधाजनक है। संध्वनि से ध्वनिग्राम, फिर रूप और रूपग्राम, इसके पश्चात् अध्येता रूपों से बननेवाले वाक्यों तक पहुँचता है।

अर्थ भाषा के गठन (Structure) के अन्तर्गत नहीं है। यद्यपि भाषा के सम्पूर्ण गठन का उद्देश्य उसी को ध्वनित करना है। वह प्राण है। देह वह नहीं है। इसलिए जो अध्येता केवल भाषा के गठन का अध्ययन करता है वह अर्थ पर विचार करने की आवश्यकता नहीं समझता। देह के गठन को समझने के लिए प्रयत्नशील व्यक्ति विभिन्न शिराओं और हड्डियों को ही अपने अध्ययन का विषय बनायेगा। उसके लिए प्राण का विवेचन न करना अनुचित नहीं है। स्वभावतः संरचनात्मक (Structural), विश्लेषणात्मक (Analytical), वर्णनात्मक (Descriptive) या संकालिक (Syncronic) भाषाशास्त्र में अर्थ को कुछ भी महत्व न देने की

१. **अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन—कपिलदेव द्विवेदी, एक शब्द, पृष्ठ १, १९५१।**

प्रवृत्ति है। अमरीका के भाषाशास्त्रियों में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से उग्र है। वे अपना सम्बन्ध, क्या कहा गया है इससे नहीं मानते बल्कि किन ध्वनियों, रूपों और वाक्यों के द्वारा कहा गया है, इससे मानते हैं। Zelling S. Harris ने स्पष्ट रूप से अर्थ की अपेक्षा वितरण को महत्व दिया है।[१] वास्तव में इस सम्बन्ध में मतभेद हो सकते हैं। ध्वनिग्राम और रूपग्रामों को छाँटने के लिए अर्थ का ज्ञान सहायक होता है। भाषा के गठनात्मक स्वरूप का अध्ययन करने के लिए अर्थ एक साधन के रूप में सहायता पहुँचा सकता है। गठनात्मक भाषाशास्त्री इस साधन का उपयोग करके आगे बढ़ जाता है। लेकिन इस साधन का उपयोग किये बिना आगे बढ़ना कठिन है। उदाहरण के लिए Singer, thinker आदि में आया हुआ—er एक रूपग्राम है, किन्तु larger, greater आदि में आया हुआ—er भिन्न रूपग्राम है। इस तरह ये दोनों दो भिन्न रूपग्राम हैं। इनकी भिन्न-रूपग्रामता पहचानने के लिए इनकी अर्थभिन्नता को जान लेना एक सुविधाजनक मार्ग है। यदि अर्थ को न जानकर केवल वितरण को ही देखने की चेष्टा की जायगी तो अध्येता सही निष्कर्ष पर तो निश्चय ही पहुँच जायेगा, लेकिन उसे अपेक्षाकृत अधिक समय और परिश्रम व्यय करना होगा।

अर्थ को महत्व न देने की बात के पीछे कुछ कारण हैं। मुख्य कारण यही है कि इससे कई बार निष्कर्ष गलत हो सकते हैं। सूचक गलत अर्थ बता सकता है या उसका अर्थ अनुमान पर आधारित हो सकता है, स्वयं अध्येता भी अर्थ के कारण व्यक्ति-निष्ठ दृष्टि से ग्रस्त हो सकता है; किन्तु ऐसी परिस्थितियों में अध्येता को और अधिक खोजबीन कर लेनी चाहिए। फिर भी जहाँ व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि के आ जाने का डर हो वहाँ अर्थ को महत्व न देना ही उचित होगा। सुविधा के साथ गलत निष्कर्ष पर पहुँचने की अपेक्षा असुविधा के साथ सही निष्कर्ष पर पहुँचना कहीं अच्छा है।

गठनात्मक भाषाशास्त्री किसी कालखण्ड में भाषा के गठन को स्पष्ट करने के लिए उपलब्ध सामग्री का विवेचन सहज ही कर सकते हैं। लेकिन उस कालखण्ड में अर्थ के सम्बन्ध में वे क्या विचार करें? यदि वे यह विचार करते हैं कि अमुक शब्द का सम्बन्धित कालखण्ड में जो अर्थ है वह मूलतः कुछ और था, तो वे ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में प्रविष्ट होते हैं। और यदि शब्दों का प्रचलित अर्थ लिख देते हैं तो केवल शब्दकोश की ही रचना करते हैं। इसलिए उचित यही है कि वे किसी कालखण्ड में भाषा के गठन—ध्वनियों, ध्वनिग्रामों

१. Methods In Structural Linguistics—Page 3.

ध्वनिसंयोगों, रूपग्रामों, रूपों और वाक्य-रचना का अध्ययन करें और इन सबकी परिवर्तनशीलता तथा अर्थ का विषय ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के लिए छोड़ दें। परिवर्तन की प्रक्रिया ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही घटित होती है। इसलिए परिवर्तन के साथ इतिहास का बोध जुड़ा हुआ है ही। चूँकि सबसे अधिक परिवर्तन अर्थ में होता है और अर्थ भाषा के गठन का अंग नहीं है, इसलिए अर्थपरिवर्तन का विषय ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का सर्वाधिक अपना और उक्त शास्त्रों की तुलना में केवल उसका ही विषय है।

परिवर्तन या विकास की अनिवार्यता

भाषा का अपना गठन है। वह ध्वनियों, ध्वनिग्रामों, रूपग्रामों, रूपों और वाक्यों से गठित होती है। उसका उच्चारण उच्चारण-अवयवों से होता है। यह भाषा का भौतिक आधार (Physical aspect) है। अर्थ का सम्बन्ध मनुष्य की भावधारा और चिन्तनशक्तियों से है, वह मनुष्य के मन-मस्तिष्क की उपज है। मनुष्य के मन-मस्तिष्क भी निरपेक्ष सत्ता नहीं हैं। वे बाह्य वातावरण से प्रभावित होते हैं। किसी भाषा को बोलने वाली जाति का एक अपना परिवेश होता है। यह परिवेश बदलता है तो मनुष्य के मन-मस्तिष्क बदलते हैं, भावधाराएँ, चिन्तन-सरणियाँ और सूक्ष्म कल्पना-छवियों में परिवर्तन होते हैं और सबका प्रभाव यह होता है कि भाषा का मानसिक पक्ष बदल जाता है। किसी विशिष्ट ध्वनि-समूह में कल तक जो अर्थ था वह गौण या समाप्त हो जाता है और उसका स्थान एक नया अर्थ ले बैठता है। भाषा के दोनों ही आधार उसे परिवर्तनशीलता की दिशा में ले जाते हैं। भौतिक आधार भाषा को उतना परिवर्तनशील नहीं बनाता जितना मानसिक आधार। इसीलिए भाषाओं में जितना शब्दार्थ-परिवर्तन होता है उतना और कोई परिवर्तन नहीं।

उच्चारण-अवयवों और ध्वनियों के वर्गीकरण का जो विवेचन हमने किया है उससे सहज ही यह समझा जा सकता है कि विभिन्न भाषाध्वनियों के उच्चारणों में कितने सूक्ष्म और अल्प अन्तर हैं। हमने दन्त्य, स्पर्श, अघोष, अल्पप्राण, ध्वनि का उच्चारण करना चाहा, लेकिन फेफड़ों से हवा की मात्रा कुछ अधिक आ गयी तो हम वांछित उच्चारण त् के स्थान पर थ् का उच्चारण कर जायेंगे। हवा की मात्रा ठीक रही लेकिन स्वरतंत्रियाँ परस्पर निकट आकर कुछ तन गयीं तो उच्चारण हो जाएगा द्। विवृति, संवृति, अग्रता, पश्चता, होठों की वृत्तमुखता आदि में अन्तर करके हम इतनी स्वरध्वनियाँ उत्पन्न कर सकते हैं कि साधारण मानवीय श्रवण-शक्ति से हम उनके अन्तरों को शायद पहचान ही न सकें। ध्वनियों के उच्चारण की यह व्यवस्था ऐसी है कि वक्ता यदि तनिक भी असावधान हो तो कुछ का कुछ उच्चारण हो जाय। अन्य भाषाओं को सीखते समय उच्चारणों के ये स्वल्प अन्तर समझ में आते हैं। अंग्रेजी t ध्वनि वर्त्स्य है। हम उसका उच्चारण प्रायः मूर्धन्य करते हैं।

केवल मुख्य ध्वनिग्रामों के उच्चारण में ही नहीं गौण ध्वनिग्रामों के उच्चारण में भी सावधान रहने की आवश्यकता होती है। बलाघात का तनिक सा स्थानान्तर,

सुराघात का जरा सा भेद मात्रा, और विवृति (Juncture) के अन्तर अर्थ को बदल सकते हैं। मनुष्य भाषा के सम्बन्ध में जितना सावधान और आलस्यत्यागी है उतना शायद किसी भी माध्यम या विधा के सम्बन्ध में नहीं है। फिर भी असावधानी और आलस्य के स्वाभाविक क्षण आते ही हैं। इन क्षणों की आवृत्ति किन्हीं विशिष्ट शब्दों में स्थायी ध्वनिपरिवर्तन उत्पन्न कर देती है। यही असावधानी उच्चारणों को नोट से लोट, नम्बरदार से लम्बरदार और सिनेमा से सुलेमा तक पहुँचाती है। और यदि जुलूस के लेखक फणीश्वरनाथ रेणु को प्रमाण माना जाय तो जनाना शब्द को जलाना[1] तथा लैमनचूस को नेमनचूस में[2] बदल देती है। यहाँ नासिक्य अल्प-प्राण: मघोष वर्त्स्य ध्वनि न् के स्थान पर पार्श्विक अल्पप्राण सघोष वर्त्स्य ध्वनि ल का और ल् के स्थान पर न् का उच्चारण हो बैठा है। लेकिन अर्थ में कोई अन्तर नहीं आया है। अर्थ में अन्तर न पड़ता हो तो ध्वनि के उच्चारण में असावधानी और भी बढ़ जाती है। कहा जाता है कि जर्मन कवि गेटे ने अभिनेताओं की आलो-चना की थी कि वे कुछ अघोष और सघोष ध्वनियों का भेद नहीं कर पाते हैं। हिन्दी में आज ऐसी आलोचना श् और स् ध्वनियों में भेद न कर पाने के कारण होती है। वास्तव में ध्वनियों के उच्चारण की व्यवस्था ही ऐसी है कि यहाँ मनुष्य का फिसल जाना असम्भव नहीं है।

ध्वनियों के परिवर्तन अर्थ में अन्तर भी ला सकते हैं। गर्भिणी शब्द ध्वनियों के परिवर्तन से गाभिन, स्थान शब्द थान और स्तन शब्द थन में परिवर्तित हुआ और इस ध्वनिपरिवर्तन से अर्थ में भी परिवर्तन हो गया। गर्भिणी, स्थान तथा स्तन शब्द का जो अर्थ है वही अर्थ गाभिन, थान और थन का कहाँ है। आप किसी भी व्यक्ति से कह सकते हैं कि आप अपने स्थान पर चलिए। लेकिन उनसे यह कहाँ कहा जा सकता है कि आप अपने थान पर चलिए। विकसित या बोलचाल के शब्दों को ही यह भिन्न अर्थ क्यों दिया गया? तत्सम शब्दों को ही क्यों यह अर्थ नहीं दिया गया? इसके दूसरे कारण हैं जिन्हें इस भाषा को बोलने वाली जाति के मानसिक परिप्रेक्ष्य में समझना होगा। वास्तव में भाषाओं के छोटे-बड़े किसी भी परिवर्तन के पीछे कोई एक ही कारण नहीं होता। अर्थ के परिवर्तन ही नहीं ऊपर से निरपेक्ष दिखाई देने वाले ध्वनि-परिवर्तन भी समाज की सापेक्षता में देखे-परखे जा सकते हैं।

ध्वनियों में परिवर्तनशीलता की सम्भावनाएँ केवल उनके उत्पादक-स्रोत,

१. बंगाला मुलुक की जलाना—जुलूस, पृष्ठ ११२।
२. छोटी बहू बोली नेमनचूस है—वही, पृष्ठ १२४।

उच्चारण-अवयवों के कारण ही नहीं हैं बल्कि ध्वनियों के प्रयोग से भी परिवर्तनशीलता की सम्भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। ध्वनि शब्दों में अन्य ध्वनियों के साथ ही प्रयुक्त होती है। ये अन्य ध्वनियाँ इसका परिवेश निर्मित करती हैं। कोई ध्वनि किसी उच्चार या शब्द में किस स्थान पर प्रयुक्त है और उसके पड़ोस में कौन सी ध्वनियाँ हैं यह उस ध्वनि का परिवेश है। ध्वनि के प्रयुक्त रूप की संज्ञा संध्वनि (Allophone) है। एक ध्वनिग्राम अनेक परिवेशों में पहुँचकर अनेक संध्वनियों वाला हो सकता है। परिवेशों की कोई गिनती नहीं है। इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है—

मान लीजिए किसी भाषा में a, b, h ये तीन ध्वनिग्राम हैं। रूप-रचना के लिए परस्पर निकट आकर ये अपने लिए इस प्रकार विभिन्न परिवेशों को निर्मित कर सकते हैं—

ab	ba	ha
ah	bh	hb
abh	bah	hab
ahb	bha	hba

a ध्वनिग्राम — १० परिवेश
b ध्वनिग्राम — १० परिवेश
h ध्वनिग्राम — १० परिवेश

उपर्युक्त ध्वनिग्रामों के द्वित्व रूप भी पाये जा सकते हैं। वैसी स्थिति में परिवेशों की संख्या और भी बढ़ जाएगी। इससे इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि वे भाषाएँ जो ४०–५० ध्वनिग्रामों का प्रयोग करती हैं, कितने अधिक परिवेशों की सृष्टि कर सकती होंगी। साधारणतया कोई भी भाषा परिवेशों की इन समस्त सम्भावनाओं का उपयोग नहीं करती। फिर भी अपने ध्वनिग्रामों के लिए वे अनेकानेक परिवेश प्रस्तुत करती हैं और ये परिवेश ध्वनिग्रामों को अपने अनुकूल ढालकर उन्हें संध्वनि का रूप प्रदान करते हैं। परिवेश के अनुसार ढलने की प्रक्रिया में ध्वनियों में परिवर्तन होते हैं। यह परिवर्तन भाषा-परिवर्तन के लिए बहुत अधिक उत्तरदायी नहीं है। किन्तु फिर भी कुछ परिवर्तन तो इससे होता ही है। जैसे—

काक = क्+आ + क्+अ (अन्तिम अ हिन्दी उच्चारण में लुप्त हो गया है।)

यहाँ आ और अ, सघोष ध्वनियाँ हैं। इन्होंने अपने मध्यवर्ती व्यंजन क् को सघोषता

प्रदान करनी आरम्भ की। आज हिन्दी में वह पूरी तरह सघोष हो गया है और इसी रूप में लेखन में भी अंगीकृत कर लिया गया है—

काक>काग = क् + आ + ग् + अ

क् और ग् में केवल घोषत्व का ही तो अन्तर है, और सब समानताएँ हैं। क् अर्थात् स्पर्श, अल्पप्राण, अघोष, कोमल तालव्य ध्वनि। ग् अर्थात् स्पर्श, अल्पप्राण, सघोष, कोमल तालव्य ध्वनि। लेकिन उक्त उदाहरण में ग् क् ध्वनिग्राम की ही एक संध्वनि है जो अपने सघोष परिवेश के कारण सघोष हो बैठी है। यहाँ वह ग् ध्वनिग्राम की संध्वनि नहीं है।

इसी प्रकार वाङमय और जगदीश इन उच्चारों में वस्तुतः क् और त् ध्वनिग्राम ही हैं जो अपने परिवेश के कारण क्रमशः ङ और द् सुनाई देते हैं और लिखे भी जाते हैं। क् ध्वनि जो अघोष अननुनासिक है, सघोष आ और नासिक्य सघोष म् के मध्य उच्चरित होते होते अपने ही वर्ग की सघोष नासिक्य ध्वनि ङ् के रूप में सुनाई देने लगी। वह वैसी ही लिखी भी जाने लगी। जगदीश में सघोष ग् और सघोष ई के मध्य उच्चरित होने वाली त् ध्वनि अपने परिवेश के कारण ही वर्ग की सघोष अल्पप्राण ध्वनि द् के रूप में सुनाई देने लगी और लेखन में भी इसी रूप में अंगीकृत हुई। यहाँ भी ङ और द् ध्वनियाँ क्रमशः क् और त् ध्वनिग्राम की संध्वनियाँ हैं—

| क् |	[क्]	[ङ]
| त् |	[त्]	[द्]

उक्त ध्वनिक्षेत्रीय परिवर्तन-प्रक्रिया भाषा के अपने गठन के कारण है। फलस्वरूप मनुष्य का उस पर नहीं के बराबर ही वश है। यानी यदि हम चाहें भी कि हम काग, वाङमय और जगदीश शब्दों को काक, वाक्मय और जगतीश के रूप में ही बोलें तो यह हमारे लिए भी बहुत समय तक सम्भव नहीं है। फिर सम्पूर्ण हिन्दी भाषा-भाषियों के लिए तो और भी असम्भव है। हम स्वाभाविक रूप से और अनजान में ही काग्, वाङमय तथा जगदीश उच्चारणों पर जा पहुँचेंगे।

भाषा में मूलभूत और महत्वपूर्ण परिवर्तन उसके बोलने वालों के द्वारा घटित होते हैं। ये परिवर्तन, ध्वनियों, रूपों, वाक्यों और शब्दार्थों में दिखाई देते हैं। किसी भाषा के बोलने वालों के द्वारा जिन कारणों से भाषा परिवर्तित होती है उनमें मुख्य हैं—प्रयत्नलाघव, अनुकरण की अपूर्णता और सबसे बढ़कर ज्ञान-विज्ञान के नित-

नये आयामों की खोज। अन्य भाषाभाषियों का सम्पर्क या आक्रमण या उनका शासन भी भाषा के समक्ष परिवर्तन की सम्भावनाएँ उपस्थित करता है।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हम श्रम की बचत करते हैं। यदि थोड़े श्रम से ही कोई कार्य सम्भव होगा तो स्वभावतः हम उसके लिए अधिक श्रम नहीं करेंगे। मशीनों के इतने आविष्कार हमारी इस वृत्ति के भी परिणाम हैं। उच्चारों के सम्बन्ध में भी यह बात सच है। ऐसे शब्द जिनके उच्चारण में अधिक प्रयत्न लगता है उन्हें परिवर्तित करके लघु प्रयत्न से उच्चरित होने योग्य बना लिया जाता है। अधिक प्रयत्न या तो शब्दों की अनावश्यक लम्बाई के कारण लगता है या हमारे सहज उच्चारण-अभ्यास से भिन्न उनकी ध्वनि-रचना के कारण। इसलिए या तो उन्हें छोटा बना लिया जाता है या उन्हें अपने उच्चारण-अभ्यास के अनुकूल ध्वन्यात्मक स्वरूप दे दिया जाता है। जैसे—

उपाध्याय	>	झा
अनाज	>	नाज
अजवाइन	>	जबाइन[1]
आदित्यवार	>	इतवार
कलैक्टर	>	कलट्टर
स्नान	>	इस्नान, अस्नान, सनान
स्कूल	>	इस्कूल, सकूल
स्कम्भ	>	खम्भा

प्रयत्नलाघव किस रूप में घटित होता है यह शब्द की आन्तरिक रचना और बोलने वालों के अपने उच्चारण-अभ्यास पर निर्भर है। कहीं कुछ ध्वनियों का लोप हो सकता है, जैसे उपाध्याय, अनाज आदि शब्दों में। यहाँ इन शब्दों में या के आ और ना के आ स्वर पर बलाघात है—उपाध्याय, अनाज। फलस्वरूप इनका लोप सम्भव नहीं था। जिन ध्वनियों पर बलाघात नहीं है उनमें से अधिकांश का लोप होकर शब्द झा और नाज के रूप में बच गये। कलैक्टर शब्द बोलने वालों के उच्चारण-अभ्यास के अनुसार ढलकर कलट्टर हो गया। यहाँ ट् ध्वनि ने अपनी पूर्ववर्ती ध्वनि क् को अपने समान करके समीकरण की प्रक्रिया का निर्वाह किया। स्कूल शब्द से बने इस्कूल और सकूल शब्द स्वर-आगम के उदाहरण हैं। पहले में आदि-स्वरागम और दूसरे में मध्य स्वरागम है। इन शब्दों को मूल शब्द की अपेक्षा अधिक लम्बाई

१. रीवा, म० प्र० में उच्चरित।

देकर बोलने वालों ने अपने सहज उच्चारण-अभ्यास के अनुरूप ढाल लिया है। दो भिन्न प्रदेशों के भिन्न उच्चारण-अभ्यासों के कारण मूल शब्द को दो भिन्न रूप प्राप्त हुए। हिन्दी का उच्चारण है इस्कूल और पंजाबी का सकूल। उच्चारण-अभ्यासों की भिन्नता के कारण प्रभावित ध्वनियों का पं० किशोरीदास वाजपेयी ने विस्तृत चित्रण किया है—'कहा' व्रज में क्या के अर्थ में बोला जाता है, जिसका 'ह्' पूरब की ओर चलते-चलते घिसता जाता है। मैनपुरी तक कुछ झनक मिलती भी है, पर आगे कोरा 'का' रह जाता है—'कहा करै निरबल मनुज ?' 'का करै कोऊ उन ते लड़िकै।' आगे जैसे-जैसे पूरब में भाषा बढ़ती जाती है, 'ह्' के दर्शन कम होते जाते हैं। बंगाल में 'आमार' हो गया है हमारा 'हमार'।.........बंगाल में ह् जैसे उड़ता है, पंजाब में वैसे ही जमता है। एक मधुर भाषा है, दूसरी कठोर। मधुर भाषा को महा-प्राण की कर्कशता न चाहिए। पंजाबी भाषा को उसकी जरूरत है। वह 'और' को भी 'होर' बना लेती है और 'इक' को 'हिक'।[1]

डॉ० रामविलास शर्मा ने प्रयत्नलाघव के सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। अपने पक्ष-समर्थन में उन्होंने दो तर्क प्रस्तुत किये हैं—

'भाषा-विकास के मूल कारणों में प्रयत्नलाघव एक कारण बताया जाता है। सिद्धान्त यह है कि कम से कम शक्ति खर्च करके अपना काम निकाला जाय। शायद इसी तरह बोलने में भी मनुष्य अपनी श्रम-शक्ति बचाना चाहता है। राजनीतिक नेताओं के व्याख्यान सुनिए।.....जो बात पाँच मिनट में कही जा सकती है उसके लिए पचास मिनट तक स्वरयंत्र का संचालन करते हैं। बोलना भी एक तरह का व्यायाम है। कुछ स्त्रियाँ जब तक दो-तीन घण्टे इस तरह का दैनिक व्यायाम नहीं कर लेतीं तब तक उनका भोजन नहीं पचता।'[2] इस पहले तर्क के उत्तर में निवेदन किया जा सकता है कि जिन पर दुनिया का कोई भी नियम लागू नहीं होता उन पर यदि प्रयत्नलाघव का नियम भी लागू न हो तो इसमें इस बेचारे नियम का क्या दोष है। वास्तव में इन उदाहरणों से प्रयत्नलाघव के सिद्धान्त का खण्डन नहीं होता। पचास मिनट के भाषण को पाँच मिनट में सीमित करने के लिए केवल प्रयत्नलाघव की आकांक्षा ही पर्याप्त नहीं है। उसके लिए विशेष श्रम, योग्यता और भाषण के पूर्व लगभग पचास मिनट की मानसिक तैयारी चाहिए। इस पद्धति से तो पचपन मिनट का समय खर्च हो जायगा। कहना चाहिए कि सीधे उठकर पचास मिनट भाषण दे आने

१. भारतीय भाषाविज्ञान, चौखम्बा, १९५९, पृष्ठ ९४।

२. भाषा और समाज, १९६१, पृष्ठ ४७२।

से पाँच मिनट का प्रयत्नलाघव ही हो जाता है। किसी प्रसिद्ध वक्ता से पूछा गया—'पाँच मिनट का भाषण करने के लिए आपको कितना समय भाषण तैयार करने के लिए चाहिए?' उत्तर मिला—'एक घंटा।' 'दस मिनट के भाषण के लिए?' 'आधा घंटा' 'और घण्टे भर के भाषण के लिए?' 'चलिए, मैं इसी समय तैयार हूँ।'—वक्ता ने उठकर चलने की मुद्रा ग्रहण करते हुए उत्तर दिया।

फिर यह निर्णय तो श्रोता दे रहा है कि पाँच मिनट के भाषण के लिए पचास मिनट स्वरयंत्र का संचालन किया गया। सम्भव है, वक्ता की दृष्टि में साठ मिनट का भाषण उसके द्वारा पचास मिनट में दिया गया हो। और फिर यहाँ केवल ध्वनियों का प्रश्न नहीं है, समूचे भाषण का—उसके कथ्य का प्रश्न है, जिसके पीछे शायद यह वृत्ति हो कि भले ही कितना श्रम लगे अपने आपको अधिकतम रूप में अभिव्यक्त करना चाहिए। यही बातें दैनिक व्यायाम वाले उदाहरण के सम्बन्ध में भी कही जा सकती हैं। यह व्यायाम उनका दैनिक मनोरंजन हो सकता है। भोजन न पचने की बात कहकर इसके मनोरंजकत्व को स्वीकार भी किया गया है। मनोरंजन में कौन कमी करना चाहेगा? सम्भव है, यह अवकाशवती स्त्रियों का उल्लेख हो जिनके सामने श्रम की बचत का नहीं एक न्यूनतम आवश्यक श्रम करते रहने का प्रश्न होता है। फिर भले ही सब लोग शब्दों का अपव्यय कर रहे हों, यह सभी मानेंगे कि सभी लोगों का उद्देश्य अधिक से अधिक संक्षिप्त कथन है जो हमारे देश में सूत्रों और मंत्रों की दिशा है।

डॉ० शर्मा का दूसरा तर्क है—'बंगाल में धीरेन्द्र का धीरेन् हो जाता है तो पंजाब में धीरेन्दर भी सुनाई देगा। यह भेद समझ में आएगा दोनों प्रदेशों की ध्वनि-प्रकृति का भेद जानने से। यदि प्रयत्नलाघव का ही सवाल होता तो पंजाब और बंगाल दोनों जगह धीरेन् ही सुनाई देता।'[1] हम लिख चुके हैं कि प्रत्येक प्रदेश या प्रत्येक भाषा-भाषी जाति अपने उच्चारण-अभ्यासों या संस्कारों के अनुसार शब्दों में प्रयत्नलाघव को घटित करेगी। हम देख चुके हैं कि पंजाबी भाषा के प्रदेश में किसी शब्द के जिस उच्चारण से श्रम की बचत होती है, कोई अनिवार्य नहीं कि बंगाली भाषाभाषी प्रदेश में उसी उच्चारण से श्रम की बचत हो। अंग्रेजों का उदाहरण लें तो उनके लिए हिन्दी की मूर्धन्य ट्, ड् ध्वनियों का मूर्धन्य उच्चारण श्रम की बचत नहीं करेगा, उनका वर्त्स्य उच्चारण श्रम की बचत करेगा। इसके विपरीत हिन्दी भाषाभाषियों के लिए अंग्रेजी की वर्त्स्य ट्, ड् ध्वनियों का मूर्धन्य उच्चारण श्रम की बचत करेगा। यह प्रश्न नहीं

१. भाषा और समाज, १९६१, पृष्ठ ४७२।

उठाया जा सकता कि यदि प्रयत्नलाघव का सिद्धान्त सच्चा है तो दोनों को ही समान रूप से या तो वर्त्स्य उच्चारण से प्रयत्नलाघव होगा या मूर्धन्य से। छत से लटकते हुए बल्ब को उतारने के लिए कोई कुर्सी पर खड़ा होकर प्रयत्नलाघव कर सकता है और कोई केवल थोड़ा पंजों के बल खड़ा होकर तना हुआ हाथ ऊपर उठाकर।

प्रयत्नलाघव की वृत्ति के कारण ही भाषा में सादृश्य की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। पहले से विद्यमान पद्धतियों या प्रतिमानों के आधार पर नये शब्दों को परिवर्तित या निर्मित करने की प्रवृत्ति सादृश्य है।[1] वास्तव में ज्ञात के आधार पर ही नवपरिचित को समझने की अनजान चेष्टा हमारे द्वारा होती है। इससे नव-परिचित को स्मृति में रखना भी सरल हो जाता है। नये क्वार्टर या नये कार्यालय की व्यवस्था, साज-सज्जा हम अपने पहले के क्वार्टर या कार्यालय के आधार पर ही करते हैं। भाषा में सादृश्य के कारण अपवादों की संख्या घटती चलती है। अपवादों को याद रखना श्रमसाध्य है। अपवादों की संख्या घटाकर सादृश्य श्रम की बचत करता है। इसीलिए हमने सादृश्य को प्रयत्नलाघव के अन्तर्गत रखा है। सादृश्य अपने आप में कोई कारण नहीं है। वह तो एक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया को हम प्रयत्नलाघव की दृष्टि से घटित होने देते हैं। भाषा के ऐतिहासिक विकास में सादृश्य की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। शब्दों और रूपों के अनेक परिवर्तन सादृश्य की भूमिका के कारण ही सामान्य नियमों से विवेचित नहीं हो पाते। संस्कृत चतुर्थी के एकवचन मध्यम पुरुष सर्वनाम से हिन्दी 'तुझ' का विकास हुआ है—

तुभ्यम् > तुज्झ > तुझ

लेकिन हिन्दी 'मुझ' का विकास मह्यम् से दिखाने में मुझ शब्द के उकार की समस्या हल नहीं होती। तुभ्यम् से तुझ तो ठीक है। दोनों ही शब्दों में उकार है। लेकिन मह्यम् में तो ऐसा कोई उकार नहीं है। वास्तव में यहाँ सादृश्य की भूमिका खोजनी होगी। सादृश्य की प्रवृत्ति ने मह्यम् से मझ का विकास न होने देकर मुझ का विकास होने दिया।

सादृश्य की प्रवृत्ति ध्वनि, अर्थ, रूप और वाक्य सभी क्षेत्रों में कार्य करती है।

द्वादश के सादृश्य पर एकदश का एकादश और स्वर्ग के सादृश्य पर नरक का नर्क हुआ है। संस्कृत पंचत्रिंशत् > पा० पंचतिंसति > प्रा० पणतीसं,

१. Dictionary of Linguistics, Page 12, Mario Pei and Frank Gaynor.

पन्नतीसं, पण्तीसं > अप० पँयत्तीस, पइँतिस > हि० पैंतिस, पैंतीस। यहाँ पंच-त्रिशत् से पैंतीस का विकास स्वाभाविक है। पंच के अनुस्वार ने पैंतीस के पैं को अनुनासिकता प्रदान कर दी। लेकिन संस्कृत सप्तत्रिंशत् शब्द के सप्त में कहीं अनुनासिकता है ही नहीं। इसलिए हिन्दी सैंतीस के अनुनासिकता युक्त सैं का विकास कैसे हुआ ? यहाँ भी पैंतीस के पैं के सादृश्य पर सैंतीस के सैं की प्राप्ति हुई है।

बोलचाल में ठंडी शब्द का अर्थ सम्भवतः गर्मी के सादृश्य पर ही ठंड हो गया है। इसी प्रकार बेफिजूल, बेबाहियात आदि शब्द अज्ञानवश ही नहीं; बेहया, बेकार आदि खराब अर्थ द्योतक शब्दों के सादृश्य पर भी फिजूल और बाहियात के वाचक बन गये हैं।

संस्कृत में अकारान्त पुंल्लिग शब्दों की संख्या बहुत अधिक है। फलस्वरूप उनके रूप भी अधिक प्रचलित हैं। स्वाभाविक था कि अकारान्त से इतर शब्दों के रूप भी अकारान्त पुंल्लिग शब्दों के सादृश्य पर चलने की प्रवृत्ति आरम्भ होती। प्राकृत काल में यह प्रवृत्ति स्पष्ट दीखती है। उकारान्त और इकारान्त शब्द वायु और अग्नि के संस्कृत में षष्ठी एकवचन रूप क्रमशः वायोः और अग्नेः होते हैं। लेकिन प्राकृत काल में इनके रूप प्रा० पुत्तस्स (सं० पुत्रस्य) की तरह वायुस्स तथा अग्गिस्स देखने को मिलते हैं।

अंग्रेजी की बली क्रियाओं (to go, to write, to put) में निर्बल क्रियाओं के सादृश्य पर—इड (–ed) लगाकर प्रयोग में लाने की प्रवृत्ति धीरे-धीरे और बढ रही है। इसी प्रकार अंग्रेजी में बहुवचन के रूपग्राम—एस को सादृश्य के आधार पर अनेक ऐसे शब्दों में भी लगा दिया जाता है जिनमें उसके लगाने का विधान नहीं है। चाइल्ड से चिल्डरैन के स्थान पर बॉय से बॉय्ज़ के सादृश्य पर चाइल्ड्ज बनाना स्मृति के लिए अधिक सहज है।

वान्द्रियँज़ का कथन है कि अमरीका की बोली जानेवाली भाषा में आइ शैल (I shall) और आइ विल (I will) का अन्तर समाप्त हो गया है और भविष्यत्काल के लिए केवल आइ विल का ही प्रयोग हो रहा है।[१]

हिन्दी वाक्य-रचना के संस्कारों के कारण अंग्रेजी वाक्य-रचना भी अनेक बार हिन्दी वाक्य-रचना के सादृश्य पर हो जाती है। इसी प्रकार कुछ व्यक्तियों की हिन्दी वाक्य-रचना अंग्रेजी वाक्य-रचना के सादृश्य पर होती है। उदाहरण के लिए

१. Language—Page 353.

जवाहरलाल नेहरू की भाषा में वाक्य-रचना का अध्ययन किया जा सकता है। उनके भाषणों की भाषा में तो कर्म की योजना प्रायः क्रिया के उपरान्त ही होती थी।

प्रत्येक भाषा का एक परिनिष्ठित रूप होता है जो साधारणतः उच्च मध्यम श्रेणी के लोगों के बीच प्रचलित होता है। यदि कोई राजनीतिक निहित स्वार्थ न हो तो रेडियो और समाचारपत्रों के माध्यम से भाषा का यही रूप प्रकट होता है। प्रत्येक भाषाभाषी इस रूप तक पहुँचने की चेष्टा करता है। यह चेष्टा अनुकरण के आधार पर होती है। लेकिन अनुकरण करने में अनेक बाधाएँ आती हैं। अनुकरणकर्त्ता के उच्चारण-अवयव, जो अपरिनिष्ठित उच्चारणों के अभ्यस्त होते हैं, सहज ही परिनिष्ठित उच्चारणों को ग्रहण नहीं करते। उच्चारण-अवयव विदेशी उच्चारों को ग्रहण करने में सबसे अधिक बाधा डालते हैं। वे इन उच्चारों को ज्यों का त्यों ग्रहण करने के स्थान पर अपने उच्चारण-अभ्यास के अनुसार ग्रहण करते हैं। अनुकरणकर्त्ता की अशिक्षा या अल्पशिक्षा परिनिष्ठित रूप का पूर्ण अनुकरण करने के मार्ग में बाधक सिद्ध होती है। फल यह होता है कि भाषा के परिनिष्ठित रूप से भिन्न लेकिन उसके निकट एक और रूप निर्मित हो जाता है जो बहुमत में प्रचलित होता है। धीरे-धीरे बहुमत में प्रचलित यह रूप परिनिष्ठित रूप बन जाता है और प्राचीन परिनिष्ठित रूप तिरस्कृत हो जाता है। इस प्रकार साधारण जन ही प्रत्येक बार भाषा को छानते हैं और उच्च वर्ग को सौंप देते हैं। शुद्ध अनुकरणवादी उच्च वर्ग की अपेक्षा भाषा को छानने का श्रम करने वाला यह साधारण वर्ग ही भाषा के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। विदेशी शब्दों के ग्रहण करने में यह प्रक्रिया विशेष रूप से देखी जा सकती है। उच्च-मध्य वर्ग या उच्च वर्ग ने विदेशी शब्दों, जैसे डॉक्टर, एंजिन, ज़माना का ज्यों का त्यों अनुकृत रूप परिनिष्ठित मान लिया। साधारण जन ने अपनी अल्पशिक्षा, अशिक्षा या वस्तुतः अपने उच्चारण-अभ्यास के अनुसार इसे छाना और डाक्टर, इंजन तथा जमाना का रूप दिया। परिनिष्ठित हिन्दी में ये नये रूप स्वीकृत कर लिये गये। इस प्रकार पूर्ण अनुकरण न कर पाने की बात व्यापक रूप से प्रयत्नलाघव के अन्तर्गत ही है।

भाषा की सम्पूर्ण समृद्धियों और क्षमताओं के बावजूद यह कहा जा सकता है कि संसार के ज्ञान-विज्ञान और नानाविध पदार्थों की तुलना में वह अभी भी पीछे है। भाषा द्वारा संसार को अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न एक प्रकार से सीमित साधनों द्वारा असीमित साधनों को प्राप्त करने की चेष्टा है। नये आविष्कार, नयी प्राकृतिक विजयें और नये विचार हर समय प्रकट हो रहे हैं और हमें उनके लिए शब्द चाहिए।

इसीलिए विकासशील समाज की भाषा तीव्रता से बदलती है। सूरदास (मृत्यु १५८३ ईसवी) से लेकर भारतेन्दु (मृत्यु १८८४ ईसवी) तक के कालखण्ड की भाषा के तथाकथित विकास की तुलना परवर्ती कालखण्डों के विकास से करें तो बात तुरन्त स्पष्ट हो जाएगी। परवर्ती काल में भारतेन्दु की भाषा से मैथिलीशरण गुप्त या महावीर प्रसाद द्विवेदी की भाषा कितनी भिन्न दीखती है। मैथिलीशरण गुप्त या महावीर प्रसाद द्विवेदी से आचार्य जगदीशचन्द्र मिश्र, प्रेमचन्द या प्रसाद, निराला, पन्त, रामकुमार वर्मा और फिर अज्ञेय की भाषा फिर बदली हुई है। बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों की भाषा के बाद हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों की भाषा का कितना भारी विकास है। बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा लिखित संस्मरणों की भाषा की तुलना में राजकुमार शर्मा द्वारा लिखित संस्मरणों की भाषा को परखा जा सकता है। मिश्रबन्धुओं की भाषा के बाद आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, शुक्लजी के बाद आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और वाजपेयीजी के बाद नामवर सिंह की भाषा में विकास के कितने स्पष्ट आयाम हैं। पचास वर्ष पूर्व के समाचारपत्र की भाषा से आज के समाचार पत्र की भाषा की तुलना की जा सकती है।[1] भाषा का इतना अधिक परिवर्तन या विकास इस बात का सूचक है कि विगत लगभग ६ वर्षों में हम ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों में निरन्तर प्रगति करते आये हैं। भाषा का यह परिवर्तन पीढ़ियों के बदलने से नहीं हुआ। पीढ़ियाँ तो सूरदास और भारतेन्दु के बीच भी बदली हैं और अधिक बदली हैं। यह विकास हुआ है समाज, अर्थ, राजनीति, विज्ञान आदि के क्षेत्रों में हमारे निरन्तर विकास के कारण। यह कथन कि पीढ़ियों के परिवर्तन से भाषा बदल जाती है[2] कुछ वैसा ही है जैसा कुछेक इतिहास-पुस्तकों का किसी साम्राज्य के पतन के कारणों के अन्तर्गत यह कथन कि जिसका उत्थान होता है उसका पतन अवश्यंभावी है, इसलिए अमुक साम्राज्य का पतन हो गया।

१. द टाइम्स ऑफ इण्डिया (सन् १८३८ में स्थापित) प्रतिदिन एक सौ वर्ष पूर्व प्रकाशित समाचार को 'ए हण्ड्रेड इयर्स अगो' के नाम से पुनः प्रकाशित करता है। एक कोने में प्रकाशित उक्त समाचार की सौ वर्ष पूर्व की अंग्रेजी से शेष समाचारों की आज की अंग्रेजी से तुलना करें तो भारतीय अंग्रेजी भाषा में भी विकास की यह स्थिति स्पष्ट दीखेगी।

२. आर० एम० पिडल (१९२६) तथा ए० डुरेफर (१९२७) का, जो कुछ स्थानों में अनेक वर्षों तक बड़ी सूक्ष्मता से पीढ़ी-परिवर्तन से भाषा पर पड़े प्रभावों का अध्ययन करते रहे, भोलानाथ तिवारी द्वारा उद्धृत तथा स्वीकृत मत कि पीढ़ी-परिवर्तन भाषा के परिवर्तन या विकास का सबसे बड़ा कारण है।
—भाषाविज्ञान, १९६९, पृष्ठ ५१।

जाति के विकास के साथ-साथ भाषा भी तात्कालिक स्थूल और प्रत्यक्ष की अभिव्यक्ति से बढ़कर दूरवर्ती, सूक्ष्म और परोक्ष की अभिव्यक्ति के लिए समर्थ होती है। इस दृष्टि से यह उचित ही है कि आरम्भ में जातिवाचक और व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ बनी हों और तत्पश्चात् गुणवाचक संज्ञाएँ। बहुत सी आदिम जातियाँ वस्तु से अलग उसके गुण की कल्पना ही नहीं कर पातीं। इसी प्रकार आरम्भ में क्रिया के वर्तमानकालिक रूप बने होंगे और तत्पश्चात् भूत और भविष्यत् काल के। डॉ० रामविलास शर्मा ने इसे संस्कृत की अस् धातु के रूपों के आधार पर स्पष्ट किया है—'भविष्य काल के लिए अस् धातु का कोई रूप नहीं होता। भू के रूपों से काम चलाया जाता है। अस् धातु का प्रयोग और भिन्न मानव-समूहों में उसका प्रसार उस समय हुआ होगा जब भविष्यकाल की धारणा मानव-मस्तिष्क में उत्पन्न न हुई थी। भारत और यूरोप की जो भाषाएँ आपस में मिलती-जुलती हैं उनमें वर्तमान काल के रूपों की समानता सबसे ज्यादा है, भूतकाल की उससे कम, भविष्य काल की सबसे कम है।'[1]

इसमें सन्देह नहीं कि भाषा का विकास सामान्य से विशेष अर्थ की ओर अनिश्चित और व्यापक अर्थ से निश्चित और सीमित अर्थ की ओर[2] होता है। लेकिन सब सामान्य अर्थों वाले शब्दों का विशिष्ट अर्थों से सम्बद्ध होना सर्वथा इसी नियम के अन्तर्गत हुआ है, ऐसा कहना कठिन है। इस प्रकार के अर्थ-परिवर्तन के पीछे अनेक ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक कारण होते हैं और यह भी सम्भव है कि इस सन्दर्भ के अनेक उदाहरणों में उक्त नियम का कोई हाथ ही न हो। उक्त नियम का स्पष्टीकरण करते हुए डॉ० शर्मा ने 'मृग' शब्द का भी एक उदाहरण दिया है, जिसका मूल अर्थ पशु था जो मलयालम में आज भी सुरक्षित है, लेकिन संस्कृत हिन्दी में सामान्य अर्थ से विशेष अर्थ की ओर भाषा की प्रगति के कारण जिसका अर्थ एक विशेष पशु हो गया है।[3] वास्तव में मृग का मूल अर्थ था जिसे ढूंढ़ा जाय (मृग्यते इति मृगः)। पशुओं को शिकार के लिए ढूँढ़ा जाता था इसलिए उनकी संज्ञा मृग पड़ गई थी। मृगया में शिकार सम्बन्धी अर्थ और मृगेन्द्र, मृगराज (पशुओं का राजा, सिंह), शाखा-मृग में पशुमात्र का अर्थ अब भी सुरक्षित है। इस बात की सम्भावना है कि बर्बरता, वीरता या साहस के शिथिल हो जाने के कारण मनुष्यों ने भयंकर पशुओं की अपेक्षा हरिणों का ही शिकार करना आरम्भ कर दिया हो। शिकार में अब केवल हरिणों

१. भाषा और समाज, पृष्ठ ४६३।
२. वही, पृष्ठ ५११।
३. वही, पृष्ठ ५१०।

को ही ढूँढ़ा जाने के कारण मृग संज्ञा उनके लिए रूढ़ हो गयी। इस प्रकार भाषा के सामान्य अर्थ से विशेष अर्थ की दिशा में प्रगति के कारण नहीं बल्कि ऐतिहासिक, सामाजिक कारणों से मृग शब्द हरिण के अर्थ में प्रचलित और नियत हो गया। हमारा आशय यह है कि उन बहुत सी बातों के लिए भी, जिन्हें हम दूसरे सामान्य नियमों या कारणों से सम्बद्ध कर रहे हैं, खोज करें तो बदली हुई ऐतिहासिक, सामाजिक परिस्थितियाँ ही निर्णायक मिलेंगी।

अन्य भाषाभाषियों का सम्पर्क, उनका आक्रमण और उनका शासन भी भाषा में परिवर्तन उपस्थित करता है। संसार भर की भाषाओं में इन कारणों से परिवर्तन हुए हैं। उत्तर भारत की भाषा भी विभिन्न सम्पर्कों, आक्रमणों और शासनों से होकर गुजरी है। चौथी और दूसरी शताब्दी ई० पू० के यूनानी, पहली शताब्दी ई० पू० के शक और पह्लव, पहली शताब्दी ईसवी के कुषाण, पाँचवीं शताब्दी के हूण, आठवीं शताब्दी के अरब, ग्यारहवीं और परवर्ती शताब्दियों के तुर्क, सोलहवीं और उसके बाद की शताब्दियों के मुगल और फिर अंग्रेज से हमारी भाषाओं का सामना हुआ। पुर्तगाली और फ्रान्सीसी प्रभाव भी आये। १९४७ के उपरान्त यह सम्पर्क अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क में बदल जाने के बाद भी हमारी भाषा का मुख्य सम्पर्क अंग्रेजी से ही बना हुआ है। १९४७ के पूर्व के हमारे सारे सम्पर्क बराबरी के स्तर पर न होकर विजेता और विजित स्तर पर थे। इन सम्पर्कों में भी भारतीय भाषाओं से फारसी और अंग्रेजी का सम्पर्क अधिक समय तक रहा। फारसी और अंग्रेजी राजभाषाओं के रूप में भी रहीं। ऐसे समय विजित की भाषा को विजेता की भाषा से सदैव आशंकाएँ हो सकती हैं। विजित की भाषा पर न केवल अस्वस्थ और अनावश्यक प्रभाव ही पड़ सकते हैं बल्कि वह समाप्त भी हो सकती है। भाषा की अपनी प्राणवत्ता और उसके बोलने वालों का निजभाषा-प्रेम ही ऐसे समय में उसके चरित्र, स्वरूप और जीवन की रक्षा करते हैं। भारतीय भाषाओं और भारतीय भाषाभाषियों ने अन्य भाषाओं से हुए लम्बे अस्वस्थ सम्पर्क और कूट संघर्ष में उक्त गुणों का परिचय दिया है। कुछेक ध्वनियों, जैसे ज़्, ख़्, ऑ, कुछ हजार शब्दों, जो मुख्यत: खेल, फैशन, कार्यालयीन व्यवस्था या नये आविष्कारों से सम्बन्धित हैं और कुछेक व्यक्तियों की वाक्य-रचना को छोड़कर अन्य कोई भी प्रभाव भारतीय भाषाओं ने ग्रहण नहीं किया। यह प्रभाव भी साधारण जनता की भाषा पर नहीं के बराबर है। हिन्दी ने तुर्की से लगभग ७०, फारसी-अरबी से लगभग ७०००, अंग्रेजी से लगभग ३००० तथा पुर्तगाली से ८० शब्द लिये हैं। डॉ० चटर्जी के अनुसार बंगला में अरबी-फारसी-तुर्की शब्द २४००, अंग्रेजी शब्द

७०० तथा पुर्तगाली शब्द लगभग १०० हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जर्मन में विदेशी शब्दों की संख्या लगभग १०,००० है और अंग्रेजी ने केवल भारतीय भाषाओं से ही लगभग २५०० शब्द लिये हैं।[1] अंग्रेजी में विदेशी शब्दों का प्रतिशत साठ और फारसी में साठ से अस्सी तक है।[2] अंग्रेजी भाषा में आभिजात्य से सम्बन्धित अधिकांश शब्दावली फ्रान्सीसी भाषा की है और फ्रान्स के खिलाड़ियों की भाषा अंग्रेजी शब्दों से भरपूर है। वास्तव में जैसा कि वान्द्रियैज़ ने कहा है, जब दो या अधिक भाषाएँ एक दूसरी के सम्पर्क में आती हैं तो उनमें परस्पर प्रक्रिया होना अनिवार्य है।[3]

इस प्रकार भाषा की परिवर्तनशीलता का दायित्व उसके आन्तरिक गठन से भी अधिक उसके प्रयोगकर्ताओं पर है। मैक्समूलर ने मध्य अमरीका में ईसाई-मत का प्रचार करने के लिए गये पादरियों के अनुभवों का उल्लेख किया है।[4] इन पादरियों ने हूरौन और इरोकोइस् जातियों के बीच रहकर बहुत परिश्रम और सावधानी से उनकी भाषा का एक शब्दकोश तैयार किया। लेकिन दस वर्ष बाद ये पादरी जब फिर उन जातियों के बीच पहुँचे तो इनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा—इनका सारा कोश पुराना पड़ गया था और उसके शब्द अप्रचलित हो गये थे।

भाषा के कुछ तत्व शीघ्र परिवर्तित होते हैं, जैसे शब्दों के अर्थ। कुछ में परिवर्तन शीघ्र और आसानी से घटित नहीं हो पाता, जैसे क्रियाएँ। शब्दों में भी संख्या-वाचक विशेषण और निकट पारिवारिक सम्बन्धों के सूचक शब्द, जैसे माता, पिता आदि हजारों वर्ष तक अपरिवर्तित रह सकते हैं। लेकिन ये अपवाद स्वरूप हैं। भाषा में परिवर्तन अनिवार्य है और कभी-कभी वह इतना मूलभूत होता है कि मध्यवर्ती कड़ियों के अभाव में प्राचीन ज्ञात प्रयोग और अधुनातन प्रयोग का पारस्परिक सम्बन्ध समझना कठिन हो जाता है।[5] आधुनिक युग में छापेखाने के आविष्कार के कारण बड़ी संख्या में पुस्तकों, समाचारपत्रों और पत्रिकाओं का प्रकाशन, रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा तथा शिक्षा का व्यापक प्रचार और इन सब माध्यमों में भाषा के परिनिष्ठित रूप का आग्रह भाषा की परिवर्तनशीलता की गति पर यदि कुछ नियंत्रण रख रहा है तो दूसरी ओर संयुक्त राष्ट्रसंघ या अन्य राजनीतिक, व्यापारिक, सांस्कृतिक मंचों और विदेश-यात्राओं के

१. भाषाविज्ञान--भोलानाथ तिवारी, १९६६, पृष्ठ ४१२।
२. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, १९५७, पृष्ठ १४८।
३. Language—J. Vendryes, Page 280.
४. भाषाविज्ञान पर भाषण, पृष्ठ ६०।
५. A Dictionary of Selected synonyms in the Principal Indo-European Languages—C. D. Buck, Preface Page V, 1949.

माध्यम से विभिन्न भाषाभाषियों का पारस्परिक मुक्त सम्पर्क उसकी परिवर्तनशीलता को गति भी दे रहा है। स्पष्टतः भाषा की परिवर्तनशीलता शाश्वत है। उसे कोई अपनी इच्छानुसार नहीं चला सकता। किसी शब्द का अपने ढंग से प्रयोग करने पर सम्राट् टाइबीरिउस (Tiberius) को प्रसिद्ध वैयाकरण मार्सेल्लुस (Marcellus) ने जो उत्तर दिया था वह ध्यान देने योग्य है—'हे सम्राट्! तू आदमियों को रोम के नागरिक के अधिकार दे सकता है, लेकिन शब्दों के ऊपर तेरा अनुशासन नहीं चलता।' जो बात उस समय सच थी वह आज भी सच है। भाषा की गति और नियति सहजरूप में साधारण जनजीवन से बँधी हुई है। वह सतत प्रवहमान और विकासशील है। उसके प्रवाह या विकास को कृत्रिम ढंग से नियंत्रित करना कठिन है।

ध्वनि-परिवर्तन

उच्चारों के अन्तर्गत ध्वनियाँ विभिन्न ध्वन्यात्मक परिवेशों में प्रयुक्त होती हैं। उच्चार की लम्बाई क्या है और कोई ध्वनि उक्त पद या उच्चार में कहाँ उच्चरित है—आदि, मध्य या अन्त में? उसके पूर्वापर में जो ध्वनियाँ हैं वे क्या हैं—स्वर या व्यंजन? और स्वर का भी कौन सा भेद है—अग्र, पश्च, मध्य; विवृत, संवृत; ह्रस्व, दीर्घ; मौखिक, अनुनासिक; घोष, अघोष आदि? यदि व्यंजन हैं तो व्यंजनों के कौन से भेद हैं—स्पर्श, स्पर्शसंघर्षी, संघर्षी; अलिजिह्वीय, कोमल तालव्य, मूर्द्धन्य, वर्त्स्य, दन्त्य, ओष्ठ्य, दन्तोष्ठ्य; घोष, अघोष; अल्पप्राण, महाप्राण; मौखिक, अनुनासिक, नासिक्य आदि? सम्बन्धित पद में बलाघात, स्वराघात की स्थिति क्या है? इन सबको जानना उच्चार या पद में किसी ध्वनि के परिवेश को जानना है। स्वभावतः ध्वनि उच्चार के अन्तर्गत अपने परिवेश में ढली हुई होती है। अनगिनत परिवेशों में उसके अनगिनत रूप होते हैं। इन परिवेशों में से कौन सा परिवेश उस पर किस सीमा तक हावी हो जाये इसका कोई निश्चय नहीं। अपने परिवेश की तुलना में उसकी स्वयं की शक्ति क्या है—वह स्वर है या व्यंजन, बलाघातयुक्त है या बलाघात से रहित? परिवेश और ध्वनि की तुलनात्मक शक्तियाँ ध्वनि के परिवर्तन की प्रक्रिया और दिशा निर्धारित करती हैं। चूँकि ध्वनि सदैव किसी परिवेश में ही प्रयुक्त होती है, इसलिए उसे सदैव परिवर्तन की प्रक्रियाओं का सामना करना पड़ता है।

लेकिन यहाँ तक ही बस नहीं है। ध्वनि उच्चारों के वशीभूत होती है और ये उच्चार भाषाभाषियों के वशीभूत। इन भाषाभाषियों का अपना परिवेश होता है, अपनी सुविधाएँ तथा सीमाएँ होती हैं और इन सब में सदैव परिवर्तन होता रहता है। भाषाभाषियों की एक पीढ़ी समाप्त होती है तो दूसरी आ जाती है जिसे उच्चार भी रिक्थ के रूप में मिलते हैं। इस प्रकार भाषाभाषियों का नित्य बदलता हुआ परिवेश, उनकी सुविधाएँ और सीमाएँ उच्चारों को प्रभावित तथा परिवर्तित करती हैं। इन उच्चारों में ध्वनि भी होती है। फलस्वरूप उसे भी प्रभावित, परिवर्तित होना पड़ता है। यही ध्वनिपरिवर्तन के कारण हैं।

वे कारण जिनका सम्बन्ध सीधा उच्चारों के अन्तर्गत ध्वनि के अपने परिवेश से है ध्वनि परिवर्तन के आन्तरिक कारण हैं। ये स्वतः होते हैं इसलिए इन्हें स्वयम्भू

(Unconditional, spontaneous, incontact) कारण कहा जाता है। इसके विपरीत जिन कारणों का सम्बन्ध सीधा भाषाभाषियों से है वे बाह्य कारण हैं। इन्हें ध्वनि और उसके परिवेश से इतर होने के कारण परोद्भूत (Condittonal, contact) कारण कहा जाता है। ध्वनिपरिवर्तन के आन्तरिक कारण ध्वनि के परिवेश में अर्थात् उस संरचना में ही विद्यमान होते हैं जिसमें वह ध्वनि संरचित होती है। इसके विपरीत बाह्य कारण ध्वनि की संरचनात्मक इकाई से बाहर स्थित होते हैं। इनका सम्बन्ध ध्वनि की संरचनात्मक इकाई को उच्चरित करने वाले व्यक्तियों से होता है। दोनों ही कारण एक-दूसरे से बिलकुल असम्बन्धित नहीं हैं। इसीलिए हमने उनके ध्वनि तथा उसके परिवेश या भाषाभाषियों से केवल सीधा सम्बन्ध होने की बात कही है। परोक्षतः आन्तरिक कारण भाषाभाषियों से और बाह्य कारण ध्वनि तथा उसके परिवेश से सम्बन्धित होते ही हैं।

किसी ध्वनि परिवर्तन के लिए कभी-कभी आन्तरिक और बाह्य दोनों ही कारण उत्तरदायी होते हैं। वे एक-दूसरे को सहयोग देते हैं। लेकिन कभी-कभी वे न केवल परस्पर असहयोग करते हैं बल्कि एक दूसरे के विरोध में भी कार्य करते हैं। ऐसी स्थिति में परिणाम का निर्णय कारणों के तुलनात्मक बलाबल के आधार पर होता है। उदाहरण के लिए संस्कृत कर्म शब्द ध्वनि परिवर्तन के आधार पर प्राकृत में कम्म होता हुआ हिन्दी में काम बन गया। कर्म का काम में परिवर्तन आन्तरिक कारणों के द्वारा सम्पन्न हुआ। लेकिन यही कारण जब धर्म शब्द को धम्म तक ले आये तो शायद भाषाभाषियों की भावनाओं, उनमें धर्म शब्द के बहुप्रचलन और एक अन्य अर्थ में धाम शब्द के प्रचलन ने विरोध किया और हिन्दी में धर्म शब्द धाम का स्वरूप नहीं प्राप्त कर सका। इस प्रकार बाह्य कारणों ने आन्तरिक कारणों द्वारा घटित किये जाने वाले ध्वनि परिवर्तन को रोक दिया।

एक ध्वनि के साधारण से परिवर्तन में भी प्रायः एक से अधिक कारण कार्य करते हैं। अतएव ध्वनि परिवर्तनों के सम्बन्ध में निर्विवाद रूप से किसी कारण की ओर संकेत करना सम्भव नहीं होता। कारणों की जटिलता और उनकी परस्पर सहयोगी, असहयोगी या विरोधी भूमिका के कारण किसी ध्वनि-परिवर्तन की भावी दिशा के सम्बन्ध में भी कोई भाषाशास्त्री अनधिकारपूर्वक भी कुछ नहीं कह सकता। वास्तव में वह केवल घटित परिवर्तनों पर ही विचार करता है, भावी परिवर्तनों पर नहीं। भविष्य की चर्चा करना उसका क्षेत्र भी नहीं है। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान भी, जो स्वभावतः भाषागत परिवर्तनों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करता है, भावी परिवर्तनों

के सम्बन्ध में मौन रहता है। उक्त विषयक्षेत्र केवल इतिहास में घटित हो चुके परिवर्तनों तक ही सीमित है।

ध्वनि परिवर्तन का क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक व्यापक होता है। यदि किसी भाषा की किसी विशिष्ट ध्वनि में किसी उच्चार या पद के अन्तर्गत परिवर्तन होता है तो यह परिवर्तन प्रायः उन सभी उच्चारों या पदों में पहुँचता है जिनमें वह विशिष्ट ध्वनि होती है। एक पद में ध्वनि परिवर्तन देखकर उस ध्वनि से युक्त समान परिवेश में अन्य पद में भी हम साधारणतः परिवर्तन की कल्पना कर सकते हैं। 'कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि भाषावैज्ञानिकों ने अनुपलब्ध शब्द का अनुमानसिद्ध रूप बना लिया और बाद में प्राप्त किसी ग्रन्थ द्वारा उस रूप का समर्थन हो गया।'[1] यही कारण है कि ध्वनि परिवर्तन के अपवाद प्रायः नहीं मिलते।

ध्वनि परिवर्तन के कारण

(अ) आन्तरिक कारण—ध्वनि परिवर्तन के आन्तरिक कारणों में केवल एक ही कारण गिनाया जा सकता है और वह है ध्वनि का परिवेश। ध्वनि का परिवेश ध्वनिपरिवर्तन का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारण है। संसार की भाषाओं के अधिकांश ध्वनिपरिवर्तन इसी के कारण सम्पन्न हुए हैं। इस प्रकार के परिवर्तनों से भाषा-भाषियों को प्रयत्नलाघव या उच्चारण-सौकर्य या मुखसुख की प्राप्ति होती है। इसलिए ध्वनिपरिवर्तन के उक्त कारण के साथ भाषाभाषियों की भूमिका सहयोग की ही रहती है। लेकिन वे या उनका प्रयत्नलाघव कारण नहीं है। वे केवल माध्यम हैं और प्रयत्न-लाघव उद्देश्य। ध्वनि का नियत परिवेश ही ध्वनि का परिवर्तन घटित करता है। उदाहरण के लिए डिक्री शब्द की क् ध्वनि ग् में परिवर्तित होकर शब्द हो गया है— डिग्री। डिक्री शब्द में क् ध्वनि का परिवेश क्या है?

ड्+ इ + क् + र् + ई

स्पष्टतः अघोष क् ध्वनि के दोनों ओर दो-दो सघोष ध्वनियाँ हैं। प्रस्तुत पद में दोनों ओर दो-दो सघोष ध्वनियों का उच्चार करने वाले भाषाभाषियों के उच्चारण-अवयव मध्यवर्ती अघोष क् ध्वनि का सघोषतायुक्त उच्चारण करने के लिए विवश हैं। ऐसा करने में श्रम या प्रयत्न की बचत भी होती है। यह उच्चारण होता रहता है और धीरे-धीरे डिक्री शब्द की क् ध्वनि सम्पूर्णतः सघोष ध्वनि में बदल जाती है। फलस्वरूप उच्चार हो जाता है डिग्री। क् ध्वनि अन्य सब प्रकार से सर्वथा अपनी ध्वन्यात्मक विशेषताओं वाली लेकिन सघोष ध्वनि ग् में परिवर्तित हो गयी—क्+ सघोषता = ग्।

१. भाषा—वान्द्रियेज, पृष्ठ ५३।

भाषाशास्त्र के ग्रन्थों में बलाघात, शब्दों की असाधारण लम्बाई, प्रयत्नलाघव और बोलने में शीघ्रता इन उपशीर्षकों के अन्तर्गत दिये गये ध्वनिपरिवर्तन के उदाहरण ध्वनि के परिवेश के कारण होनेवाले ध्वनिपरिवर्तन हैं। बलाघात और शब्दों की असाधारण लम्बाई ध्वनि की अनेक परिवेशगत विशेषताओं में से दो विशेषताएँ हैं। ध्वनि का परिवेश अंगी है और ये उसके अंग। अंगी के स्थान पर उसके दो अंगों के अन्तर्गत होने वाले परिवर्तनों को यदि उपशीर्षक देकर अलग से विवेचित किया जाता है तो शेष अंगों के अन्तर्गत होने वाले परिवर्तनों को भी इसी प्रकार विवेचित करने में क्या अनौचित्य है? यदि किसी पद की किसी ध्वनि में आया हुआ बलाघात उसी पद में आयी हुई किसी अन्य ध्वनि में परिवर्तन कर देने पर ध्वनिपरिवर्तन के कारणों की सूची में शोभा पाने लगता है तो किसी पद में किसी ध्वनि की सघोषता के कारण उसी पद की किसी अन्य ध्वनि के परिवर्तित होने पर सघोषता को ध्वनिपरिवर्तन के कारणों की सूची में क्यों न रखा जाय? और यही समान व्यवहार ध्वनि की अन्य अनेकानेक परिवेशगत विशेषताओं के साथ क्यों न किया जाय? वस्तुतः शब्दों की असाधारण लम्बाई या बलाघात ध्वनि के परिवेश के अन्तर्गत ही हैं। फिर भी यदि इन्हें ध्वनि-परिवर्तन के कारणों के अन्तर्गत गिनाना ही है तो आन्तरिक कारणों के अन्तर्गत गिनाना चाहिए। प्रयत्नलाघव कारण नहीं; ध्वनिपरिवर्तन की प्रक्रिया से आनुषंगिक रूप से प्राप्त हुआ फल है। उसकी ओर विशेष ध्यान आकर्षित ही करना हो तो उसे बाह्य कारणों में लिया जा सकता है। क्योंकि उसकी सत्ता ध्वनियों और पदों के गठन से बाहर है। इसलिए यह उचित नहीं है कि जिसका केन्द्र बाहर हो उसे आन्तरिक कारणों में समाहित किया जाय।

'बोलने में शीघ्रता' कारण के अन्तर्गत जो विभिन्न उदाहरण भाषाशास्त्रीय ग्रन्थों में दिये गये हैं वे क्या ध्वनियों के अपने परिवेश के परिणाम नहीं हैं? उच्चार को उच्चरित तो करना ही होगा। वह शीघ्रतापूर्वक भी हो सकता है और धीमी गति से भी। शीघ्रतापूर्वक होगा तो ध्वनिपरिवर्तन की गति को कुछ तेज अवश्य कर देगा। अन्यथा स्थिति में परिवर्तन तो होगा ही, क्योंकि परिवर्तन का कारण बोलने की शीघ्रता में नहीं ध्वनि के परिवेश में निहित है। हाँ, यह हो सकता है कि धीमी गति से बोलने के कारण परिवर्तन कुछ विलम्ब से घटित हो। जब ही, कब ही, अब ही, तब ही उच्चारों को उच्चरित करने में किसी भी गति का प्रयोग भाषाभाषियों के द्वारा किया गया होता इनकी परिणति, जभी, कभी, अभी, तभी में ही होनी थी। उक्त उच्चारों में अल्पप्राण ब् के उपरान्त आयी हुई महाप्राण ह् ध्वनि ने ब् को अपना महाप्राणत्व

सौंप कर उसे भ् (ब्+ह्=भ्) बना दिया है। ब् के महाप्राण ध्वनि भ् में परिवर्तित हो जाने की परिस्थितियाँ उच्चारों में पहले से ही विद्यमान थीं।

'देखी मैंने आज जरा। ऐसी ही क्या हो जाएगी मेरी यशोधरा।' मैथिलीशरण गुप्त की इन पक्तियों में 'आज जरा' का उच्चारण 'आज्जरा' के रूप में होता है। लेकिन क्या यह बोलने में शीघ्रता के कारण है? यदि बोलने में शीघ्रता के कारण उक्त ध्वनिपरिवर्तन घटित होता है तो वह देखी और मैंने पदों तथा दूसरी पंक्ति के किन्हीं भी दो पदों में क्यों नहीं घटित होता? 'आज जरा' उच्चार को जितनी शीघ्रता के साथ उच्चरित किया जाता है उससे चौगुनी शीघ्रता के साथ 'देखी मैंने' या सम्पूर्ण दूसरी पंक्ति को उच्चरित करें तो भी 'आज्जरा' जैसा ध्वनिपरिवर्तन घटित नहीं होगा। स्पष्ट है कि परिवर्तन का कारण बोलने की शीघ्रता में नहीं ध्वनि या उच्चार के अपने परिवेश में निहित है।

वास्तव में भाषाशास्त्रीय ग्रन्थों में ध्वनिपरिवर्तन के कारणों को आन्तरिक तथा बाह्य कारणों में वर्गीकृत किये जाने का आधार स्पष्टतः विवेचित नहीं है। इसका एक कारण आधुनिक भाषाशास्त्र की नींव रखने वाले भाषाशास्त्री सोस्युर के एक कथन को कहा जा सकता है। ध्वनिपरिवर्तन के स्वरूप को समझाते हुए उन्होंने आन्तरिक कारणों से होने वाले परिवर्तनों को स्वयंभू और एक अथवा अनेक ध्वनिग्रामों की उपस्थिति के परिणामस्वरूप होने वाले परिवर्तनों को संयोगात्मक परिवर्तन कहा।[१] आन्तरिक कारणों से उनका अभिप्राय क्या है यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। लेकिन इन (आन्तरिक) कारणों से हुए परिवर्तन की तुलना में कहे गये संयोगात्मक परिवर्तन को परवर्ती भाषाशास्त्रियों ने बाह्य कारणों से हुआ परिवर्तन सम लिया और चूंकि सोस्युर ने इसे ध्वनि के परिवेश से जोड़ा था इसलिए ध्वनि के परिवेश के कारण हुए परिवर्तन परवर्ती विवेचनों में बाह्य कारणों से हुए परिवर्तनों के रूप में विवेचित होते रहे। आधारों के स्पष्ट ज्ञान के अभाव में विवेचनों का भ्रान्तिपूर्ण होना स्वाभाविक ही है। ऊपर के विवेचन में हमने ध्वनिपरिवर्तन के वर्गीकरण के आधारों को स्पष्टता के साथ प्रस्तुत करने की चेष्टा की है।

ध्वनि के परिवेश के कारण हुआ ध्वनिपरिवर्तन ध्वनि के आगम, लोप, विकार, विपर्यय, समीकरण, विषमीकरण आदि अनेक रूपों में दिखाई देता है—

१. Changes are spontaneous when their cause is internal and combinatory when they result from the presence of one or more other phonemes.—Course in General Linguistics—Ferdinand De Saussure, Page 143.

(अ) आगम—

स्टेशन	>	इस्टशन
स्तुति	>	अस्तुति, इस्तुति
स्मरण	>	सुमिरन
समुद्र	>	समन्दर

(ब) लोप—

अभ्यन्तर	>	भीतर
अपनी	>	(बुन्देली) पनी
स्थाली	>	थाली
गर्भिणी	>	गाभिन

(स) विकार—

प्रकट	>	प्रगट
शती	>	सदी
नगर	>	नकर (पैशाची प्राकृत)
आभीर	>	अहीर

(द) विपर्यय—

बिन्दु	>	बूँद
वाराणसी	>	बनारस
चिह्न	>	चिन्ह
डूबना	>	बूड़ना

(ध) समीकरण —

चक्र	>	चक्का
कलक्टर	>	कलट्टर
अंगुलि	>	उँगुली
पत्र	>	पत्ता

(न) विषमीकरण—

काक	>	काग
दरिद्र	>	दलिद्दर

खूबसूरत > खबसूरत
कंकण > कंगन

(ब) बाह्य कारण

(१) **अनुकरण की अपूर्णता**—भाषा को हम अनुकरण से सीखते हैं। लेकिन हमारा अनुकरण प्रायः अपूर्ण ही रहता है। अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी के उच्चारों को परवर्ती पीढ़ी और एक ही पीढ़ी के एक व्यक्ति के उच्चारों को दूसरा व्यक्ति ज्यों के त्यों रूप में ग्रहण नहीं कर पाता। समस्त मनुष्यों के वाक्-यन्त्रों और श्रवणेन्द्रियों की क्षमताएँ एक सी नहीं हैं। फिर प्रत्येक मनुष्य की ग्रहणशीलता अलग-अलग है। उच्चारों का अनुकरण करने की इच्छा सँजोए हुए भी हम सब समय उच्चारों को सावधानी से ग्रहण ही कहाँ करते हैं ? ग्रहण भी कर लें तो हमारे उच्चारण के पूर्वाभ्यास या संस्कार नयी ध्वनि के उच्चारण को पूर्णरूप से अनुकृत नहीं होने देते। अज्ञान के कारण भी बाधा उत्पन्न होती है। क़, ख़ ध्वनि को क्, ख् और क्, ख् ध्वनि को क़, ख़ बोलते रहने की अज्ञानजन्य भूल बराबर होती रह सकती है। अज्ञान के कारण ही हम लिपि को अन्यथा समझ लेते हैं और उच्चारण को तदनुसार ग्रहण कर बैठते हैं। अंग्रेजी लिपि में लिखे गये Gupta (ग्+उ+प्+त् +अ=गुप्त) के अन्तिम लिपिचिह्न को 'त' में समाहित 'अ' समझने के स्थान पर हमने त् के उपरान्त आया हुआ 'आ' समझ लिया और उच्चारण प्रचलित कर दिया—गुप्ता। सही उच्चारण होना चाहिए था—गुप्त; जैसा मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त में है। मिश्र, श्रीवास्तव, शुक्ल, बुद्ध, अशोक के स्थान पर मिश्रा, श्रीवास्तवा, शुक्ला, बुद्धा, अशोका के उच्चारण के पीछे हमारा अज्ञान ही है जो पूर्ण अनुकरण के मार्ग में बाधा डालता है। र व का भ्रम देने के कारण ख लिपिचिह्न को दोषपूर्ण समझकर मध्ययुग में उसके स्थान पर ष लिपिचिह्न का व्यवहार होने लगा था। व्यवहार में उसके अवशेष अब भी मिलते हैं। जैसे कभी-कभी खुरई के स्थान पर लिखा मिल जाता है षुरई। उसे पढ़ा खुरई ही जाता है। इसी आधार पर षडानन, षड्यन्त्र आदि को भी कुछ लोग अज्ञानवश खडानन, खडयन्त्र उच्चरित करने लगे थे। पुरानी पीढ़ी में ऐसा उच्चारण करने वाले अब भी विद्यमान हैं।

भ्रामक या लौकिक व्युत्पत्ति के अन्तर्गत दिये जाने वाले उदाहरण भी भाषाभाषियों के अज्ञान के ही परिणाम हैं। लाइब्रेरी के स्थान पर रायबरेली, हू कम्स देयर के स्थान पर हुकुमसदर, चार्जशीट के स्थान पर चारशीट, अरबी शब्द इंतिक़ाल के स्थान पर अन्तकाल कहने में ध्वनियों का जो परिवर्तन है वह अज्ञान और फलस्वरूप अनुकरण

की अपूर्णता के कारण ही है। इसी प्रकार इच्छा, शुभेच्छु, छात्र, सुमिरना के स्थान पर इक्षा, शुभेक्षा, क्षात्र, शुमिरना का उच्चारण बनकर बोलने के कारण नहीं अज्ञान के कारण हैं।

कभी-कभी हमारा आलस्य हमें ध्वनियों के उच्चारण को सानुनासिक कर देने के लिए विवश करता है। रीवा के स्थान पर रीवाँ, चावल के स्थान पर चाँवल, बढ़िया के स्थान पर बढ़ियाँ, चालाक के स्थान पर चालाँक परिनिष्ठित उच्चारण में भी सुना जा सकता है। यहाँ भी भाषाभाषी की अपनी दुर्बलता है जो ध्वनि को परिवर्तित कर रही है। यह परिवर्तन अकारण नहीं है; उच्चारण के समय वक्ता द्वारा अलिजिह्व (Uvula) को उठाकर नासिका-मार्ग बन्द करने के श्रम से बचने के कारण है। कहा जाता है कि अनुनासिक ध्वनियाँ उच्चरित करना सहज उच्चारण है। पशुओं में भी अनुनासिक उच्चारण ही हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हम अननुनासिक उच्चारण का पूर्ण अनुकरण करने में सदैव समर्थ नहीं हैं। उच्चारण में उक्त अनुनासिकता का आगमन उच्चार में ध्वनि के अपने परिवेश के कारण नहीं होता। इसलिए इसे अकारण अनुनासिकता भी कहा गया है। लेकिन वस्तुतः यह अकारण नहीं है। इसका कारण, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, भाषा-भाषी में विद्यमान होता है। ध्वनि-परिवेश के बाहर की सत्ता में कारण के स्थित होने से इसका विवेचन बाह्य कारणों के अन्तर्गत होना चाहिए। इसके विपरीत जो ध्वनियाँ अपने ही परिवेश के कारण अननुनासिक से अनुनासिक में परिवर्तित हो जाती हैं उनका विवेचन आन्तरिक कारण के अन्तर्गत किया जाना चाहिए। निम्नलिखित उदाहरणों में अनुकरण की अपूर्णता के कारण अनुनासिकता आयी है—

सं०	सर्प	>	हि०	साँप
सं०	उष्ट्र	>	हि०	ऊँट
सं०	वक्र	>	हि०	बाँका
सं०	उच्च	>	हि०	ऊँचा
सं०	अक्षि	>	हि०	आँख
सं०	वेत्र	>	हि०	बेंत
सं०	स्वस्तिक	>		साँतिया
	साथी	>		साँथी
	हाथ	>		हाँथ, हाँत

इसके विपरीत निम्नलिखित उदाहरणों में आन्तरिक कारण (ध्वनि की परिवेशगत विशेषताओं के कारण) से ध्वनियों के उच्चारण अनुनासिक हो गये हैं—

आम	>	आँम
हनूमान	>	हँनूँमाँन
बिन्दु	>	बूँद
आमलक	>	आँवला
चन्द्र	>	चाँद

इन उदाहरणों में पार्श्ववर्ती नासिक्य व्यंजनों ने अपने निकट की अननुनासिक ध्वनियों को अनुनासिक बना दिया है। इन्हें प्राप्त हुई यह अनुनासिकता कहीं बाहर से नहीं आयी है बल्कि वह इनके ही परिवेश की देन है।

(२) **भावातिरेक**--भावातिरेक के कारण मुख्यतः व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्दों तथा सम्बन्धसूचक शब्दों में ध्वनिपरिवर्तन होता है। परिवर्तित रूप में इन शब्दों का प्रयोग सम्बन्धित व्यक्तियों के सीमित परिवेश में ही होता है। अन्य व्यक्ति इन शब्दों का प्रयोग नहीं करते और सम्बन्धित व्यक्ति भी सीमित परिवेश के बाहर इनके प्रयोग को बचाते हैं। इसलिए इनका प्रचलन प्रायः व्यक्तिगत ही रहता है, सार्वजनिक नहीं। फिर भी जीवन में सब क्षण भावातिरेक के ही नहीं होते। इसलिए सब क्षणों में सम्बन्धित व्यक्ति सीमित परिवेश के भीतर भी परिवर्तित ध्वनि वाले शब्दों का प्रयोग करेगा ही, यह आवश्यक नहीं है। स्पष्ट है कि भाषाओं के ध्वनि-परिवर्तन के क्षेत्र में भावातिरेक की नितान्त साधारण भूमिका है। बाबू > बबुआ। बेटी > बिट्टी, बिटिया, बिट्टो। सुलोचना > सुल्लो, सिल्लो। आशा > आसू। मीना > मीनू। जीजी > जिज्जी, जिजिया, जिजी और फिर जिजिया से जिया। दुलारी > दुल्लो। गोपा > गुप्पा। चाची > चच्ची, चचिया। दीदी > दिद्दी, दिदिया। चाचा > चच्चा, चच्चू। आदि उदाहरणों में बेटी से बिटिया और जीजी से जिज्जी अपेक्षाकृत अधिक स्थायी परिवर्तन के उदाहरण हैं।

(३) **सादृश्य**--सादृश्य उस पद्धति का नाम है जिसे ज्ञात रूप के आधार पर मस्तिष्क एक नया रूप, एक नया पद अथवा भावाभिव्यक्ति के लिए एक नयी शैली गढ़ लेता है।[१] स्पष्ट है कि सादृश्य में एक उच्चार का पहले से विद्यमान होना आवश्यक है। यह दूसरे उच्चार का प्रायः विलोम या क्रम का उच्चार होता है। दूसरा उच्चार इसी के आधार पर परिवर्तित होता है। यहाँ परिवर्तन का कारण दूसरे उच्चार में नहीं पहले उच्चार में निहित है। उसके कारण ही दूसरा उच्चार अपना रूप बदलता है। परिवर्तन का कारण परिवर्तित होने वाले उच्चार से बाहर सादृश्य

१. भाषा--वान्द्रियैज, पृष्ठ १८७।

के रूप में स्थित होता है। इसीलिए सादृश्य को बाह्य कारणों के वर्ग में रखा गया है। स्वर्ग के सादृश्य पर नरक का नर्क, देहाती के सादृश्य पर शहरी का शहराती, सुख के सादृश्य पर दुःख का दुख, दुःख (दुक्ख) के सादृश्य पर सुख का सुक्ख, गर्मी के सादृश्य पर ठंड का ठंडी उच्चारण प्रचलित हो गया है। यहाँ ध्वनि का परिवर्तन पहले से विद्यमान विलोम शब्दों के सादृश्य के कारण हुआ है। मुझ[1] शब्द में तुझ[2] शब्द के सादृश्य पर उकार का योग हो गया है। अपने क्रम के शब्द द्वादश के सादृश्य पर एकदश का ध्वनिपरिवर्तन होकर एकादश और पैंतीस तथा पैंतालीस की अनुनासिकता के सादृश्य पर सैंतीस तथा सैंतालीस शब्द बने हैं। प्राकृत में सम्यगेव (> सम्यक् + एव) रूप के स्थान पर जावदेव के सादृश्य पर सम्मदेव रूप मिलता है।[3] सादृश्य के कारण हुए ध्वनिपरिवर्तन नियमित नहीं होते। इनसे कभी-कभी अनियमितताएँ उत्पन्न होती हैं। लेकिन अनेक नियमितताएँ भी इन्हीं की सृष्टि हैं।[4]

(४) **भौगोलिक विभाजन**—ध्वनिपरिवर्तन के क्षेत्र में भौगोलिक कारणों की भी चर्चा हुई है।[5] लेकिन उनकी केवल इतनी ही भूमिका है कि विभिन्न भौगोलिक खण्डों में बँटे हुए भाषाभाषियों के अपने उच्चारण-अभ्यास और विशेषताएँ निर्मित हो जाती हैं। उसी भाषा को बोलने वाले दूसरे भूगोलखण्ड के लोगों से सम्पर्क के अभाव में उक्त विशेषताएँ बढ़ती जाती हैं और फलस्वरूप अनेक ध्वनिपरिवर्तन दिखाई देने लग जाते हैं। उदाहरण के लिए पालि में केवल स् ऊष्म ध्वनि का प्रयोग होता था। लेकिन प्राकृत-काल में विभिन्न भूगोल-खण्डों में ध्वनि-परिवर्तन

१. सं० मह्यम्>पा० मय्हं>प्रा० मज्झं>अप० मज्झ।

२. सं० तुभ्यम्>म० भा० आ० तुज्झ>हिन्दी तुझ।

३. सामान्य भाषाविज्ञान—बाबूराम सक्सेना, पृष्ठ ११३।

४. Analogic change is not regular. It may and frequently does, produce an increase in irregularity, but it may equally exert a regularizing effect.—An Introduction to Descriptive Linguistics.

—H. A. Gleason, Page 290, 1960.

५. A geographical theory of sound shifting was advanced by Heinrich Meyer—Benfey and has recently been taken up by H Collitz.

—Language its Nature, Development and Origin—Jespersen, Page 256.

हुए। निय प्राकृत में श्, ष्, स् तीनों, मागधी में केवल श् और अर्द्धमागधी में पालि की तरह केवल स ऊष्म ध्वनि प्रयुक्त मिलती है। जैसे—

सं०	श्रावक	>	निय प्राकृत	षवक
सं०	अश्व	>	,,	अश्प
सं०	अस्ति	>	,,	अस्ति
सं०	शुष्क	>	मागधी	शुश्क
सं०	सप्त	>	,,	शत्त
सं०	समर	>	,,	शमल
सं०	श्रावक	>	अर्द्धमागधी	सावग
सं०	वर्ष	>	,,	वास
सं०	सागर	>	,,	सायर

इस प्रकार एक भूगोल-खण्ड में जो ध्वनि-परिवर्तन हुए हैं दूसरे भूगोल-खण्ड में उससे भिन्न ध्वनि-परिवर्तन हुए। भाषाभाषी भौगोलिक खण्डों में विभक्त न हुए होते और उनका पारस्परिक सम्पर्क अविच्छिन्न रहा होता तो भी ध्वनि के परिवर्तन तो घटित होते लेकिन वे भिन्न-भिन्न न होकर एक से होते। निय, मागधी और अर्द्धमागधी तीनों प्राकृतों में सम्भवतः उनकी एकरूपता होती। स्पष्टतः यह भिन्नरूपता मुख्य रूप से भूगोल की देन है। कालांतर में यह भिन्नरूपता बढ़ जाती है और दो भूगोल-खण्डों की भाषाओं में इतना अन्तर हो जाता है कि एक खण्ड का भाषाभाषी अन्य खण्ड की भाषा को बिलकुल भी नहीं समझ पाता।

यह कहना कठिन है कि अधिक सर्दी ध्वनियों में संवृति तथा अधिक गर्मी विवृति की ओर ले जाती है और इस प्रकार ध्वनियों की विवृति-संवृति को भौगोलिक कारण निर्धारित या प्रभावित करते हैं। सोस्युर ने यह कहकर कि स्कैण्डीनेविया के व्यंजनबहुल मुहावरे इटली के मुहावरों की अपेक्षा अधिक स्वरीकृत हैं और उत्तरी फ्रान्सीसी भाषाओं की तुलना में दक्षिणी फ्रान्स की कुछ बोलियाँ व्यंजन-गुच्छों के प्रति अधिक उदार हैं;[१] ध्वनि की विवृति, संवृति के निर्धारण में भौगोलिक कारणों की भूमिका से अपनी असहमति प्रकट की है। येस्पर्सन भी ध्वनि की ध्वन्यात्मक विशेषताओं के निर्धारण में भूगोल की भूमिका को अस्वीकार करते हैं—'पहाड़ी भागों में रहने वालों को अधिक श्रम करना पड़ता है, इससे उनके फेफड़ों पर अधिक जोर पड़ता है, यह तो सही है, किन्तु व्यंजन का परिवर्तन स्वरयंत्रमुख पर निर्भर है फेफड़ों पर

१. Course in General Linguistics. English Translation from the French, 1964, page 148.

नहीं। इसलिए फेफड़ों के जोर से ध्वनियों के प्रभावित होने की बात बड़ी लचर है।'[1] येस्पर्सन द्वारा प्रस्तुत तर्क से हमारी सहमति भले ही न हो लेकिन उनके विरोध से असहमत होना कठिन है।

(५) **ऐतिहासिक परिस्थितियाँ**—ऐतिहासिक घटनाएँ, जैसे युद्ध, समझौते, सीमाविवाद, देशों का विभाजन आदि एक भाषाभाषी क्षेत्र को एकाधिक राजनीतिक खण्डों में बाँट देती हैं और फलस्वरूप इन खण्डों के भाषाभाषियों में पारस्परिक सम्पर्क विच्छिन्न हो जाता है। ध्वनि-परिवर्तन के क्षेत्र में भौगोलिक विभाजनों का आज भी बहुत अधिक महत्व है। फिर भी आवागमन के नये साधनों ने भौगोलिक विभाजनों को प्रायः शिथिल कर दिया है। परन्तु उनके स्थान पर आज कठोर—पहले से भी अधिक कठोर राजनीतिक विभाजन हैं जिनका समाप्त होना फिलहाल सम्भव नहीं दीखता। एक-दूसरे में असम्पृक्त विभिन्न राजनीतिक इकाइयों के निवासियों में अलग-अलग उच्चारण-अभ्यास और ध्वनि का परिवर्तन होता है। भारत के दोनों राजनीतिक खण्ड भारत और पाकिस्तान, जर्मनी के पूर्वी तथा पश्चिमी जर्मनी, कोरिया के उत्तरी और दक्षिणी कोरिया, वियटनाम के उत्तरी और दक्षिणी वियटनाम में ध्वनियों के परिवर्तन अलग-अलग हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

कभी-कभी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावनाएँ भी ध्वनिपरिवर्तन को प्रभावित करती हैं। उदाहरण के लिए बनारस से वाराणसी और भेलसा से विदिशा में हुआ ध्वनिपरिवर्तन सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना के कारण हुआ ध्वनिपरिवर्तन है। इतिहास के विभिन्न युगों में इस प्रकार की भावनाएँ प्रबल होकर ध्वनियों को प्रभावित करती हैं। शुंग और गुप्त राजाओं के काल में इसी प्रकार की भावनाओं ने पालि-प्राकृत भाषाओं में विचित्र ध्वनिपरिवर्तन उपस्थित किये हैं। संस्कृत के पुनरुत्थान की भावना के कारण उसका प्रभाव उक्त भाषाओं पर देखा जा सकता है। उत्तरी भारत के महायानी बौद्धों के धर्मग्रन्थों में प्रायः जो भाषा प्रयुक्त हुई है वह संस्कृत और प्राकृत का मिश्रण है। कहीं-कहीं (जैसे—पृष्येहि) प्रातिपदिक संस्कृत का है और विभक्ति प्राकृत की।

१. Walking in the mountains affects the lungs, but the change in the consonants is primarily one not in the lungs, but in the glottis, as the connexion between these two things is not necessary, the whole reasoning is far from cogent.

Language its Nature, Development and Origin, Page 257.

आक्रमणों, जयपराजयों और व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्धों के कारण एक भाषाभाषी अन्य भाषाभाषियों के लम्बे सम्पर्क में रहते हैं। फलस्वरूप नयी ध्वनियों का आगमन होता है। सम्भवत: भारोपीय भाषा में ट-वर्ग ध्वनियाँ नहीं थीं। कहा जाता है कि भारतीय आर्यभाषा में उनका प्रवेश द्रविड़ों के सम्पर्क के कारण हुआ। विभाषा का सम्पर्क उसके ऐसे अनेक शब्दों को हमारी भाषा में ले आता है जिनमें प्रयुक्त ध्वनियों के लिए हमारी भाषा में ठीक ज्यों की त्यों ध्वनियाँ नहीं होतीं। वैसी स्थिति में हम अपनी भाषा की उनसे मिलती-जुलती ध्वनियों का प्रयोग करके काम चलाते हैं। अंग्रेजी ट्, ड् ध्वनियाँ वर्त्स्य हैं। हिन्दी में इन्हें हिन्दी ट्, ड् की तरह मूर्द्धन्य (वस्तुत: कठोर तालव्य) या हिन्दी त्, द् की तरह दन्त्य बोला जा रहा है—

डॉक्टर	>	डाक्टर
आगस्ट	>	अगस्त
डेसेंबर	>	दिसम्बर

फारसी क़्, ख़्, ग़्, ज़् ध्वनियाँ हिन्दी में क्, ख्, ग्, ज् में बदल गयी हैं। इस प्रकार के ध्वनिपरिवर्तनों से विभाषा में कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि उसके बोलने वाले अपनी ध्वनियों को ज्यों की त्यों बोलते रहते हैं। हमारी भाषा में भी कोई अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि हम अपनी ध्वनियों के अनुसार ही कुछ नये शब्दों को बोल रहे होते हैं। परिवर्तन की चरितार्थता केवल तब होगी जब हम विभाषाभाषी बन जायँ और उसकी ध्वनियों को अपनी ध्वनियों के अनुसार उच्चरित करते रहें। तब कहा जाएगा कि अंग्रेजी की ट्, ड् ध्वनियाँ वर्त्स्य हैं, लेकिन अमुक प्रदेश के भाषाभाषियों के उच्चारण में मूर्द्धन्य, कठोर तालव्य या दन्त्य ध्वनियों में बदल गयी हैं। इस परिस्थिति में हमारी भाषा की ध्वनियों में कोई परिवर्तन ही नहीं हुआ। इसलिए परिवर्तन का प्रस्तुत विषय विभाषा में ध्वनिपरिवर्तन के अन्तर्गत विचारणीय होगा, हमारे यहाँ नहीं।

युद्ध के समय अन्य परिवर्तनों की तरह ध्वनि के परिवर्तन की गति भी तीव्र होती है। इसके विपरीत शान्तिकाल में यह गति धीमी होती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भाषाओं में ध्वनिपरिवर्तन का अधिकांश कार्य आन्तरिक कारण से अर्थात् ध्वनि के अपने परिवेश के कारण होता है। फिर भी किसी ध्वनिपरिवर्तन के लिए परिवर्तन के उक्त कारणों में से कोई एक कारण ही उत्तरदायी नहीं होता। प्रायः एक से अधिक कारण यह उत्तरदायित्व वहन

करते हैं और जैसा कि सोस्युर का कथन है, इन कारणों का पता लगाना भाषाशास्त्र की सबसे कठिन समस्या है।[1]

भाषा की ध्वनियों में जो परिवर्तन होते हैं उनके फलस्वरूप कभी नयी ध्वनि का आगम होता है, कभी पहले से विद्यमान ध्वनि का लोप हो जाता है। कभी ध्वनि-विकार अर्थात् पहले से विद्यमान ध्वनि का दूसरी ध्वनि में परिवर्तन होता है; लेकिन आगन्तुक ध्वनि प्राचीन ध्वनि से प्रायः केवल एकाध ध्वन्यात्मक विशेषता में ही भिन्न होती है और प्राचीन ध्वनि के अवशेष के रूप में रहती है। कभी उच्चारण में ध्वनियों का पूर्व प्रचलित क्रम उलट जाता है जिसे ध्वनिविपर्यय कहते हैं। कभी एक ध्वनि अपने निकट उच्चरित अन्य ध्वनि को अपनी तरह बना लेती है और इस प्रकार ध्वनि का समीकरण हो जाता है। कभी निकटस्थ सम ध्वनियों के उच्चारण में कठिनाई अनुभव होने के कारण उनमें भेद कर दिया जाता है और ध्वनि विषमीकृत हो जाती है। जब किसी उच्चार में पूर्ववर्ती ध्वनि परवर्ती ध्वनि को अपने सम या विषम बनाती है तो यह पुरोगामी (Progressive) समीकरण या विषमीकरण कहलाता है। इसके विपरीत जब परवर्ती ध्वनि पूर्ववर्ती ध्वनि को अपने सम या विषम बनाती है तो इसे पश्चगामी (Regressive) समीकरण या विषमीकरण कहते हैं। जब परिवर्तित करने वाली ध्वनि और परिवर्तित होने वाली ध्वनि के बीच में कोई अन्य ध्वनि नहीं होती तो यह पार्श्ववर्ती परिवर्तन है, अन्यथा दूरवर्ती। उक्त आगम, लोप, विकार, विपर्यय, समीकरण, विषमीकरण आदि ध्वनिपरिवर्तन के आयाम या दिशाएँ हैं। इनके भेदोपभेदों को सोदाहरण नीचे प्रस्तुत किया जाता है—

(१) आगम

क. स्वरागम

(अ) आदि-स्वरागम—

सं० स्त्री > अपभ्रंश इत्थि, हि० इस्त्री

स्तुति > अस्तुति

कलंक > अकलंक

लैटिन Schola > फ्रैंच Escole (स्कूल)

(आ) मध्य-स्वरागम—

सं० अग्नि > अर्द्धमागधी अगणि

१. The search for the causes of phonetic changes is one of the most difficult problems of linguistics.

—Course in General Linguistics — Page 146.

सं० शत्रुघ्न > शौरसेनी सत्तुहण
सं० वर्ष > अपभ्रंश वरिस
स्नान > सनान
दर्द > दरद

(इ) अन्त्य-स्वरागम—

सं० शरद् > अपभ्रंश सरय
सं० स्रोतस् > अपभ्रंश सुत्त
स्कम्भ् > खम्भा
करतूत् > करतूति
दवा > दवाई

ख. व्यंजनागम

(अ) आदि-व्यंजनागम—

सं० ईदृश् > अपभ्रंश हेदिय
ओष्ठ > होंठ
अस्थि > हड्डी
उल्लास > हुलास
अत्याचार > हत्तियाचार[1]

(आ) मध्य-व्यंजनागम—

सं० तत्क्षण > अपभ्रंश तत्तक्खण
लाश > ल्हाश, ल्हास[2]
पण > प्रण
शाप > श्राप

(इ) अन्त्य-व्यंजनागम—

फ्रेंच Contio > अंग्रेजी Cantion
रंग > रंगत
चील > चील्ह
भौं > भौंह

१. महाकाल—अमृतलाल नागर, पृष्ठ १८८।
२. वही, पृष्ठ १८३।

ग. अक्षरागम

(अ) आदि-अक्षरागम--

गुञ्जा > घुंघुची

(आ) मध्य-अक्षरागम--

खल > खरल
गरीबनिवाज > गरीबुलनिवाज
आलस > आलकस

(इ) अन्त्य-अक्षरागम--

बला > बलाय
आँक > आँकड़ा
जीभ > जीभड़ी, जीहड़िया
वधू > वधूटी

घ. अनुनासिकता

(अ) वक्ताजन्य--

सं० वृश्चिक > अपभ्रंश विंछि
सं० अश्रु > अपभ्रंश अंसु, हिन्दी आँसू
सं० वक्र > अपभ्रंश वंक, हिन्दी बाँका
चालाक > चाँलाक

(आ) ध्वनि के परिवेशजन्य--

राम > राँम
पान > पाँन
प्रयाण > प्रयाँण
गमन > गँमँन

(२) लोप

क. स्वरलोप

(अ) आदि-स्वरलोप--

सं० इदानीम् > शौरसेनी दाणि

सं० अरविन्द > अपभ्रंश रविन्द
सं० अरघट्ट > हिन्दी रहट, गुजराती
अपनी > बुन्देली पनी
अफसाना > फसाना

(आ) मध्य-स्वरलोप--

सं० सुरभि > अर्धमागधी सुब्भि
तरबूज > तर्बूज
कृपया > कृप्या

(इ) अन्त्य-स्वरलोप--

सं० क्रीडा > अपभ्रंश खेड्ड
सं० वल्गा > मध्यदेशीय अपभ्रंश बाग्
सं० अन्यथा > अपभ्रंश अन्नह्
आम > आम्[1]
फ्रेंच affaire > अंग्रेजी affair

ख. व्यंजनलोप

(अ) आदि-व्यंजनलोप--

सं० स्थपति > अपभ्रंश थवइ
सं० स्कन्ध > अपभ्रंश, हिन्दी कन्धा
सं० श्मशान > अपभ्रंश मसाण, हिन्दी मसान
knife > nife[2]

(आ) मध्य-व्यंजनलोप--

सं० दशति > प्राकृत डसइ
सं० कोकिल > अपभ्रंश कोइल
सं० मृगलोचनी > अपभ्रंश मिअलोअणि
सूची > सूई, सुई
उपवास > उपास

१. हिन्दी उच्चारण में अधिकांश अकारान्त शब्दों के 'अ' का लोप हो गया है।
२. शब्दों के उच्चारण।

walk > wak[1]

(इ) अन्त्य-व्यंजनलोप—

सं० पश्चात् > अपभ्रंश पश्चा
सं० यावत् > „ जाव
सं० सम्यक् > „ सम्मं
सं० धिक् > प्राकृत धिइ
फादर > फार्द[1]
अंग्रेजी कमांड > हिन्दी कमान्

ग. अक्षरलोप

(अ) आदि-अक्षरलोप—

आदित्यवार > इतवार
उपाध्याय > झा
university > varsity
शहतूत > तूत, अतूत
सरदारजी > दारजी[2]
राजनाँदगाँव > नाँदगाँव

(आ) मध्य-अक्षरलोप—

सं० एवमेव > अपभ्रंश एमेव
सं० गलहस्तयति > „ गलत्थइ
भांडागार > भंडार
पर्यंकग्रन्थि > पलत्थी

(इ) अन्त्य-अक्षरलोप—

सं० अग्निना > अपभ्रंश अग्गिं[3]

१. शब्दों के उच्चारण।

२. भीनी सैंट का झोंका आया और दारजी के दाहिने आकर सिमट गया। दारजी ने साफा छुआ, फिर हाथ बढ़ा........।

—यारों के यार तिन पहाड़, कृष्णा सोबती, पृष्ठ ३७।

राजिंदरसिंह उतरकर आया और बोला, 'चलिये दारजी, बहुत समय हो गया है।'

—घर, हनुमन्त मनगटे, सारिका, मई ७०, पृष्ठ ५७।

३. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण—आर० पिशल, अनुवादक हेमचन्द्र जोशी, पृष्ठ २३२।

दीपवर्तिका > दीवा, दीवट
कर्तरिका > कटारी
सपादिक > सवा

(ई) समाक्षरलोप[1]—

सं० प्रत्याययति > पत्तियइ
(सं० उपवस्यते)>उववसिज्जइ > उवसिज्जइ
अध्ययन > अध्यन
खरीददार > खरीदार
hart time > Partime

(३) विकार

क. मात्राभेद[2]

(अ) दीर्घीकरण—

सं० विंशति > पालि वीसति, अर्धमागधी वीसा
सं० सिंह > पालि सीह्
सं० गृहपत्नी > अर्धमागधी गाहावइ
अक्षत > आखत
अद्य > आज
खर्च > खर्चा, खरचा

(आ) ह्रस्वीकरण—

सं० अलीक > महाराष्ट्री अलिअ
सं० उलूक > अधमागधी उलुग, महाराष्ट्री उलुअ
सं० आचार्य > अर्धमागधी और जैन महाराष्ट्री आयरिय
सं० मूर्ख > अपभ्रंश मुक्ख
आभीर > अहीर
आफीसर > अफसर

१. ब्लूमफील्ड द्वारा प्रदर्शित अक्षरलोप का एक भेद। इसमें एक ही ध्वनि या अक्षर के दो बार आने पर एक का लोप हो जाता है। इसे ब्लूमफील्ड द्वारा दिया गया नाम Haplology है।

२. यद्यपि हिन्दी अ, आ, इ, ई, उ, ऊ में केवल मात्रा का ही भेद नहीं है।

आषाढ़ > असाढ़
पाताल > पताल

ख. घोषीकरण[1]

सं० आख्यापयति > अर्धमागधी आघावेइ
सं० कोप > महाराष्ट्री प्राकृत कोव
सं० दीप > " " दीव
सं० सफल > अपभ्रंश सभल
सं० सकल > अपभ्रंश सगल, हिन्दी सगरो
सं० अनेक > अपभ्रंश अणेग
शती > सदी

ग. अघोषीकरण[2]

सं० मेघः > पैशाची प्राकृत मेखो
सं० गगनम् > ,, ,, गकनं
सं० राजा > पैशाची प्राकृत राचा
सं० दशवदन: > ,, ,, दसवत्तनो
सं० गोविन्द: > ,, ,, गोविन्तो
सं० माधव: > ,, ,, माथवो
खूबसूरत > खपसूरत
मसजिद > महजित[3]

घ. महाप्राणीकरण

सं० पुस्तक > अपभ्रंश पोत्थय
सं० पश्चिम > ,, पच्छिम
मिष्टान्न > मिष्ठान्न
शुष्क > सूखा

१. हेमचन्द्र के अनुसार अनादि में स्वर के उपरान्त आनेवाले असंयुक्त व्यंजन क्, ख्, त्, थ्, प् और फ् क्रमशः ग्, घ्, द्, ध, ब् और भ् में परिणत हो जाते हैं।—हेम० ४। ३९६।

२. पैशाची प्राकृत की प्रमुख प्रवृत्ति।

अंग्रेजी भाषा के उच्चारणों में अन्तिम सघोष स्पर्श व्यंजन अघोष हो रहे हैं। Linguistic Change in Present Day English—Charles Barber, Page 56.

३. महाकाल—अमृतलाल नागर, पृष्ठ १७७।

हस्त > हाथ

खीज > खीझ

दुत्कार > धुत्कार

घनिष्ट > घनिष्ठ

ङ. अल्पप्राणीकरण

सं० कोष्ठागार > मागधी कोस्टागाल[1]

सं० सुष्ठु > मागधी शुस्टु

सिन्धु > हिन्दु

भूख > भूक, बुन्देली भूंक

सूखना > बुन्देली सूकना

च. प्राणध्वनि ह् का बच रहना[2]

सं० गाथा > महाराष्ट्री प्राकृत गाहा

सं० दशमुखवधः > ,, ,, दशमुहवहो

सं० कथयति > महाराष्ट्री प्राकृत कहेइ

सं० नाथ > अवधी (पद्मावत) नाह[3]

(४) विपर्यय

क. स्वरविपर्यय

पागल > पगला

जानवर > जनावर

ससुराल > सुसराल

खुजली > खजुली

अम्लिका > इमली

ख. व्यंजनविपर्यय

सं० एवं > अपभ्रंश एम्व

सं० एवमेव > .. अम्वइ

१. मागधी में ष्ट और ष्ठ स्ट में बदल जाते हैं।––हेमचन्द्र ४। २९०, २९९।

२. महाराष्ट्री प्राकृत की प्रमुख विशेषता है।

३. चकई बिछुरि पुकारै कहाँ मिलहु हो नाँह। पद्मावत, सं० वासुदेवशरण अग्रवाल ६२। ४। ५।

चिह्न > चिन्ह
डेस्क > डेक्स
वाराणसी > बनारस
तमगा > तगमा
महाराष्ट्र > मरहठा

ग. अक्षरविपर्यय

अवेस्ता बफ्र > फारसी बरफ
लखनऊ > नखलऊ
यहाँ > हियाँ

(५) समीकरण

क. स्वर

(अ) पुरोगामी स्वर-समीकरण—

सं० अनिरूपित > अपभ्रंश अणरुइ
जुल्म > जुलुम
खुरपी > खुरुपी
कोकाकोला > कोकोकोला

(आ) पश्चगामी स्वर-समीकरण—

(सं० मृदंग)>अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री मुइंग>एक अन्य रूप मिइंग[1]
सं० हर्षित > अपभ्रंश हरिसिय
सं० प्रवास > ,, पावास
कवयित्री > कवियित्री
अँगुलि > उँगली
इक्षु > उक्खु
खूबसूरत > खबसूरत

ख. व्यंजन

(अ) पुरोगामी व्यंजन-समीकरण—

सं० स्वप्न > पालि सोप्प

१. हेमचन्द्र १, १३७।

सं० रम्य > पालि रम्म
सं० जम्बुद्वीप > अर्धमागधी और जैन महाराष्ट्री जम्बुद्दीव
सं० कल्य > महाराष्ट्री प्राकृत कल्ल
सं० निद्रा > ,, णिद्दा
सं० समुद्र > ,, समुद्द
चक्र > चक्क, चक्का
पत्र > पत्ता
धन्य > धन्न[1]

(आ) पश्चगामी व्यंजन-समीकरण—
सं० निम्न > पालि निन्न
सं० उन्मूलयति > पालि उम्मूलेति
सं० फल्गुन > अर्धमागधी और शौरसेनी फग्गुण
सं० वल्कल > महाराष्ट्री और शौरसेनी वक्कल
सं० निर्ग्रन्थ > अर्धमागधी और जैन शौरसेनी निग्गन्थ
सं० चतुर्दशी > शौरसेनी चउद्दही
सं० सर्वज्ञः > पैशाची सव्वञ्ञो
कलक्टर > कलट्टर[2]
नील > लील

(इ) पारस्परिक व्यंजन-समीकरण[1]—
सं० आर्य, आर्या > महाराष्ट्री प्राकृत अज्ज, अज्जा
सं० मर्द्यते > शौरसेनी मड्डीअदि
सं० वर्धमान > अर्धमागधी, जैन शौरसेनी और शौरसेनी वड्ढमाण
विद्युत् > बिजली
सत्य > सच

(६) विषमीकरण

क. स्वर

(अ) पुरोगामी स्वर-विषमीकरण—
अष्टमी > अट्ठिमी

१. महाकाल—अमृतलाल नागर, पृष्ठ १७६ ।

२. किसी उच्चारण के दो पार्श्ववर्ती व्यंजन पारस्परिक प्रभाव के कारण एक तीसरे व्यंजन में बदल जाते हैं ।

तिलक > टिकली
पुरुष > पुरिस, मागधी पुलिश

(आ) पश्चगामी स्वर-विषमीकरण—

सं० मुकुल > प्राकृत मउल, हिन्दी बउर (>बौर)
सं० मुकुट > प्राकृत मउड, हिन्दी मउर (>मौर)
सं० पक्व > प्राकृत पिक्क
पाताल > पताल, पतार[1]

ख. व्यंजन

(अ) पुरोगामी व्यंजन-विषमीकरण—

काक > काग
कंकण > कंगन
कंकाल > कंगाल
चिल्लाना > चिल्याना

(आ) पश्चगामी व्यंजन-विषमीकरण—

नवनीत > लयनू
दरिद्र > दलिद्दर

ध्वनि-परिवर्तन की उक्त दिशाओं के अतिरिक्त और भी दिशाएं हो सकती हैं। कभी-कभी उच्चारण में साथ के दो शब्दों में विपर्यय हो जाता है। फलस्वरूप 'रस्ते में बस मिलेगी' के स्थान पर 'बस्ते में रस मिलेगी' या 'दाल चावल' के स्थान पर 'चाल दावल' जैसे उच्चार सुनाई पड़ते हैं। इस प्रकार के विपर्यय आक्सफोर्ड के डॉ० डब्लू० ए० स्पूनर (१८४४–१९०३ ई०) से प्रायः हो जाया करते थे। इसलिए इस प्रवृत्ति का नाम उन्हीं के नाम पर स्पूनरिज्म रखा गया। स्पूनरिज्म के कारण होनेवाले ध्वनि-परिवर्तन महत्वपूर्ण नहीं हैं। क्योंकि एक तो यह प्रवृत्ति सब वक्ताओं में नहीं होती और जिनमें होती भी है उनमें बहुत कम अवसरों पर ही होती है। फिर वक्ता ऐसा विपर्यय करने के बाद प्रायः तुरन्त ही अपनी गलती पहचानकर उच्चार को ठीक कर लेता है। इसलिए भाषा पर इसका प्रभाव स्थायी नहीं होता।

ध्वनि-परिवर्तन के आरम्भिक अध्ययनों में कुछ परिवर्तनों को विशेष रूप से रेखांकित किया गया था। ये परिवर्तन सामान्य अन्तरों के बावजूद उपर्युक्त परिवर्तनों

1. परँ सो सपत पतारहिं जाई--पद्मावत, सिंहलद्वीप वर्णन खण्ड ।

में से ही किसी न किसी के अन्तर्गत समाहित किये जा सकते हैं। लेकिन चूँकि ध्वनि-परिवर्तन के अध्ययनों के क्षेत्र में इनका ऐतिहासिक महत्व है, इसलिए उपर्युक्त परिवर्तनों से इनके सामान्य अन्तरों को स्पष्ट करते हुए इनका संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है—

१. **अभिश्रुति** (Umlaut या Vowel mutation)—कभी-कभी शब्द के किसी अक्षर में विद्यमान स्वर के कारण उसके पूर्ववर्ती अक्षर के स्वर में परिवर्तन हो जाता है। पूर्ववर्ती अक्षर का स्वर या तो परिवर्तित करनेवाले परवर्ती अक्षर के स्वर के अनुरूप हो जाता है या उसकी प्रकृति के समीप पहुँच जाता है। इस परिवर्तित करने वाले परवर्ती स्वर का लोप भी हो जाता है। प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी ग्रिम ने इस परिवर्तन को जर्मन भाषा में लक्षित करके इसे umlaut नाम दिया था। ब्लमफील्ड इसे पश्चगामी स्वर-समीकरण ही मानते हैं। यद्यपि व्यापक रूप से यह पश्चगामी स्वर-समीकरण ही है और इसे अलग मान्यता देकर भेदों की संख्या बढ़ाना निरर्थक है। फिर भी इसमें और पश्चगामी स्वरसमीकरण में अन्तर है—

पश्चगामी स्वर-समीकरण—

(१) शब्द का कोई स्वर अपने पूर्ववर्ती किसी स्वर को प्रभावित करके उसे अपना रूप दे देता है।

(२) प्रभावित करने वाला स्वर लुप्त नहीं होता।

जैसे— अँगुलि > उँगुली
इक्षु > उक्खु
कवयित्री > कवियित्री

अभिश्रुति—

(१) शब्द का कोई स्वर अपने पूर्ववर्ती किसी स्वर को प्रभावित करके उसे अपना रूप दे देता है या अपनी प्रकृति के समीप ले आता है।

(२) प्रभावित करने वाला स्वर लुप्त हो जाता है।

जैसे—अँगुलि > उँगली

२. **अपिनिहिति** (Epeuthesis या paraptyxis)—शब्द में पहले से विद्यमान किसी स्वर के अनुरूप अन्य स्वर के मध्यागम (शब्द के मध्य में आगमन) को अपिनिहिति कहते हैं। इस प्रकार यह मध्यस्वरागम (स्वरभक्ति या विप्रकर्ष या Diaeresis) के ही अन्तर्गत है। लेकिन दोनों के अन्तरों को लक्षित किया जा सकता है।

मध्यस्वरागम (स्वरभक्ति)—

(१) शब्द के मध्य में स्वर का आगम होता है।

(२) शब्द में आगत स्वर की प्रकृति का कोई स्वर पहले से विद्यमान हो, यह आवश्यक नहीं। जैसे—

स्कूलों > सकूलों
स्वादों > सवादों
पूर्वी > पूरबी
बेल > बेइल
रक्त > रकत
भक्त > भगत
पूर्व > पूरब

अपिनिहिति—

(१) शब्द के मध्य में स्वर का आगम होता है।

(२) शब्द में आगत स्वर की प्रकृति का कोई स्वर पहले से विद्यमान हो, यह आवश्यक है।

जैसे—

बेल > बेइल
रक्त > रकत
भक्त > भगत
पूर्व > पूरब

बेल में आगत स्वर 'इ' की प्रकृति का 'ए' और रक्त, भक्त तथा पूर्व में आगत स्वर 'अ' की प्रकृति का 'अ' स्वर (रक्त=र् +अ +क् +त् +अ >रकत=र्+अ+क्+अ+त्+अ) पहले से विद्यमान है।

प्रत्येक अपिनिहिति मध्यस्वरागम है। लेकिन प्रत्येक मध्यस्वरागम अपिनिहिति नहीं है। यही कारण है कि अपिनिहिति के उपर्युक्त चारों उदाहरण मध्यस्वरागम के भी उदाहरण हैं। लेकिन मध्यस्वरागम के सभी उदाहरण अपिनिहिति के उदाहरण नहीं हैं। स्कूलों से सकूलों होने में स् के उपरान्त जिस 'अ' का आगम हुआ है उसकी प्रकृति का कोई स्वर 'स्कूलों' शब्द में पहले से विद्यमान नहीं है। मध्य स्वरा-

गम और अपिनिहिति के अन्तर को स्पष्टतः सूचित करने के लिए मध्यस्वरागम की तुलना में अपिनिहिति को मध्यसमस्वरागम कहा जा सकता है।

३. **पुरोहिति** (पूर्वहिति या Prothesis)—शब्द के आदि में किसी ऐसे स्वर का आगमन जिसके अनुरूप कोई स्वर शब्द में पहले से विद्यमान हो पुरोहिति है। आदि-स्वरागम और पुरोहिति में ठीक वही अन्तर है जो मध्य-स्वरागम और अपिनिहिति में है।

आदि-स्वरागम—

(१) शब्द के आदि में स्वर का आगम होता है।

(२) शब्द में आगत स्वर की प्रकृति का कोई स्वर पहले से विद्यमान हो, यह आवश्यक नहीं है।

जैसे—

स्कूल > इस्कूल
स्तुति > अस्तुति
स्थिति > इस्थिति
स्टेशन > इस्टेशन

पुरोहिति—

(१) शब्द के आदि में स्वर का आगम होता है।

(२) शब्द में आगत स्वर की प्रकृति का कोई स्वर पहले से विद्यमान हो, यह आवश्यक है।

जैसे—

स्थिति > इस्थिति
स्टेशन > इस्टेशन

पुरोहिति के प्रथम उदाहरण में शब्द में 'इ' का आगम हुआ है और शब्द में 'इ' ही पहले से विद्यमान है। दूसरे उदाहरण में भी अग्रस्वर 'इ' का आगम हुआ है और अग्र स्वर 'ए' पहले से विद्यमान है।

प्रत्येक पुरोहिति आदि-स्वरागम है। लेकिन प्रत्येक आदि-स्वरागम पुरोहिति नहीं है। आदि-स्वरागम और पुरोहिति के अन्तर को सूचित करने के लिए आदि-स्वरागम की तुलना में पुरोहिति को आदि-समस्वरागम कहना उपयुक्त होगा।

४. **अपश्रुति** (Ablaut या Vocalic Ablaut)—अपश्रुति का सम्बन्ध ध्वनि के परिवर्तन से नहीं है। वस्तुत: किसी रूप या पद में स्वरपरिवर्तन या मात्राभेद के कारण भिन्न व्याकरणात्मक अर्थ का जुड़ना या इसी पद्धति पर नये शब्द की रचना अपश्रुति है। स्पष्ट है कि यह न तो ऐतिहासिक विकास के क्रम में और न तात्कालिक, प्रासंगिक या सामयिक अर्थ में ही ध्वनि का परिवर्तन है। चलना से चलाना की रचना में अ के स्थान पर आ का प्रयोग अवश्य है। लेकिन यह एक व्याकरणात्मक आवश्यकता की पूर्ति के लिए है और ये दोनों ही रूप भिन्न व्याकरणात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक ही कालखण्ड में उच्चरित एक ही उच्चार में हो सकते हैं--'चलना नहीं चलाना सीखो' इन रूपों या पदों में ऐसा नहीं हुआ है कि ध्वनि के विकास-क्रम में चलना का स्थान चलाना ने ले लिया हो और इस प्रकार अ का परिवर्तन आ में हुआ हो। अभिप्राय यह है कि चलना से चलाना उस प्रकार नहीं बना है जिस प्रकार हस्त से हाथ। दोनों में ही अ का स्थान आ ने लिया है; लेकिन दोनों में ही मौलिक अन्तर है। हस्त से हाथ का बनना जहाँ ध्वनिपरिवर्तन का विषय है वहाँ चलना से चलाना रूपविज्ञान और केवल रूपविज्ञान का विषय है। ध्वनिपरिवर्तन के विवेचन में भाषाशास्त्री की दृष्टि कभी भी अर्थ पर नहीं जाती। अर्थ जहाँ से आरम्भ होता है ध्वनि का क्षेत्र वहीं समाप्त हो जाता है। यही कारण है कि रूपग्राम ही लघुतम सार्थक इकाई है,[1] ध्वनिग्राम नहीं।[2] अपश्रुति का अर्थ से कितना अनि-

१. Some morphemes can be usefully described as the smallest meaningful units in the structure of thelanguage.

--H. A. Gleason, An Introduction to Descriptive Linguistics — Page 53.

मर्षिम लघुतम अर्थयुक्त इकाई है।--डॉ० देवीशंकर द्विवेदी, भाषाभाषिकी, पृष्ठ ६२।

२. A Phoneme is a class of phonetically Similar Sounds contrasting and mutually exclusive with all similar classes in the language. — Block and Trager – Outline of Linguistic Analysis, Page 40, 1942.

If the utterances of a language consisted merely of arrangments of phonemes, there would be no points in speaking or in listening. But people do speak and listen and their oral communication transmits information and instruction and serves to co-ordinate their activities. That utterances can serve in this way is because they have another kind of

वार्य सम्बन्ध है यह इसी से समझा जा सकता है कि बिना अर्थ की चर्चा के अपश्रुति का विवेचन ही नहीं हुआ है।[१] अर्थ से सम्बन्धित होने के कारण भी अपश्रुति का विवेचन-क्षेत्र रूपविज्ञान है, ध्वनिविज्ञान नहीं। इसीलिए हमने भाषाशास्त्रीय ग्रन्थों की परम्परा के विरुद्ध अपश्रुति को रूप सम्बन्धी अध्याय के अन्तर्गत ही विवेचित किया है।

ध्वनिनियम—किसी काल में किसी भाषा की एक विशिष्ट परिवेश में प्रयुक्त ध्वनियों में होनेवाला अपेक्षाकृत अधिक व्यापक और नियमित परिवर्तन ध्वनिनियम कहलाता है। सम्भवत: नित्य ही नये-नये वैज्ञानिक नियमों की खोज ने उन्नीसवीं शताब्दी में ध्वनिपरिवर्तन के क्षेत्र में भी नियमों की खोज को जन्म दिया। ग्रिम तथा ग्रैसमैन जैसे भाषाविज्ञानियों ने अत्यन्त परिश्रम से कुछ नियमों को खोज भी निकाला। इन नियमों की खोज के आवेश में यह धारणा भी बन गयी कि भौतिकी के नियमों की तरह ध्वनिनियम भी सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक हैं और उनके अपवाद नहीं होते। भाषाविज्ञान को भौतिकी के समतुल्य सिद्ध करने की यह एक असफल चेष्टा थी। भाषाविज्ञान तो एक गत्यात्मक विज्ञान है और नित्य परिवर्तनशील मनुष्य के विचारों, भावों, सम्पर्कों आदि पर निर्भर भाषा उसका विषय है। ऐसी स्थिति में उसके नियमों की अटलता का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुत: ये नियम केवल अतीत के ध्वन्यात्मक परिवर्तनों की समानताओं की ओर संकेत कर सकते हैं। 'आगे भी ऐसा ही होगा' यह कहना इनके लिए सम्भव नहीं है। इसीलिए ब्लूमफील्ड ध्वनि-परिवर्तन को नियम न कहकर केवल ऐतिहासिक वस्तुस्थिति मात्र कहते हैं।[२] सोस्युर ने भी ध्वनिपरिवर्तन के नियमों को सूचित करने में वर्तमान काल के प्रयोग से बचने का परामर्श दिया है।[3] आज भाषा विज्ञान के क्षेत्र में अत्यधिक विश्लेषण

structure in addition to the phonemic one, a structure in terms of morphemes.

— Charles F. Hockett — A course in Modern Linguistics, Page 123.

१. **भाषाविज्ञान—भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ ४०२–४०४, १९६२।**

२. Sound change is not in any case a law, but only a historical occurance. — Language, Page 354.

३. The most serious mistake in method that I can recall at this point — Although it is not related to the principles stated above—is that of formulating a phonetic law in the present tense as if the facts embraced by it existed once and for all instead of being born and dying with in a span of time. The result is chaos. . .—Course in General Linguistics, Page 146.

और शोध-कार्य हो चुकने के बाद भी सोस्युर का परामर्श सर्वथा सही और काम का है।

सम्भव है, कोई ध्वनिपरिवर्तन हमें किसी भाषा के किसी कालखण्ड के अनेक शब्दों में मिल जाय, फिर भी उसी भाषा के उसी कालखण्ड में उसके अपवादों की संख्या भी पर्याप्त हो सकती है। क्योंकि परिवर्तन के अनेक कारणों में से किन कारणों ने ध्वनि को कहाँ क्या मोड़ दे दिया है, यह कहा नहीं जा सकता। इन मोड़ों को समझने के लिए भाषागत अध्ययन ही नहीं भाषेतर अध्ययन भी आवश्यक होते हैं। कोई भाषाभाषी किन ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक सम्पर्कों में रह रहे हैं, उनकी मनोदशा कब पुनरुत्थान की रही है और कब पुरानी भाषा बोलने वालों ने अपने द्वारा लिखे ग्रन्थों में नयी भाषा के शब्दों को प्रयुक्त कर डाला है, इन सबका सम्यक् ज्ञान केवल भाषागत अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों को बदल सकता है। इसके बाद भी बहुत सी बातें अनदेखी रह सकती हैं। महाप्राण व्यंजनों के स्थान पर केवल प्राण-ध्वनि 'ह' का रह जाना मध्य भारतीय-आर्यभाषा के दूसरे पर्व की विशेषता है। महाराष्ट्री प्राकृत की यह प्रमुख प्रवृत्ति है। लेकिन पालि में भी ऐसे कुछ शब्द हैं जिनमें महाप्राण व्यंजनों के स्थान पर केवल 'ह' ध्वनि शेष रह गयी है। जैसे—लघु>लहु; रुधिर>रुहिर; भवति>होति; साधु>साहु। रुहिर और साहु रूपों के अलावा पालि में रुधिर और साधु रूप भी मिलते हैं। लेकिन मात्र इतनी सामग्री भ्रान्त निष्कर्षों तक पहुँचा सकती है। छानबीन के बाद भाषाविज्ञानी इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि लहु, रुहिर, होति, साहु जैसे रूप पालि में परवर्ती भाषा प्राकृत से ग्रहण किये गये हैं।[1] हिन्दी की शब्दावली संस्कृत>पालि>प्राकृत>अपभ्रंश > हिन्दी इस क्रम से आनी चाहिए थी। लेकिन पालि, प्राकृत, अपभ्रंश में वांछित शब्दावली के पर्याप्त मात्रा में न होने और पुनरुत्थान की भावना के कारण हिन्दी में सीधे संस्कृत से शब्द आये हैं। इन नवागन्तुक शब्दों पर ध्वनिपरिवर्तन के वे नियम चरितार्थ नहीं होते जो संस्कृत से सीधे न आकर पालि, प्राकृत, अपभ्रंश के माध्यम से हिन्दी में आने वाले शब्दों पर होते हैं। पुनरुत्थान की भावना ने न केवल सीधे संस्कृत से शब्द लेने की परम्परा प्रारम्भ की बल्कि परवर्ती भाषाओं के माध्यम से आने वाले कुछ शब्दों, जैसे बनारस, भेलसा को भी संस्कृत रूप दे दिया। इन भाषेतर कारणों पर दृष्टि न रखने वाला भावी भाषाविज्ञानी अचरज में पड़ सकता है कि वाराणसी से बनारस तक ध्वनि-

१. पालि में, बाद में, उत्तरकाल में विकसित प्राकृत रूप भी ग्रहण कर लिये गये।
—उदयनारायण तिवारी, हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ ७५

परिवर्तन के सहज नियमानुसार विकसित होने वाला शब्द सभी मुद्रित उपलब्ध ग्रन्थों, शिलालेखों और अन्य अभिलेखों में अचानक वाराणसी रूप में क्यों मिलने लगा है।

कभी-कभी शब्द की व्यक्तिगत लोकप्रियता या सम्मान अथवा उसके ध्वनि-परिवर्तन से भाषा में जन्म लेनेवाले किसी भ्रम की आशंका उसे ध्वनिपरिवर्तन के सामान्य नियमों में आबद्ध नहीं होने देती। उदाहरण के लिए संस्कृत के कर्म, चर्म और धर्म शब्दों का ध्वनिविकास द्रष्टव्य है—

कर्म > कम्म > काम
चर्म > चम्म > चाम
धर्म > धम्म/धर्म> धरम, धर्म

यहाँ धर्म शब्द का ध्वनिविकास कर्म और चर्म की तरह न होने का कारण सम्भवतः धर्म शब्द की व्यक्तिगत लोकप्रियता या सम्मान है। शायद एक कारण भाषाभाषियों की यह आशंका भी है कि यदि धर्म शब्द का विकास धाम में हो गया तो पहले से विद्यमान गृहवाचक शब्द धाम के कारण बोलने में भ्रान्तियाँ होंगी।

परवर्ती कालों में विभाषाओं से ग्रहण किये गये शब्द भी ध्वनिपरिवर्तन की उन नियमित सीमाओं के बाहर होते हैं जिनमें पूर्ववर्ती कालों के उनके ही समान ध्वनिसंयोगों वाले शब्द अब परिवर्तित स्वरूप में बँधे हुए हैं। विभाषा के इस प्रकार के शब्द सम्बन्धित भाषा में ध्वनि-परिवर्तन का अध्ययन करने वाले भाषा-विज्ञानी का काम कठिन कर देते हैं। जैसे संस्कृत कोट्टपाल>कोट्टाल>कोटाल क्रम भारतीय आर्यभाषाओं में ध्वनिविकास का सहज क्रम प्रतीत होता है। लेकिन हिन्दी में शब्द प्रचलित है कोतवाल। आरम्भ में अध्येता का भ्रम यही हो सकता है कि सम्भवतः कोट्टपाल शब्द से ही कोतवाल शब्द विकसित हुआ है। कोट्टपाल शब्द से सहज विकसित कोटाल शब्द बंगला भाषा में प्रयुक्त होता है। फिर हिन्दी में कोट्ट-पाल शब्द से कोतवाल शब्द क्यों विकसित हुआ? इसका उत्तर भाषेतर कारणों में ढूँढ़ना होगा। हिन्दी में यह शब्द विभाषा की देन है। इस्लाम धर्मावलम्बियों के साथ फारसी शब्द कोतवाल भी हिन्दी-प्रदेश में चला आया और प्रचलित हो गया।

कभी-कभी सादृश्य की प्रवृत्ति भी ध्वनि-परिवर्तन को उसकी स्वाभाविक दिशा में नहीं जाने देती। फलस्वरूप सादृश्य के कारण भी अपवादों का निर्माण होता है। उदाहरण के लिए शहरी और नरक शब्द में ध्वनियों का ऐसा निजी

परिवेश नहीं है कि उनका विकास शहराती और नर्क शब्दों में हो। लेकिन देहाती और स्वर्ग शब्दों के सादृश्य पर उनका उक्त ध्वनिविकास हुआ। वान्द्रियैज़ ने ए० टामस के साक्ष्य पर एक ऐसे व्युत्पत्तिशास्त्री का उल्लेख किया है जिसने घोषणा की थी कि सादृश्य द्वारा उत्पन्न उपद्रव से वह खीज जाता है।[1]

समय की सापेक्षता का बन्धन ध्वनिनियम के लिए अनिवार्य है। किसी भी नियम के अधीन एक बार सारे शब्दों में परिवर्तन हो चुकने के पश्चात् परिवर्तन-सम्बन्धी वह नियम मानो निरर्थक हो जाता है। भाषा ऐसे नवीन संयोगों का पुनः सर्जन कर सकती है जो पहले परिवर्तित संयोगों के सदृश हों; इन नवीन संयोगों में परिवर्तन नहीं होते, और कहा जाता है कि उन शब्दों के विषय में नियम का आघात निष्क्रिय रहता है। इस प्रकार सभी भाषाओं में ऐसे दोहरे शब्द रहते हैं जिनका स्रोत एक ही है और जो भाषा में विभिन्न समय पर प्रविष्ट हुए। अधिक परिवर्तित शब्द सर्वप्राचीन हैं, उन शब्दों पर ऐसे ध्वन्यात्मक परिवर्तनों का प्रभाव पड़ा जिनका भाषा के नवागन्तुक शब्दों के काल में कोई प्रभाव अवशिष्ट नहीं था।[2]

वान्द्रियैज़ ने नियमों के लाभों की चर्चा करते हुए व्युत्पत्तिशास्त्री के लिए इनकी महान् उपयोगिता का उल्लेख किया है। उनका कहना है कि जो व्युत्पत्ति-शास्त्री इनका उल्लंघन करेगा उसका परिश्रम निरर्थक होगा। इसी प्रकार ध्वनि-नियमों से किसी भी भाषा का इतिहास कुछ ही सूत्रों में बद्ध हो सकता है और उनमें समागत परिवर्तनों की कुंजी भी प्राप्त हो सकती है। यदि हम किसी भाषा का कोई ऐसा शब्द जानते हों जिसका रूप किसी नियम द्वारा सिद्ध हो तो हम उस नियम के अधीन अन्य सारे ही शब्दों के रूपों का अनुमान लगा सकते हैं।[3]

नीचे प्रमुख ध्वनिनियमों की मूलवर्ती स्थापनाओं को स्पष्ट किया जा रहा है—

१. **ग्रिम नियम**—त्राटरमैन का मत है कि ध्वनि-परिवर्तन का जो नियम ग्रिम के नाम पर नामकृत है उसका ज्ञान उनके भी पूर्व डेन्मार्क के भाषाविज्ञानी

१. भाषा—पष्ठ ६०।
२. वही, पृष्ठ ५४।
३. वही, पृष्ठ ५३।

रास्क को था।[1] वांद्रियँज़ ने भी पैडरसन का इसी आशय का साक्ष्य उद्धृत किया है।[2] जो भी हो, जर्मन भाषा के महान् विद्वान् याकोव ग्रिम (१७८५–१८६३) ने ही (अपने ग्रन्थ 'जर्मन भाषा का व्याकरण' के १८२२ ई० में प्रकाशित दूसरे संस्करण के पहले खण्ड में) पहली बार इस नियम का परिपूर्ण विवेचन किया। नियम का सम्बन्ध भारोपीय स्पर्श व्यंजनों से है जिनका जर्मन भाषा में ध्वनि-परिवर्तन हुआ है। यह परिवर्तन दो बार हुआ—

प्रथम ध्वनिपरिवर्तन—यह परिवर्तन ईसा की कई शताब्दियों पूर्व हुआ। उस समय तक ऐंग्लो–सैक्सन जाति जर्मन जाति से अलग नहीं हुई थी। इसीलिए उसकी भाषा आधुनिक अंग्रेजी आदि में भी ये ध्वनिपरिवर्तन विद्यमान हैं। इसके अन्तर्गत मूल भारोपीय भाषा के निम्नलिखित स्पर्श व्यंजन जर्मन भाषा में सम्मुख दिखाये गये स्पर्श व्यंजनों में परिवर्तित हो गये—

मूल भारोपीय		जर्मन
घ्, ध्, भ्	>	ग्, द्, ब्
ग्, द्, ब्	>	क्, त्, प्
क्, त्, प्	>	ख्, थ्, फ्

मूल भारोपीय भाषा के उक्त व्यंजन संस्कृत, ग्रीक आदि भाषाओं में सुरक्षित हैं। अतः सुविधा के लिए मूल भारोपीय भाषा के शब्दों के स्थान पर अधिकांशतः संस्कृत और दूसरी ओर जर्मनिक वर्ग की अंग्रेजी भाषा के शब्दों को उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है—

घ् (ह्)	>	ग्	=	हंस	>	गूज़
ध्	>	द् (ड्)	=	विधवा	>	विडो

१. Jacob Grimm wrote in German; he published a detailed comparative grammar of all the Germanic languages, and he elaborated upon Rask's largely correct but limited information. More important than all this, however, he perceive the phonetic principle underlying and binding together the phenomena that Rask had so astutely observed. Primarily for these reasons Grimm is held to be the father of comparative linguistics, but his debt to Rasmus Kristian Rask is enormous. --Perspectives in Linguistics. Page 19,1963.

२. भाषा, पृष्ठ ४७।

भ्	>	ब्	=	भ्रातृ	>	ब्रदर
ग्	>	क्	=	गो	>	काउ
द्	>	त् (ट्)	=	द्वौ	>	टू
ब्	>	प्	=	*स्लेउब	>	स्लिप
क्	>	ख (ह्)	=	कः	>	हू
त्	>	थ्	=	तनु	>	थिन
प्	>	फ्	=	पिता	>	फादर

द्वितीय ध्वनि-परिवर्तन—यह ध्वनि-परिवर्तन उच्च जर्मन जाति से ऐंग्लो-सैक्सन जाति के पृथक् होने के उपरान्त ईसा की लगभग सातवीं शताब्दी में हुआ। स्वाभाविक है कि यह परिवर्तन ऐंग्लो-सैक्सन जाति की भाषाओं में घटित नहीं हुआ। फलस्वरूप इस परिवर्तन की शिकार उच्च जर्मन भाषा और परिवर्तन से अछूती ऐंग्लो-सैक्सन जाति की भाषा में कुछ ध्वनियाँ भिन्न-भिन्न हो गयीं। ऐंग्लो-सैक्सन जाति की प्रतिनिधि भाषा आधुनिक अंग्रेजी और उच्च जर्मन भाषा के उदाहरणों से इस परिवर्तन को स्पष्ट किया जा सकता है—

				अंग्रेजी		**उच्च जर्मन**
प्	>	फ्	=	डीप	>	टीफ
ट्	>	स्स्	=	फूट	>	फस्स
क्	>	ख्	=	योक	>	याख्
व्ह्	>	ब्	=	डोव्ह	>	टाउबे
ड्	>	ट्	=	डीड	>	टाट
थ्	>	ड् (द्)	=	थ्री	>	द्राय

२. **ग्रैसमैन नियम**—ग्रिमनियम के अनुसार मूल भारोपीय भाषा के क्, त्, प् का परिवर्तन जर्मनिक भाषाओं में ख् (ह), थ् फ् में होना चाहिए। लेकिन अनेक शब्दों में क्, त्, प् का परिवर्तन ग्, द्, ब् में देखने को मिला। उदाहरण के लिए एक ओर ग्रीक तथा दूसरी ओर जर्मनिक भाषाओं की प्रतिनिधि आधुनिक अंग्रेजी भाषा के शब्दों को लिया जा सकता है—

ग्रीक		**अंग्रेजी**	
किख्खो	>	गो	(go)
तुफ्लोस	>	डॅम	(dumb)
पिथास	>	बॉडि	(Body)

ग्रैसमैन ने ग्रिमनियम के उक्त अपवादों का समाधान खोजा। उन्होंने अपना नियम प्रस्तुत किया कि यदि मूल भारोपीय भाषा में शब्द या धातु के आदि और अन्त दोनों स्थानों पर महाप्राण व्यंजन हो तो संस्कृत, ग्रीक आदि भाषाओं में एक अल्पप्राण हो जाता है। इस नियम के अनुसार उपर्युक्त ग्रीक शब्द मूल भारोपीय भाषा में वस्तुतः इस प्रकार रहे होंगे—

*घिग्खो
*धुप्लोस
*भिथास

और घ्, ध्, भ् का जर्मनिक भाषाओं में ग्, द्, ब् बन जाना ग्रिमनियम के अनुसार ही है। इस प्रकार ग्रैसमैन के नियम से यह सिद्ध हो गया कि ग्रिमनियम में कोई दोष नहीं है और उसके अन्तर्गत होने वाले ध्वनिपरिवर्तनों के जो अपवाद दिखाई दे रहे हैं वे वस्तुतः अपवाद नहीं कहे जा सकते।

३. **वर्नर नियम**—ग्रैसमैन नियम की खोज के बाद भी ग्रिमनियम में कुछ अपवाद रह गये थे। इनका समाधान कॉर्ल वर्नर द्वारा खोजे गये नियम से हुआ। वर्नर का नियम बलाघात पर आधारित है। वर्नर ने बताया कि ग्रिमनियम उच्चारण-वैशिष्ट्य पर आधारित है। जब मूल भारोपीय भाषा के शब्दों में क्, त्, प् के पूर्व बलाघात होता है तो परिवर्तन ग्रिमनियम के अनुसार ही होता है—

अर्थात्—क्, त्, प् > ख् (ह), थ्, फ्

जैसे—	**संस्कृत**		**अंग्रेजी**	
	दन्त	>	टीथ	(त् > थ्)

लेकिन मूल भारोपीय भाषा के शब्दों में क्, त्, प् के बाद बलाघात होने पर ग्रैसमैन नियम के अनुसार परिवर्तन होता है—

अर्थात्—क्, त्, प् > ग्, द्, ब्

जैसे—	**संस्कृत**		**गाथी**	
	सप्तम	>	सिबुन	(प् > ब्)
	शतम्	>	हुन्द	(त > द्)

४. **तालव्य नियम**—अभी तक उपलब्ध साक्ष्य के अनुसार यह कहा जा सकता है कि इस नियम का सर्वप्रथम उल्लेख विल्हन टॉमसन ने सन् १८७५ ईसवी में किया था। कालित्ज, सोस्युर आदि विद्वानों के नाम भी इस नियम की खोज के साथ

जुड़े हुए हैं । इस नियम ने बताया कि मूल भारोपीय भाषा के शब्दों का अग्रस्वर 'इ' के पूर्व स्थित (उच्चरित) कण्ठ्य व्यंजन संस्कृत में तालव्य व्यंजन में बदल गया है। मूल भारोपीय भाषा में तीन प्रकार के कण्ठ्य व्यंजन थे—

१.	क्,	ख्,	ग्,	घ्
२.	क़्,	ख़्,	ग़्,	घ़्
३.	क्व्,	ख्व्,	ग्व्,	घ्व्

उक्त व्यंजन-प्रकारों में से तीसरे प्रकार के व्यंजनों के अन्तर्गत संस्कृत में क्व् तथा ग्व् का ही तालव्यीकरण हुआ। अर्थात् क्व्, ग्व्, > च्, ज्। पच् धातु से सम्बन्धित पाकस्, पचति, पक्व जैसे शब्द इस नियम के सन्दर्भ में उदाहृत किये जा सकते हैं। कण्ठ्य व्यंजन के तालव्य व्यंजन में बदलने की ओर संकेत करने के कारण ही इस नियम को तालव्य नियम कहते हैं ।

इस नियम की खोज के पूर्व यह मान्यता थी कि संस्कृत में जो ध्वनियाँ सुरक्षित हैं वे अन्य भाषाओं की अपेक्षा मूल भारोपीय भाषा की ध्वनियों के अधिक निकट हैं। चूँकि कुछ शब्दों में संस्कृत के च्, ज् के स्थान पर भारोपीय परिवार की अन्य भाषाओं में क्, ग् ध्वनियाँ मिलती हैं, इसलिए यह मान लिया गया था कि शब्दों में मूलतः च्, ज् ध्वनियाँ ही रही होंगी, जो ध्वनिपरिवर्तन के कारण अन्य भाषाओं में क्, ग् ध्वनियों में बदल गयीं। तालव्य नियम की खोज ने इस मान्यता को गलत सिद्ध कर दिया। अब संस्कृत की अपेक्षा ग्रीक, लैटिन आदि भाषाएँ मूल भारोपीय भाषा के अधिक समीप समझी जाने लगी हैं।

रूप-परिवर्तन

रूप या पद के सम्बन्ध में 'भाषा : गठन' के अन्तर्गत आरम्भिक चर्चा की जा चुकी है। शब्द का वाक्य में प्रयुक्त स्वरूप ही रूप या पद है। वस्तुतः अधिक स्वाभाविक कथन यह होगा कि रूपों या पदों से शब्द छाँटे जाते हैं। शब्द रूप का छँटा हुआ स्वरूप है। इसलिए इस प्रकार का कथन भी कि 'पद शब्द पर आधारित होते हैं'[1], वैज्ञानिक कथन नहीं है। रूप की स्वाभाविक सत्ता है, शब्द की नहीं। किसी भाषा के शब्दों की सूची या कोश एक कृत्रिम कार्य है। यही कारण है कि स्कूलों में इस बात पर बराबर बल दिया जाता है कि शब्दों के साथ उनके प्रयोगों को अवश्य सीखा जाय। छात्रों से शब्दों का अर्थ ही नहीं पूछा जाता वाक्यों में उनका प्रयोग भी पूछा जाता है। इसीलिए कहा गया है—'भली प्रकार ज्ञात और प्रयुक्त एक शब्द भी स्वर्ग तथा लोक में अभीष्ट फलदायी होता है।'[2]

शब्द की निरपेक्ष सत्ता है, रूप की नहीं। रूप वाक्य के अन्य रूपों की सापेक्षता में ही रूप है। शब्द शुद्ध अर्थतत्व है। यद्यपि उसके अर्थ की प्रतिमा हमारे मस्तिष्क में तभी उद्भासित होती है जब हम, भले ही अनजाने में हो, उसे वाक्य में प्रयुक्त कर लेते हैं। तात्पर्य यह कि शब्द का अर्थ हमें तभी स्पष्ट होता है जब हम उसका रूप में परिवर्तन कर लेते हैं। परिवर्तन का यह व्यापार भले ही हमारे मस्तिष्क में अनजाने घटित होता हो, पर घटित होता है। 'घोड़ा' शब्द सुनते हैं तो यह एक शब्द मात्र नहीं बल्कि वाक्य है। वक्ता का आशय है—'वह घोड़ा देखो'; 'कितना सुन्दर घोड़ा है, देखो'; या ऐसा ही और कुछ। और यदि उक्त घोड़ा शब्द मात्र ही है तो भी उसके अर्थ की प्रतिमा को हमारा मस्तिष्क जाने-अनजाने उक्त किसी वाक्य के सन्दर्भ में ही अपने भीतर स्पष्ट करता है।

रूप अर्थतत्व और सम्बन्धतत्व का संयोग है। सम्बन्धतत्व वाक्य में विभिन्न अर्थतत्वों का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करके वाक्य को एक संगठित इकाई का रूप देता है और इस प्रकार अर्थ को प्रकट करता है। 'मोहन घर से बाजार को गया' वाक्य में मोहन, घर, बाजार और जाना ये चार अर्थतत्व हैं। लेकिन मात्र इनके उच्चारण

१. भाषाविज्ञान—भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ १६८, १६६६।

२. एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति।

से वक्ता का अभीष्ट अर्थ कहाँ प्रकट होता है? वाक्य में 'से' और 'को' स्पष्ट ही दीखने वाले सम्बन्धतत्व हैं। उनसे यह सूचना मिलती है कि मोहन ने जाने का कार्य घर की ओर से बाजार की दिशा में किया है, न कि बाजार की ओर से घर की दिशा में। 'मोहन' शब्द का वाक्य में स्थान उसके कर्ताकारकत्व को सूचित करता है। यदि किसी शब्द की वाक्य में किसी विशेष स्थान पर स्थिति उसे वाक्य के अन्य शब्दों से सम्बन्धित करती है तो भाषाशास्त्री इसे भी एक सम्बन्ध तत्व मानते हैं। अधिक सूक्ष्मता से कहना चाहें तो कहेंगे कि मोहन रूप (Morph) में हिन्दी भाषा के सम्बन्धतत्वदर्शी रूपग्राम 'ने' का शून्य संरूप भी है जो हिन्दी वाक्यों के एक विशेष परिवेश में ही प्रकट होता है। जाना से गया पद बनाने में सम्बन्धतत्व उसी में मिल गया है। इस सम्बन्धतत्व के कारण ही क्रिया के भूतकालत्व की सूचना मिली है। स्पष्ट है कि सम्बन्धतत्वों से शब्दों के नियंत्रित हुए बिना अर्थ की प्रतीति सम्भव नहीं है। प्रयोग की दृष्टि से अर्थतत्वदर्शी और सम्बन्धतत्वदर्शी दोनों ही रूपग्राम बद्ध रूपग्राम हैं। दोनों में से किसी का भी स्वतंत्र प्रयोग सम्भव नहीं है। बन्धन दोनों ओर से है। सम्बन्धदर्शी रूपग्राम अर्थदर्शी रूपग्रामों के बिना और अर्थदर्शी रूपग्राम सम्बन्धदर्शी रूपग्रामों के बिना वाक्य में प्रयुक्त नहीं हो सकते। सम्भवतः इसीलिए पतंजलि का कथन है—'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि केवल प्रत्ययः।' लेकिन भाषाशास्त्र में केवल सम्बन्धतत्वदर्शी रूपग्रामों को ही बद्ध रूपग्राम कहे जाने की परम्परा है। इन बद्ध रूपग्रामों की संख्या भाषाओं में कुछ सौ से अधिक नहीं होती। लेकिन इनके बिना भाषा का कार्य चलना कठिन है। भाषाओं के रूपविज्ञान का अध्ययन एक प्रकार से इन्हीं का अध्ययन है।[1]

भाषाओं में सम्बन्धतत्व द्वारा मुख्य रूप से लिंग, वचन, कारक, पुरुष, काल आदि के भावों की अभिव्यक्ति होती है। इनकी अभिव्यक्ति के लिए प्रत्येक भाषा अपने ढंग से सम्बन्धतत्वों का प्रयोग करती है। एक भाषा के प्रयोग दूसरी भाषा के प्रयोगों से भिन्न और कभी-कभी सर्वथा भिन्न हो सकते हैं। एक ही परिवार की विभिन्न भाषाओं में इन प्रयोगों में प्रायः बहुत अधिक समानता भी होती है।

लिंग—भाषा में प्रायः तीन लिंग मिलते हैं—पुंल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग।

१. By the morphology of a language we mean the consruction in which bound forms appear among the constituents.

—Bloomfield.

लेकिन ये सम्पूर्णतः स्वाभाविक पुरुषत्व, स्त्रीत्व और नपुंसकत्व पर आधारित नहीं हैं। उदाहरण के लिए स्त्रीवाचक शब्द को स्वाभाविक रूप से स्त्रीलिंग में ही होना चाहिए। लेकिन संस्कृत में वह तीनों लिंगों में मिलता है—दार (पुंल्लिग), महिला (स्त्रीलिंग), कलत्रं (नपुंसकलिंग)। हिन्दी में माला शब्द प्राकृतिक रूप से नपुंसकलिंग होते हुए भी स्त्रीलिंग है और उसमें गुँथा हुआ मोती या फूल प्राकृतिक रूप से नपुंसकलिंग होते हुए भी माला की तरह स्त्रीलिंग नहीं पुल्लिंग शब्द है। अंग्रेजी में भी सूर्यवाचक शब्द सन् पुंल्लिंग और चन्द्रवाचक शब्द मून् स्त्रीलिंग है। फ्रान्सीसी भाषा में लिंग-व्यवस्था के सम्बन्ध में वान्द्रियैज का कथन है—'प्राकृतिक लिंग की अभिव्यक्ति के लिए फ्रान्सीसी व्याकरणीय लिंग इतना कम उपयोगी है कि तीन-चौथाई समय स्त्री-पुंस्त्व के भेद को व्याकरणीय लिंग से व्यक्त करने का फ्रान्सीसी में कोई साधन नहीं।'[1] भाषाओं में कृत्रिम लिंग के आविर्भाव या आरोपण पर विचार करना सामान्य भाषाविज्ञान का विषय है।

सभी भाषाओं में लिंगों की संख्या भी समान नहीं है। संस्कृत में तीन—पुंल्लिग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग हैं। अपभ्रंश तक आते-आते नपुंसकलिंग समाप्तप्राय हो जाता है। केवल महाराष्ट्री एवं दक्षिणी शौरसेनी में बचता है। उत्तराधिकारस्वरूप मराठी, गुजराती में हिन्दी की तरह दो लिंगों के अतिरिक्त नपुंसकलिंग भी स्वल्पावशिष्ट है। अंग्रेजी में एक चौथा समानलिंग भी है।

भाषाओं में लिंग के भाव को व्यक्त करने की मुख्य रूप से तीन पद्धतियाँ हैं—

१. अलग-अलग शब्द—स्त्री-पुरुष, माता-पिता, राजा-रानी, भाई-बहिन, ब्वाय-गर्ल, सन-डॉटर, नर-मादा आदि।

२. स्त्रीपुरुषवाचक स्वतंत्र शब्द साथ में रखकर—नरकबूतर—मादाकबूतर, हीगोट—शीगोट, या मुंडा भाषा में आंडियाकूल (बाघ)—एंगाकूल (बाघिन)।

३. प्रत्यय जोड़कर—सर्प—सर्पिणी, प्रिंस—प्रिंसेस, लायन—लाइनेस, मुंशी—मुंशियानी, पंडित—पंडितानी।

लिंग-भेद केवल संज्ञाओं तक ही सीमित नहीं है। किसी-किसी भाषा में सर्वनाम, विशेषण और क्रियाओं में भी है। अंग्रेजी (ही, शी, इट), संस्कृत (सः, सा, तत्) में सर्वनामों में; संस्कृत (सुन्दरः बालकः, सुन्दरी बालिका, सुन्दरं कमलम्) और कहीं-

१. भाषा, पृष्ठ ११२।

कहीं हिन्दी में (मोटा लड़का, मोटी लड़की) विशेषणों में तथा हिन्दी में (लड़का जाता है, लड़की जाती है) क्रियाओं में भी यह भेद मिलता है।

वचन—आज की अधिकांश भाषाओं में एकवचन और बहुवचन केवल ये दो ही वचन मिलते हैं। संस्कृत में तीन वचन हैं—एकवचन, द्विवचन और बहुवचन। प्राकृतों तक आते-आते द्विवचन के रूपों का प्रयोग समाप्त हो जाता है। फलस्वरूप परवर्ती भाषाओं में केवल दो ही वचन—एकवचन और बहुवचन मिलते हैं। कुछ अफ्रीकी भाषाओं में त्रिवचन के रूप भी मिलते हैं। द्विवचन का आविर्भाव किन्हीं वस्तुओं के समान और साथ-साथ देखने से हुआ होगा, जैसे दो पैर, दो हाथ, दो आँखें आदि।[1] वचन के अनुसार संज्ञा (लड़का—लड़के), सर्वनाम (वह—वे) और क्रिया के रूप परिवर्तित होते हैं। संस्कृत में वचन के अनुसार विशेषण के रूप भी बदलते हैं, (जैसे—श्यामः बालकः, श्यामौ बालकौ, श्यामाः बालकाः)। हिन्दी में भी कहीं-कहीं ऐसा होता है—अच्छा लड़का, अच्छे लड़के। लेकिन सर्वत्र नहीं, जैसे—योग्य लड़का, योग्य लड़के। वचन के भाव को व्यक्त करने के लिए प्रायः दो पद्धतियों का प्रचलन है—

१. प्रत्यय जोड़कर— Boy से Boys , जानवर से जानवरों।

२. समूहवाची शब्द का प्रयोग—हम से—हमलोग, श्रोता से—श्रोतागण।

कारक—क्रिया के साथ संज्ञा या सर्वनाम के सम्बन्ध को कारक कहते हैं। चूंकि सम्बन्ध और सम्बोधन में इनका सम्बन्ध क्रिया से नहीं होता, इसलिए सम्बन्ध और सम्बोधन को कारक भी नहीं माना जाता। संस्कृत में संज्ञा, सर्वनाम और तदनुसार विशेषण के विभिन्न कारकों तथा सम्बन्ध और सम्बोधन के लिए रूप चलते हैं जिन्हें विभक्ति कहते हैं। सम्बोधन को मिलाकर कुल आठ विभक्तियाँ हैं। यह स्थिति संस्कृत भाषा की है। हिन्दी में कुल दो ही विभक्तियाँ रह गयी हैं—अविकारी और विकारी। अविकारी में शब्द ज्यों का त्यों रहता है और विकारी में उसमें कुछ विकार या परिवर्तन हो जाता है। इसी विकारी रूप के साथ परसर्ग लगाकर हिन्दी में विभिन्न कारकों के आशय प्रकट किये जाते हैं।

पुरुष—पुरुष तीन होते हैं—अन्य या प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष। संसार की अनेक भाषाओं में पुरुष के आधार पर क्रिया के रूप में परिवर्तन किया जाता है। जैसे—

१. सामान्य भाषाविज्ञान–बाबूराम सक्सेना, पृष्ठ १३७, १९६५।

अन्य पुरुष—वह जाता है,	he goes,	सः गच्छति
मध्यम पुरुष—तुम जाते हो,	you go,	त्वम् गच्छसि
उत्तम पुरुष—मैं जाता हूँ	I go,	अहम् गच्छामि

काल—भारत और यूरोप की जो भाषाएँ आपस में मिलती-जलती हैं उनमें वर्तमान काल के रूपों की समानता सबसे ज्यादा है, भूतकाल की उससे कम और भविष्यकाल की सबसे कम है।[1] इससे यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि मानवसमूहों ने सबसे पहले प्रत्यक्ष वर्तमान काल की कल्पना की होगी। फिर भूत और सबसे बाद में भविष्य काल की कल्पना की गयी होगी। भूतकाल किसी समय का भोगा हुआ वर्तमान ही तो है। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि मानवसमूहों का ध्यान वर्तमान के बाद भूतकाल की ओर ही गया। भाषाओं में काल सम्बन्धी धारणाएँ धीरे-धीरे स्पष्ट हुई हैं और आज वे जितनी स्पष्ट हैं उतनी स्पष्ट पहले कभी नहीं थीं। संस्कृत में ही क्रिया में काल के ऊपर अधिक बल नहीं था, क्रिया के प्रकार पर अधिक बल दिया जाता था। उदाहरण के लिए संस्कृत में भूतकाल के लिए तीन रूप (अनद्यतन, परोक्ष और सामान्य) हैं। किन्तु इनमें क्रिया के समाप्त होने की भावना अधिक निहित है, भूतकाल की कम। इसके विपरीतफ्रान्सीसी या जर्मन जैसी भाषाओं में क्रिया प्रधानतः काल की बोधक है। जर्मन में क्रिया के लिए प्रयुक्त शब्द त्जाइटवौर्त का अर्थ ही काल होता है।

काल के उक्त तीन भेदों के अतिरिक्त क्रियाओं की पूर्णता-अपूर्णता, भाव या अर्थ (mood) आदि के आधार पर उनके और अनेक उपभेद होते हैं। अनेकानेक भेदों-उपभेदों को प्रकट करने के लिए क्रियाओं के अर्थदर्शी रूपग्रामों के साथ अनेक सम्बन्धदर्शी रूपग्राम जोड़े जाते हैं।

उपर्युक्त लिंग, वचन, कारक, पुरुष, काल आदि के भाव को सूचित करने के लिए भाषाओं में अनेक प्रकार के सम्बन्धतत्वों का सहारा लिया जाता है, जिनमें प्रमुख ये हैं—

१. **शब्द का स्थान**—कभी-कभी शब्द अपने विशिष्ट स्थान पर स्थित होने मात्र से ही एक विशेष सम्बन्धतत्व से युक्त हो जाता है और स्थान बदल जाने पर उसका वह सम्बन्धतत्व छिन भी जाता है। जैसे—

1. **भाषा और समाज—रामविलास शर्मा, पृष्ठ ४६३** ।

राजमहल	——	महलराज
Mohan Killed Ram	–––	Ram Killed Mohan
मैं फल खाता हूँ	——	फल गिरता है

२. **शून्य सम्बन्धतत्व**—शब्द को ज्यों का त्यों छोड़ दिया जाता है। इस रूप में भी वह एक विशेष सम्बन्ध की सूचना देता है। जैसे हिन्दी में धातु का अविकृत रूप (कर, चल, हँस) क्रिया के आज्ञा-अर्थ का बोधक होता है। संस्कृत धातुओं के लोट लकार मध्यम पुरुष एकवचन के रूप में भी यही बात दृष्टिगोचर होती है। संस्कृत में किसी किसी संज्ञा का अविकृत रूप (सरित्, नदी, बालिका, जगत्, कवि, गुरु) ही प्रथमा एकवचन का बोध कराता है। अंग्रेजी में Sheep का बहुवचन Sheep और Put क्रिया का भूतकालिक रूप Put ही है। I go में भी go क्रिया अपने अविकृत रूप में ही उत्तमपुरुष एकवचन सामान्य वर्तमान का द्योतन कराती है। प्रथम प्रकार के सम्बन्धतत्व (शब्द का स्थान) को भी शून्य सम्बन्धतत्व कहकर सूचित किया जाता है।

३. **स्वतंत्र शब्द**—जैसे हिन्दी के कारक चिह्न या परसर्ग, अंग्रेजी के to, from, on, in आदि; संस्कृत के इति, एव, अपि, च आदि। वाक्य में दो स्थानों पर प्रयुक्त शब्द जैसे—If·········then, यद्यपि········तथापि।

४. **ध्वनिपरिवर्तन**—

(अ) स्वरपरिवर्तन या अपश्रुति (Vocalic Ablent)

कभी-कभी शब्द में व्यञ्जनों के ज्यों के त्यों रहने पर भी मात्र स्वरों या उनकी मात्रा के परिवर्तन से काल, वचन, पुरुष आदि के परिवर्तन की सूचना मिलती है। मात्रा-भेद या स्वर परिवर्तन से कभी-कभी अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है। शब्द में घटित होने वाली यह पद्धति अपश्रुति कहलाती है और मुख्य रूप से भारोपीय, हैमिटिक तथा सैमिटिक परिवार की भाषाओं में ही मिलती है। इसका पता सबसे पहले १८७१ ई० में लगा था। लेकिन भाषाशास्त्रीय ग्रन्थों में इसका विवेचन सदैव ध्वनिपरिवर्तन के अन्तर्गत ही होता रहा है जिसे उचित कहना कठिन है। जब सम्बन्धतत्व केवल स्वरपरिवर्तन के द्वारा शब्द में जुड़ता है तो उसे गुणीय अपश्रुति और जब केवल मात्राभेद के द्वारा जुड़ता है तो उसे मात्रिक अपश्रुति कहते हैं।

गुणीय अपश्रुति——

मेल––– मिला—— मिली—— मिले

Foot — Feet

Sing — Sang

किताब — कातिब

हैं — हूँ

मात्रिक अपश्रुति——

ba (कीचड़) — ba: (खुला)[1]

वसुदेव—— वासुदेव[2]

(ब) व्यंजन परिवर्तन

Send — Sent

Advice — Advise

५. सम्बन्धतत्वदर्शी ध्वनियाँ अर्थतत्वदर्शी ध्वनियों में जोड़ना—

(अ) आदि में (आदि सर्ग)

गच्छ्—अगच्छत्

(ब) मध्य में (मध्य सर्ग)

स्नाति—स्नापयति

दल (मारना)—दपल (परस्पर मारना)[3]

(स) अन्त में (अन्त सर्ग, विभक्ति या प्रत्यय)

राम — रामस्य

go — going

walk — walked

पंडित — पंडितानी

६. ध्वनिगुण—

(अ) बलाघात

।

Conduct (आचरण)—Conduct (आचरण करना)

(ब) सुराघात—चीनी भाषा में 'ब' शब्द में धीर सुर होने से उसका अर्थ

१. अफ्रीका की ईव भाषा का उदाहरण।

२. हिन्दी अ और आ में केवल मात्रिक भेद ही नहीं है। यह उदाहरण केवल सुविधा के लिए दिया गया है।

३. मुण्डा भाषा का उदाहरण।

होता है महिला, उच्च होने से उमेठना और तीक्ष्ण होने से राजा का कृपापात्र अर्थ होता है।[1] पुराणों में कथा प्रसिद्ध है कि इन्द्र-शत्रु शब्द में अस्थाने सुराघात का प्रयोग हो जाने से स्वयं दैत्यों का नाश हो गया, यद्यपि वे देवताओं का नाश करना चाहते थे।

अर्थतत्वदर्शी रूपग्राम और सम्बन्धतत्वदर्शी रूपग्रामों का पारस्परिक संयोग या तो पूर्ण हो सकता है, जैसा ऊपर शून्य सम्बन्धतत्व तथा ध्वनिपरिवर्तन के उदाहरणों में हुआ है; या अपूर्ण हो सकता है, जैसा killed, going आदि में, या द्रविड़ तथा एस्पैरेंतो भाषा में मिलता है। कभी-कभी दोनों ही रूपग्राम स्वतंत्र रहते हैं, जैसे राम ने, राम को, राम के लिए।

किसी भाषा की रूपरचना उसका अधिक स्थिर और स्थायी तत्व है। भाषा में नये या विदेशी शब्द शीघ्रतापूर्वक आकर शब्दकोश को बदल सकते हैं, उसके शब्दार्थों में भी भारी परिवर्तन हो सकता है, उसमें ध्वनि के परिवर्तन भी घटित हो सकते हैं। लेकिन उसकी रूपरचना को शीघ्रता से नहीं बदला जा सकता। वास्तव में रूपरचनात्मक परिवर्तन की गति बहुत धीमी होती है।

रूपरचनात्मक परिवर्तन किसी भी रूप के विशेष ढंग से प्रयुक्त होने पर होता है, इसलिए वह एक शब्द के रूप को ही प्रभावित करता है। उससे सम्बन्धित भाषा का सम्पूर्ण रूप-संस्थान परिवर्तित नहीं होता। इस प्रकार इसकी व्यापकता भी सीमित है। जब किसी भाषा की किसी ध्वनि में परिवर्तन होता है तो वह प्रायः उन सब शब्दों में घटित होता है जिनमें वह विशिष्ट ध्वनि है। दोनों परिवर्तनों का अन्तर अपवादों की संख्या से लगाया जा सकता है। रूपरचनात्मक परिवर्तनों के अपवाद बराबर मिलते हैं। परिवर्तन घटित हो जाने पर भी पुराने रूप प्रयोग में बने रहते हैं। इसके विपरीत ध्वनिपरिवर्तनों के अपवाद प्रायः नहीं मिलते। सम्भवतः यही कारण है कि रूपनियमों की खोज नहीं हो सकी है, जब कि ध्वनिनियमों को सरलता से खोज लिया गया है।

स्पष्ट अभिव्यक्ति और प्रयत्नलाघव ये दो उद्देश्य हैं जिन्हें किसी भाषा में रूप-परिवर्तन की प्रक्रिया द्वारा प्राप्त किया जाता है। इन दोनों में सामंजस्य बैठा पाना एक आदर्श स्थिति है जिस तक पहुँचने की चेष्टा तो सदैव की जाती है लेकिन पहुँचा नहीं जाता। यह अधिक से अधिक उपलब्धि और कम से कम श्रम के बीच तालमेल बैठाने का कार्य है। यह तो ठीक है कि यात्रा में अदद इतने न हो जायँ

१. सामान्य भाषाविज्ञान—बाबूराम सक्सेना, पृष्ठ ७९।

कि गिनने और याद रखने में कठिनाई हो, लेकिन यह भी तो आवश्यक है कि सबका एक इतना बड़ा अदद न बना दिया जाय कि जब जो चीज चाहिए वह ढूँढ़े न मिले। जहाँ लाखों करोड़ों यात्री हों और सभी को सामान पर स्वामित्व हो वहाँ अदद बराबर छूटते-बँधते रहें और आदर्श स्थिति कभी प्राप्त न हो पाये, यह स्वाभाविक ही है। स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए नये रूपों की सृष्टि होती है और रूपरचना अनेकरूपता की ओर गमन करती है। लेकिन अनेकरूपता और अपवादों की स्थिति भाषाभाषियों की स्मृति के लिए बोझ होती है। इसलिए वे अपवादों को मिटाने की चेष्टा करते हैं और भाषा एकरूपता की ओर गमन करती है। ये दोनों प्रक्रियाएँ भाषा में एक साथ चलती रहती हैं। संस्कृत में अकारान्त, इकारान्त, उकारान्त संज्ञाओं के रूप अलग-अलग चलते हैं। षष्ठी विभक्ति एकवचन में क्रमशः उनके रूप हैं—पुत्रस्य, अग्नेः और भिक्षोः। एक ही स्थिति या रूप के एक ही परिवेश में प्रयोग के लिए तीन भिन्न रूपों को याद रखने का कोई औचित्य नहीं है। अकारान्त शब्दों के बाहुल्य के कारण यह स्वाभाविक ही था कि अन्य दो शब्दों के रूप अकारान्त शब्द के रूपों के अनुसार ढाल दिये जायँ। हुआ भी यही। प्राकृत काल तक आते-आते पुत्तस्स < पुत्रस्य की अनुरूपता में अन्य दो शब्दों के रूप हो गये अग्गिस्स < अग्नेः, भिक्खुस्स < भिक्षोः। स्वयं संस्कृत में ही इस प्रकार की एकरूपताएं सम्पन्न हुई थीं। उदाहरण के लिए वैदिक संस्कृत में षष्ठी बहुवचन में—आम् एवं—आनाम् दो प्रत्ययों का प्रयोग होता था। संस्कृत में प्रायः केवल—आनाम् का प्रयोग रह गया। वैदिक संस्कृत में प्रथमा बहुवचन में देवाः, देवासः ये दो रूप थे। संस्कृत ने केवल देवाः को रहने दिया। लेकिन एकरूपता की इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति से स्पष्ट अभिव्यक्ति के मार्ग में बाधाएँ खड़ी हो चलीं। फलस्वरूप अब स्पष्ट अभिव्यक्ति की प्राप्ति के लिए रूप-परिवर्तन आरम्भ हुआ। यह प्रक्रिया रूपों को पुनः अनेकरूपता की दिशा में ले गयी। यह सूचित करने के लिए कि कौन सा रूप किस कारक का है, शब्द के साथ परसर्गों का प्रयोग आरम्भ हुआ। पालि, प्राकृत में ही एकरूपता की उक्त प्रवृत्ति के साथ ही अनेकरूपता की यह नयी प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। किन्तु इसका विकास अपभ्रंश भाषाओं में देखने को मिलता है। करण के लिए सहुँ, तण; सम्प्रदान के लिए केहि, रेसि; अपादान के लिए थिउ, होन्त; सम्बन्ध के लिए केरअ, केर; और अधिकरण के लिए महें, मज्झ आदि परसर्ग अपभ्रंशों की विशेषता है।

उक्त दो उद्देश्यों को प्राप्त करने की मानवीय आकांक्षा भाषाओं में रूपपरिवर्तन

की सम्भावनाओं की सृष्टि करती है। लेकिन इन सम्भावनाओं को सादृश्य तथा नये रूपों की सृष्टि से चरितार्थता प्राप्त होती है। सुविधा के लिए इन्हें ही रूप-परिवर्तन का कारण कह सकते हैं—

१. **सादृश्य**—सादृश्य उस पद्धति का नाम है जिससे ज्ञात रूप के आधार पर मस्तिष्क एक नया रूप, एक नया पद अथवा भावाभिव्यक्ति (एक्सप्रेशन) के लिए एक नयी शैली गढ़ लेता है।[1] अपवादों को स्मरण रखने की कठिनाई से बचने के लिए यह स्वाभाविक ही है कि हम अपवाद का रूपपरिवर्तन करके उसे किसी बहुप्रचलित रूप के अनुरूप बना लें। अंग्रेजी में child का बहुवचन children होता है। यह एक अपवाद है। अंग्रेजी सीखने का प्रयास करते समय और कभी-कभी खूब अभ्यस्त हो जाने के बाद भी अंग्रेजी में विद्यमान बहुवचन बनाने की सामान्य पद्धति के अनुसार उसका बहुवचन childs बन बैठता है। कोई आश्चर्य नहीं यदि किसी समय यही रूप प्रचलित हो जाय और children रूप को प्रचलन से हटना पड़े। इसी प्रकार box से boxes के सादृश्य पर ox से (oxen के स्थान पर) प्रयोग ozes मुँह से निकल जाना स्वाभाविक ही है।

अर्थपरिवर्तन में साहचर्य की जो महत्वपूर्ण भूमिका है रूपपरिवर्तन में वही भूमिका सादृश्य की कही जा सकती है। संस्कृत संख्याभों में ग्यारह और बारह के लिए शब्द थे एकदश, द्वादश। एकदश का स्पष्ट अर्थ ही है एक और दश। लेकिन द्वादश के सादृश्य पर एकदश का रूप परिवर्तित होकर हो गया एकादश, जिसका एक और दश यह अर्थ नहीं निकलता। अब संस्कृत में एकादश ही ग्यारह के अर्थ में रूढ और प्रचलित है। संस्कृत के इकारान्त, उकारान्त शब्दों के रूप किस प्रकार प्राकृत में अकारान्त की तरह चलने लगे इसके उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। हिन्दी उत्तमपुरुष सर्वनाम एकवचन का विकारी रूप मुझ ध्वनिविकास की दृष्टि से वस्तुतः मझ होना चाहिए था। क्योंकि उसका विकास संस्कृत मह्यम् से हुआ है और मह्यम् में कहीं भी उकार नहीं है। लेकिन तुभ्यम् से तुझ के सादृश्य पर हिन्दी में उसका रूप हुआ मुझ।

अंग्रेजी में सबल और निर्बल दो प्रकार की क्रियाएँ हैं। सबल क्रियाओं के रूप नियमित नहीं हैं। अपवाद के रूप में स्थित रहने के कारण ही वे सबल कहलाती हैं। पुट, गो, राइट आदि सबल क्रियाओं के उदाहरण हैं। इनके रूप अन्य क्रियाओं की तरह –इड (– ed) लगाकर नहीं बनते। अंग्रेजी भाषा में आरम्भ में ऐसी क्रियाएँ

१. भाषा—जो० वान्द्रियैज, पृष्ठ १८७।

अधिक थीं। धीरे-धीरे सादृश्य के आधार पर उनका नियमितकरण होता गया। अभी भी जो क्रियाएँ नियमित या निर्बल नहीं हो पायी हैं उनके भी नियमित या निर्बल होने की प्रवृत्ति अंग्रेजी उच्चारों में परिलक्षित होती है। अंग्रेजी विशेषणों में अधिकतर अधिकतम की सूचना देने के लिए —er,—est रूपग्रामों के प्रयोग कम होते जा रहे हैं और उनका स्थान सादृश्य के आधार पर मोर (more) और मोस्ट (most) को मिलता जा रहा है। चार्ल्स बारबर का कथन है कि अंग्रेजी में बीस-तीस वर्ष पूर्व कॉमनर (commoner) और कॉमनेस्ट (commonest) का प्रयोग अत्यन्त सहज था। लेकिन आज प्राय: प्रत्येक व्यक्ति मोर कॉमन तथा मोस्ट कॉमन का प्रयोग करता है।[1] बी० बी० सी० के मौसम सम्बन्धी प्रसारणों में क्लाउडियर (cloudier) के स्थान पर मोर क्लाउडी (more cloudy) का प्रयोग होने लगा है। सादृश्य का यह प्रभाव गुड (good) विशेषण के रूपों पर भी पड़ना आरम्भ हो गया है और बैस्ट (best) के स्थान पर मोस्ट गुड (most good) के इक्के-दुक्के प्रयोग अंग्रेजी के परिनिष्ठित लेखन में दृष्टिगोचर होने लगे हैं।[2] सम्बन्ध कारक के चिह्न के रूप में ऑव (of) के स्थान पर is और सहायक क्रियाओं—विल (will) तथा शैल (shall) में से विल के प्रयोग की प्रवृत्ति बढ़ रही है।[3]

बोलचाल में हिन्दी क्रियाओं के स्त्रीलिंग रूपों का प्रयोग कम हो चला है। उनका स्थान पुंल्लिग क्रियाएँ ले रही हैं। यह प्रवृत्ति उत्तम पुरुष बहुवचन की क्रियाओं में विशेष रूप से लक्षित हो रही है। 'अच्छा' हम चल दीं', 'हम बोलती हैं', 'हम कहती हैं', 'हम वहाँ गई थीं, आदि के स्थान पर 'अच्छा, हम चल दिए', 'हम बोलते हैं', 'हम कहते हैं', 'हम वहाँ गए थे' आदि का प्रयोग प्राय: सुना जा सकता है। इसी प्रकार उत्तमपुरुष सर्वनाम के एकवचन रूप 'मैं' का स्थान बोलचाल और लेखन[4] में भी उसी के बहुवचन का रूप 'हम' लेता जा रहा है। मध्यम पुरुष

१. Linguisitic Change in Present day English—page 131.
२. In Miss Iris Murdoch's wellknown novel, the Bill, occurs the remarkable phrase one of the most good people that he knew.
—वही, page 132.
३. Linguistic Change in Present day English—Page 132—134.
४. **आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की कृतियाँ द्रष्टव्य।**

सर्वनाम एकवचन का रूप 'तू' प्रयोग से हट रहा है। उसका स्थान उसी के बहुवचन का रूप 'तुम' लेता जा रहा है। ऐसा लगता है कि एकवचन के रूप के प्रयोग से हटने की प्रवृत्ति पहले मध्यम पुरुष में ही आरम्भ हुई। क्योंकि 'तू' का प्रयोग अनादर में भी होता है। जिसे 'तू' कहा जा रहा है वह कहीं इस प्रयोग को अपने लिए अनादर का वाचक न मान ले, इसलिए इसके प्रयोग से बचने का प्रयत्न बराबर किया जाता रहा होगा। बाद में सादृश्य के कारण यह प्रवृत्ति उत्तम पुरुष में भी घर कर गयी। क्रियाओं में वह जाता है के सादृश्य पर तुम जाता है, हम जाता है, सब जाता है के प्रयोग बोलचाल में सुनाई पड़ रहे हैं।

सादृश्य केवल पुराने प्रचलित रूप में परिवर्तन का कार्य ही नहीं करता, सर्वथा नये रूपों का निर्माण भी प्रायः उसी के आधार पर किया जाता है। उदाहरण के लिए ध्वनिग्राम के सादृश्य पर रूपग्राम, वाक्यग्राम आदि नये रूपों का प्रयोग हुआ है। अंग्रेजी में भी phoneme के सादृश्य पर morpheme, semanteme आदि शब्द प्रचलित हुए हैं। विभिन्न विज्ञानों की शब्दावली में इस प्रकार बने हुए अनेक रूप देखे जा सकते हैं। जैसे oxide के सादृश्य पर Chloride, Sulphide, Fluoride, Bromide; Nitrate के सादृश्य पर Sulphate, Phosphate, Chlorate, Acetate, Borate आदि।

सादृश्य प्रायः अल्पप्रचलित रूपों को बहुप्रचलित रूपों के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करता है। जो रूप अधिक प्रयोग में आता है सादृश्य का वश उस पर कम चलता है। भाववाचक संज्ञा बनाने के लिए हिन्दी में—ता प्रत्यय का प्रयोग अधिक होता है। इसलिए सादृश्य के आधार पर ऐसे शब्दों के साथ भी उसे जोड़ा जाने लगा है जिनके साथ उसे जोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। उदाहरण के लिए सादृश्यता, सौन्दर्यता, तारुण्यता आदि। विभक्तियों में षष्ठी विभक्ति के रूप सम्भवतः अधिक प्रयोग में आते हैं। इसलिए या तो वे अन्य विभक्तियों के रूपों को अपने अनुरूप बना डालते हैं या फिर स्वयं उनका स्थान प्राप्त कर लेते हैं। 'सर्वनामों के प्रायः सभी बोलियों में दो विकारी रूप मिलते हैं, एक पुरानी षष्ठी विभक्ति का स्थानापन्न और दूसरा अन्य विभक्तियों के लिए। अंग्रेजी की (भी) ऐसी ही स्थिति है।'[1] 'महाराष्ट्री आदि के समय तक चतुर्थी विलुप्त हो गयी और अन्य विभक्तियों के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग कुछ बढ़ गया।'[2] हिन्दी में भी अधिक प्रयुक्त होने वाले षष्ठी विभक्ति

१. सामान्य भाषाविज्ञान—बाबूराम सक्सेना, पृष्ठ १४३।

२. वही, पृष्ठ वही।

के रूप अन्य विभक्तियों के रूपों का स्थान लेने की चेष्टा में हैं। मुझको, मुझसे, मुझमें, मुझपर आदि परिनिष्ठित रूपों की जगह अब मेरे लिए, मेरे द्वारा आदि के सादृश्य पर मेरे को, मेरे से, मेरे में, मेरे पर इन रूपों का व्यवहार बढ़ रहा है।

कभी-कभी रूपपरिवर्तन की प्रक्रिया में सादृश्य के साथ अज्ञान का तत्व भी रहता है। ठंड शब्द गर्मी की तरह ही संज्ञा है। लेकिन सादृश्य और अज्ञान दोनों ने उसे गर्मी के सादृश्य पर ठंडी बना दिया है और बोलचाल में उसका प्रयोग भी खूब होने लगा है। बेमतलब के सादृश्य और अज्ञान के कारण फिजूल, वाहियात, फालतू शब्दों का रूप बेफिजूल, बेवाहियात और बेफालतू हो गया है। हिन्दी की क्रिया मरना से मरा, धरना से धरा की तरह करना से करा रूप बनना चाहिए था। लेकिन किसी ने अज्ञान-वश देना से दिया के सादृश्य पर करना से किया रूप बना दिया और वही बाद में परिनिष्ठित रूप हो गया। एक्सरे शब्द को बहुवचन का रूप समझ कर उसके स्थान पर एक्सरा शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। अभिज्ञ के 'अ' को असफल के 'अ' की तरह निषेधात्मक समझ कर बहुत से व्यक्ति उसके स्थान पर भिज्ञ शब्द का प्रयोग कर रहे हैं।

किसी भाषा के विभिन्न रूपों में सादृश्य किन स्थितियों में घटित होता है यह जानने के लिए भाषाशास्त्रियों ने अनेक प्रयत्न किये हैं। नवीनतम प्रयत्नों में Kurylowicz ने पहले सामान्य भाषाशास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर सिद्धान्त निर्धारित किये और फिर विभिन्न रूपों के सम्बन्धों का अध्ययन करके सिद्धान्त बनाये। इसके विपरीत Manczak ने सादृश्य द्वारा परिवर्तित अनगिनत रूपों का अध्ययन किया और फिर सिद्धान्त निर्धारित किये। दोनों के ही निष्कर्ष यह संकेत करने में असमर्थ हैं कि किसी भाषा के रूपों में किन स्थितियों में सादृश्य की प्रक्रिया घटित हो सकती है। फिर भी Manczak के निष्कर्ष अपेक्षाकृत अधिक सबल हैं। विनफ्रैड पी०. लेहमन द्वारा उद्धृत उनके निष्कर्षों में से उल्लेखनीय निष्कर्ष हैं कि लम्बे शब्द प्राय: छोटे शब्दों के अनुसार परिवर्तित होते हैं और रूपान्त के शून्य रूपग्राम के स्थान पर प्राय: कोई परिपूर्ण रूपग्राम आ जाता है।[1]

२. नये रूपों की सृष्टि--सादृश्य के कारण विभिन्न रूपों का जो एकरूपीकरण आरम्भ होता है उससे कभी-कभी अभिव्यक्ति की स्पष्टता बाधित होती है। वक्ता का अभिप्रेत अर्थ समझने में श्रोता को कठिनाई होती है और फलस्वरूप अर्थ

१. Historical Linguistics—Page 189—190.

का अनर्थ भी हो जाता है। इन स्थितियों में से रक्षा करने के लिए सादृश्य के साथ ही नये रूपों की सृष्टि की प्रवृत्ति भी भाषाओं में निरन्तर क्रियाशील रहती है। उत्तम तथा मध्यम पुरुष सर्वनाम के बहुवचन रूपों (हम, तुम) का प्रयोग जब एकवचन के लिए भी होने लगा तो एकवचन और बहुवचन रूपों में अन्तर करना कठिन हो गया। एक दल के किसी व्यक्ति द्वारा दूसरे दल के किसी व्यक्ति से कहे गये वाक्य—'तुम प्रतीक्षा करना, हम चाय पीने आयेंगे' में सम्बोधितों को यह समझना सम्भव नहीं रह गया कि प्रतीक्षा एक व्यक्ति को करनी है या सम्पूर्ण दल को और चाय पीने एक व्यक्ति पहुँचेगा या सम्पूर्ण दल। ऐसी स्थिति में नये रूपों की सृष्टि होना स्वाभाविक था। जब बहुवचन के रूप हम और तुम को एकवचन के लिए ग्रहण कर लिया गया तो इनका बहुवचन के रूपों से अन्तर बनाये रखने के लिए बहुवचन के रूप हम लोग, तुम लोग हो गये। ये प्रयोग अब बोलचाल तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि परिनिष्ठित लेखन में भी पहुँचने लगे हैं। इन्हीं स्थितियों में अपभ्रंश भाषाओं में परसर्गों की सृष्टि हुई थी जिनकी ओर आरम्भ में संकेत किया जा चुका है।

जिस प्रकार कभी-कभी अज्ञान का तत्व भी सादृश्य द्वारा किये गये रूपपरिवर्तन में सहायक होता है, उसी प्रकार नये रूपों की सृष्टि भी कभी-कभी अज्ञान या नवीनता या अभिव्यक्ति में विशेष बल देने की इच्छा से प्रेरित होती है। 'अनेक' बहुवचन प्रयोग है। 'अनेक व्यक्तियों ने कहा'—अभिव्यक्ति की स्पष्टता की दृष्टि से यह एक परिपूर्ण वाक्य है। लेकिन अज्ञान या अभिव्यक्ति में विशेष बल देने की इच्छा ने 'अनेक' रूप को अनेकों में परिवर्तित कर दिया है—'अनेकों व्यक्तियों ने कहा।' इस प्रकार के प्रयोग सामान्य बोलचाल में ही नहीं महत्वपूर्ण ग्रन्थों में भी प्रवेश पा गये हैं[1] और उन्हें परिनिष्ठित रूप प्राप्त हो चला है। अज्ञान, नवीनता या बल देने की इच्छा से प्रेरित आलुएँ, सुन्दरताएँ, ज्वालामुखियाँ[2], सुस्वागतम्,

१. भारत–यूरोपीय अनेकों भाषाओं में . . . ।–भाषा, जो० वान्द्रियेज, अनुवाद–जगवंशकिशोर बलवीर, पृष्ठ १२१ ।

वह वास्तव में अनेकों विभिन्न तत्वों का समन्वित रूप है ।—वही, पृष्ठ १८९ ।

सभ्य व्यक्ति तक अनेकों अशुद्ध प्रयोग करते हैं ।—वही, पृष्ठ १९० ।

२. और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण—कामायनी ।

पूज्यनीय[1], अन्दर में, दरसल में (दर असल में), ऊपर में, अन्यत्र कहीं आदि नये रूपों की सृष्टि भी हिन्दी में हुई है और इनमें से कुछ बहुत प्रचलित भी हो गये हैं।

रूपपरिवर्तन की गति धीमी और कम व्यापक अवश्य है, लेकिन यदि हम किसी भाषा के रूपात्मक परिवर्तनों का इतिहास देखें तो इन परिवर्तनों के व्यापक आयामों का अनुभव हमें होगा। जैसे संस्कृत से हिन्दी तक की यात्रा में भारतीय आर्य भाषा में नपुंसक लिंग समाप्त हो गया; द्विवचन समाप्त हो गया; कारकों के रूप बहुत कम हो गये—संस्कृत में एक शब्द के लगभग २४ रूप होते थे, अन्यपुरुषवाचक सर्वनाम के तो तीनों लिंगों में मिलाकर कुल ७२ रूप थे। प्राकृत में उनकी संख्या लगभग १२, अपभ्रंश में ६ (दो वचन और तीन कारक—१ कर्ता, कर्म, सम्बोधन; २ करण, अधिकरण; ३ सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध) और हिन्दी में केवल २ (मूल और विकृत रूप) रह गयी। भाषासंयोगात्मक से वियोगात्मक हो गयी। सहायक क्रियाओं और परसर्गों के द्वारा सभी काल, भाव और विभक्तियाँ प्रकट की जाने लगीं।

१. पूज्यनीय माता के चरणों में बहुतेरा—म० प्र० हिन्दी बालभारती, भाग ३, एकादश आवृत्ति, १९६८, पृष्ठ २८।

वाक्य-परिवर्तन

वाक्य भाषा की मुख्य इकाई और लघुतम पूर्ण उच्चार है।[1] वह भाषा की स्वाभाविक इकाई भी है। लेकिन अध्ययन और विश्लेषण के लिए केवल स्वाभाविकता और मुख्यता के आधार पर ही प्राथमिकताएँ निर्णीत नहीं होतीं। अध्ययन और विश्लेषण की निजी सुविधा का भी महत्व होता है। इसलिए भाषाशास्त्र में वाक्य का अध्ययन प्रायः ध्वनि और पद या रूप के बाद ही करने की परम्परा है।

भाषा में पद और वाक्य के सापेक्षिक महत्व के सम्बन्ध में भारतीय मीमांसकों में पर्याप्त विवाद रहा है। एक पक्ष ने पद और दूसरे ने वाक्य की महिमा प्रतिपादित की है। इनके सिद्धान्त क्रमशः अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद कहलाते हैं। अभिहितान्वयवाद की मान्यता है कि पदों को जोड़ने से वाक्य बनता है, इसलिए भाषा में स्वाभाविक तथा मौलिक सत्ता पद की है। इसके विपरीत अन्विताभिधानवाद की मान्यता है कि वाक्य को तोड़ने से ही पद या रूप की उपलब्धि होती है। इसलिए भाषा में वाक्य की ही स्वाभाविक तथा मौलिक सत्ता है। पद की पृथक् सत्ता ही नहीं है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में इस विवाद का उल्लेख करते हुए अन्विताभिधानवाद का ही समर्थन किया है—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च ।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥७३॥[2]

[जिस प्रकार पदों में वर्णों की और वर्णों में उनके अवयवों (रेफ आदि) की सत्ता नहीं है उसी प्रकार वाक्य से पृथक् पदों की कोई सत्ता नहीं है।]

अन्विताभिधानवादियों से आधुनिक भाषाशास्त्र की पूर्ण सहमति स्वीकार करते हुए भी अभिहितान्वयवादियों के पक्ष को सर्वथा गलत नहीं कहा जा सकता। भाषाओं में पद या रूप और वाक्य के मध्य स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना कठिन है। इस

१. The sentence is the chief unit of speech. It may be defined quite simply as a minimum complete utterance. —Modern Linguistics--Simeon Potter, Page 104.

२. वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, चौखम्बा सं०, १९६१, पृष्ठ ८१ ।

बात को ग्लीसन ने भी स्वीकार किया है।[1] इस स्थिति में अभिहितान्वयवादियों का पद को महत्व दे बैठना असम्भव नहीं है।

इस बात की सम्भावना व्यक्त की जा रही है कि वाक्य का आरम्भिक विभाजन शायद पदों में नहीं अक्षरों में हुआ था। अधिकतर भाषाओं में छन्दविचार का अक्षर-संख्या पर निर्भर होना और ध्वनिमूलक लिपि का प्रथम स्वरूप वर्णात्मक न होकर अक्षरात्मक होना उक्त सम्भावना की पुष्टि करता है। बहुत सी भाषाओं के प्राचीनतम ग्रन्थों में भी शब्द पृथक् नहीं किये गये हैं।[2] यदि यह सम्भावना सही है तो पद की सत्ता और भी हीन प्रतीत होती है।

उपर्युक्त कारिका पर वृत्ति लिखते हुए भर्तृहरि ने वाक्य की अनेक विशेषताओं की घोषणा की है—'वर्णाः पदानि च असत्यानि वाक्यमेव तु अक्रममपूर्वापरमेकं नित्यं सत्यम्।'[3] (वर्ण और पद असत्य हैं। वाक्य ही क्रम और पूर्वापर से रहित, एक, नित्य और सत्य है।) कहने की आवश्यकता नहीं कि वाक्य की ये विशेषताएँ वर्ण और पदों की सापेक्षता में ही सच हैं। निश्चय ही वाक्य पर क्रम और पूर्वापर सम्बन्ध का बन्धन उतना नहीं है जितना वर्ण और पद पर है। लेकिन क्या वह क्रम और पूर्वापर सम्बन्ध से सर्वथा रहित है? वास्तव में वाक्य भाषा की लघुतम सार्थक इकाई होते हुए भी वक्तव्य का एक अंश मात्र होता है। इस चर्चा में हम न भी जाएँ कि वह वक्तव्य भी मनुष्य की सम्पूर्ण विचारधारा की एक लहर मात्र है और मनुष्य की सम्पूर्ण विचारधारा भी विचार की एक बड़ी धारा का अवयव मात्र है[4], तो भी वाक्य वक्तव्य का अंश होने के कारण क्रम और पूर्वापर सम्बन्ध से तो बँधा हुआ है ही। क्रम और पूर्वापर सम्बन्ध ज्ञान के बिना प्रायः वाक्य का अर्थ समझना भी सम्भव नहीं होता। जैसे—

१. The distinction between morphology and syntax is not always sharp. An Introduction to Descriptive Linguistics, Page 128.

२. भाषा—वान्द्रियेज, पृष्ठ ६५–६६।

३. वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, चौखम्बा, पृष्ठ ८२।

४. सामान्य भाषाविज्ञान—बाबूराम सक्सेना, पृष्ठ २०८।

राम—बाजार जा रहे हो ?

श्याम—हाँ, जा रहा हूँ।

यहाँ राम के वाक्य के बिना श्याम के वाक्य का अर्थ समझना असम्भव है। वस्तुतः वाक्य की निरपेक्ष सत्ता नहीं मानी जा सकती। वह अन्य वाक्यों से सन्दर्भित होता है। फिर भी जिस प्रकार ध्वनियाँ किसी पद या रूप में और पद या रूप किसी वाक्य में अपनी सार्थकता प्राप्त करते हैं, उस प्रकार के किसी व्याकरणिक संघटन की आवश्यकता वाक्य को नहीं है। संघटन या संरचना की दृष्टि से वह स्वतंत्र और निरपेक्ष है। इस प्रकार वाक्य भाषा की लघुतम सार्थक इकाई है जिसकी सत्ता संरचना की दृष्टि से स्वतंत्र और निरपेक्ष होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से सापेक्ष होती है। भर्तृहरि ने वाक्य को क्रम और पूर्वापर सम्बन्ध से रहित, एक, नित्य तथा सत्य सम्भवतः संरचना की दृष्टि से ही कहा होगा।

शब्द व्याकरणिक तत्व से कैसे युक्त होते हैं; वे संज्ञा, क्रिया, विशेषण, लिंग, पुरुष, वचन, काल आदि का बोध किस पद्धति से कराते हैं, इस पर विचार करना रूपविज्ञान का कार्य है। संक्षेप म रूपविज्ञान में रूपों की रचना-प्रक्रिया पर विचार किया जाता है। लेकिन वाक्य-विज्ञान वाक्य के गठन पर विचार करता है। अर्थात् रूपों की रचना-प्रक्रिया द्वारा निर्मित रूपों का अपेक्षाकृत लम्बे उच्चारों में कैसे और कहाँ प्रयोग किया जाता है यह वाक्य-विज्ञान का विषय है। फिर भी, जैसा कि हम कह चुके हैं, व्यवहार में दोनों के विषय-क्षेत्र प्रायः एक दूसरे का स्पर्श ही नहीं करते बल्कि एक-दूसरे में बहुत दूर तक प्रवेश भी कर जाते हैं। उदाहरण के लिए 'मैंने मेरे पिता से कहा' वाक्य में 'अपने' रूप के स्थान पर 'मेरे' रूप का प्रयोग रूपपरिवर्तन का उदाहरण है न ? 'मैंने' के स्थान पर 'मैं' बोल दिया जाय तो यह भी रूपपरिवर्तन हुआ ? 'कहा' के स्थान पर 'कह।' उच्चरित किया जाय तो यह भी रूप का ही परिवर्तन है ? 'से' के स्थान पर 'को' कर दिया जाय तो यह भी रूप ही परिवर्तित होगा न ? और यदि ये सब रूपपरिवर्तन के ही उदाहरण हैं तो फिर वाक्य-परिवर्तन का उदाहरण क्या हुआ ? केवल एक ही क्षेत्र बच रहता है। वाक्य में पदों या रूपों के स्थान-परिवर्तन को वाक्य-परिवर्तन का विषय-क्षेत्र मान लिया जाय। 'मेरे पिता से कहा मैंने' या 'मैंने कहा पिता से मेरे' जैसे परिवर्तन वाक्य-परिवर्तन के अन्तर्गत लिये जायँ। लेकिन योगात्मक भाषाओं में ऐसे परिवर्तनों का कोई उल्लेखनीय महत्व नहीं है और अयोगात्मक भाषाओं में शब्द के स्थान का परिवर्तन अनिवार्यतः उसके रूप में भी परि-

वर्तन करता है। इसलिए उनमें शब्द के स्थान का परिवर्तन भी रूपपरिवर्तन के अन्तर्गत विश्लेष्य हो जाता है और वाक्यविज्ञान के लिए कोई विशेष सामग्री नहीं रह जाती। सम्भवत: विषयक्षेत्र के इसी अनिश्चय के कारण भाषा-शास्त्र में वाक्यविज्ञान के क्षेत्र में सबसे कम कार्य हुआ है। केवल हिन्दी में ही नहीं सभी भाषाओं में यही स्थिति है।[1]

वाक्य प्रकार—

संसार की भाषाओं में प्राय: चार प्रकार के वाक्य मिलते हैं—(१) अयोगात्मक, (२) अश्लिष्ट योगात्मक, (३) श्लिष्ट योगात्मक, (४) प्रश्लिष्ट योगात्मक। आरम्भ में भाषाविदों का विचार था कि सभी भाषाएँ अपने विकास की क्रमिक अवस्थाओं में इन वाक्यों का प्रयोग करती हैं। लेकिन अब यह स्पष्ट हो गया है कि कोई आवश्यक नहीं कि कोई भाषा इनमें से प्रत्येक वाक्य-प्रकार का समय-समय पर प्रयोग करे ही। वाक्य के इन चार प्रकारों में वर्गीकरण के दो आधार हैं—(अ) वाक्य में विभिन्न पदों या रूपों के परस्पर सम्बन्धित होने की पद्धति, और (ब) विभिन्न शब्दों में व्याकरणिक तत्वों के जुड़ने की पद्धति। स्पष्टत: प्रस्तुत वर्गीकरण का आधार वाक्यरचनात्मक ही नहीं रूपरचनात्मक भी है।

(१) **अयोगात्मक**—वाक्य में विभिन्न रूप अलग-अलग रहते हैं और उनका स्थान निश्चित होता है। स्थान का परिवर्तन उनमें रूपग्रामीय परिवर्तन उपस्थित करता है और अन्य रूपों से उनका सम्बन्ध परिवर्तित कर देता है। सम्बन्धतत्व का बोध कराने के लिए शब्दों में कुछ जोड़ने (जैसे घोड़ा से घोड़ों) या उनमें कुछ आन्तरिक परिवर्तन (जैसे मैं से मुझे) करने की आवश्यकता नहीं होती। चीनी, सूडानी, बर्मी, स्यामी, तिब्बती आदि भाषाओं में इसी प्रकार के वाक्यों का व्यवहार मिलता है।

(२) **अश्लिष्ट योगात्मक**—अयोगात्मक वाक्य की भाँति पद या रूप का सम्बन्ध जानने के लिए वाक्य में उसके स्थान पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होती। सम्बन्ध प्रत्ययों से प्रकट होता है। लेकिन मूल शब्द और सम्बन्धदर्शी प्रत्यय अलग पहचाने जा सकते हैं। वे मूल शब्द को विकृत भी नहीं करते। अफ्रीका की बंटू भाषाएँ, मुंडा कुल की संथाली, यूराल अल्टाक, द्रविड़ और एस्पिरैंतो भाषाओं में इसी प्रकार के वाक्यों का

१. Syntax has long been one of the least satisfactorily handled aspects of the structure of language—Gleason, An Introduction to Descriptive Linguistics, Page 139.

प्रयोग होता है। प्रत्यय मूल शब्द के आरम्भ, मध्य या अन्त में कहीं भी जड़ सकते हैं। लेकिन उनका गठन पारदर्शक होता है। एस्पिरैंतो से एक उदाहरण लिया जा सकता है—

कैट (kat) = बिल्ली
इन (in) = स्त्रीलिंग का चिह्न
इड (id) = बच्चों का चिह्न
एट (et) = छोटे का चिह्न
ओ (o) = संज्ञा का चिह्न

उक्त रूपग्रामों से विभिन्न रूपों और वाक्यों की रचना इस प्रकार होगी—

कैट-इन-ओ (kat–in–o) = एक बिल्ली (स्त्री०)
कैट-इड-ओ (kat–id–o) = एक बिल्ली का बच्चा
कैट-इन-एट-इड-ओ (kat–in–it–id) एक छोटी बिल्ली (स्त्री०) का बच्चा

(३) **श्लिष्ट योगात्मक**—अश्लिष्ट योगात्मक वाक्यों में सम्बन्धतत्व मूल शब्दों के साथ संयुक्त होकर भी अपना व्यक्तित्व सुरक्षित रखते हैं। इसके विपरीत श्लिष्ट योगात्मक में वे मूल शब्दों में अपने व्यक्तित्व को खो देते हैं। प्रायः मूल शब्दों के साथ उनका अस्तित्व जुड़ा हुआ अवश्य दिखाई देता है। लेकिन उन्हें उन शब्दों से अलगाया नहीं जा सकता। उदाहरण के लिए संस्कृत में बालक शब्द के साथ प्रथमा एकवचन का प्रत्यय 'सु' जुड़कर रूप बनता है —'बालकः।' यहाँ बालक रूप में विसर्ग से 'सु' के अस्तित्व की सूचना अवश्य मिलती है, लेकिन उसका व्यक्तित्व लुप्त हो गया है। सेमेटिक, हेमेटिक और भारोपीय परिवार की भाषाओं में यही वाक्य-रचना मिलती है।

(४) **प्रश्लिष्ट योगात्मक**—प्रयुक्त होने वाले शब्दों का थोड़ा-थोड़ा अंश कटकर एक बड़े उच्चार में बदल जाता है। यही प्रश्लिष्ट योगात्मक वाक्य का स्वरूप होता है। इन वाक्यों में अर्थतत्व तथा सम्बन्धतत्व के योग की मात्रा अत्यन्त प्रश्लिष्ट अर्थात् बहुत अधिक घनिष्ठ होती है। दोनों को अलग-अलग तो किया ही नहीं जा सकता, आसानी से अलग-अलग पहचाना भी नहीं जा सकता। ग्रीनलैंड तथा अमेरिका के मूल निवासियों की भाषाओं में और पेरीनीज़ पर्वत के पश्चिमी भाग में बोली जाने वाली भाषा बास्क में कुछ अंशों में प्रश्लिष्ट योगात्मक वाक्य मिलते हैं। दक्षिण अमरीका की चेरोकी भाषा का उदाहरण है—

नातेन = लाओ
अमोखोल = नाव
निन = हम

इन शब्दों से वाक्य बनाने में मूल शब्दों ने अपना थोड़ा-थोड़ा अंश छोड़ दिया और वाक्य बन गया —

नाधोलिनिन = हमारे पास नाव लाओ ।

कोई भाषा मुख्यतः एक ही प्रकार के वाक्य का प्रयोग करती है । लेकिन एक से अधिक वाक्य-प्रकारों के उदाहरण भी उसमें मिल सकते हैं ।

भाषाओं में वाक्य-परिवर्तन की प्रक्रिया प्रायः प्रश्लिष्ट योगात्मक से अयोगात्मकता की ओर होती है । संस्कृत की वाक्य-रचना श्लिष्ट योगात्मक है । लेकिन उससे विकसित हुई हिन्दी की वाक्य-रचना अश्लिष्ट योगात्मकता और अयोगात्मकता की ओर उन्मुख है । संस्कृत में बालक + सु = बालकः रूप में मूल शब्द बालक रूपग्राम में प्रथमा एकवचन का सम्बन्धदर्शी रूपग्राम 'सु' श्लिष्ट योगात्मक ढंग से जुड़ा हुआ है । इसके विपरीत हिन्दी 'बालक ने' में कर्ताकारक या प्रथमा का रूपग्राम 'ने' अश्लिष्ट योगात्मक ढंग से जुड़ा हुआ है । इसी प्रकार संस्कृत में कुछ अपवादों को छोड़कर वाक्य में पद-क्रम का साधारणतः कोई महत्व नहीं है । जैसे—

रामः आपणं गच्छति ।
आपणं रामः गच्छति ।
गच्छति रामः आपणं ।
आपणं गच्छति रामः ।

आदि वाक्यों में पदों का क्रम बदल देने से अर्थ में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता । अर्थ एक ही बना रहता है—राम बाजार जाता है । लेकिन हिन्दी में पद-क्रम का महत्व बढ़ने की प्रवृत्ति है । जैसे—'लड़की मछली खाती है' के स्थान पर 'मछली लड़की खाती है' कहने से अर्थ में परिवर्तन हो जाता है । वाक्य-रचना में परिवर्तन की जो प्रवृत्तियाँ हिन्दी में दिखाई दे रही हैं वे ग्रीक तथा लैटिन से विकसित हुई भाषाओं में भी देखने को मिलती हैं ।

वाक्य के उपर्युक्त प्रकारों के अतिरिक्त व्याकरणिक गठन की दृष्टि से वाक्य को साधारण, संयुक्त और मिश्रित तथा क्रिया की दृष्टि से क्रियायुक्त और क्रियाविहीन

इन प्रकारों में भी वर्गीकृत किया गया है। वान्द्रियेज उसके क्रियात्मक और संज्ञात्मक अर्थ वाले इन दो प्रकारों का विवेचन करते हैं।[1] अग्र और पश्च, उद्देश्य और विधेय तथा निकटस्थ अवयवों में वाक्य का विभाजन करने की भी परम्परा है। लेकिन प्रस्तुत प्रसंग में इस प्रकार के वर्गीकरण और विभाजनों का विवेचन करना हमारा अभीष्ट नहीं है।

किसी भाषा में वाक्य-गठन के मौलिक स्वरूप में बहुत आसानी से परिवर्तन नहीं होते। इसका मुख्य कारण यह है कि वाक्य का आधार क्रिया है और क्रिया भाषा का अत्यन्त स्थिर तत्व है। हम अन्य भाषा की संज्ञाओं, विशेषणों और क्रिया-विशेषणों को ग्रहण करते हुए भी क्रियाएँ अपनी ही रखते हैं। 'वह बुक परचेज़ करने के लिए मार्केट गया है', 'कितना ब्यूटीफुल कलर है स्वेटर का', 'वह बहुत स्लोली बोला'—इन वाक्यों में जिन्हें हिन्दी प्रदेश के शहरों में प्रायः सुना जा सकता है, अंग्रेजी के अनेक अन्य शब्द होते हुए भी क्रियाएँ हिन्दी की ही हैं। इतना ही नहीं, स्लोली क्रियाविशेषण को हमने हिन्दी वाक्यरचना के अनुसार क्रिया के पूर्व ही रखा है—अंग्रेजी की तरह क्रिया के उपरान्त नहीं। फिर भी अन्य भाषाओं का प्रभाव, अभिव्यक्ति की स्पष्टता के लिए आग्रह, परिवेश के परिवर्तन आदि किसी भाषा के वाक्य-गठन को एक सीमा तक और कभी-कभी बहुत दूर तक प्रभावित करते हैं—

(१) **अन्य भाषाओं का प्रभाव**—अन्य भाषाओं का लम्बा सम्पर्क और वह भी विजेता तथा विजित भाषाभाषियों का लम्बा सम्पर्क प्रायः विजित भाषाभाषियों की भाषा के वाक्य-गठन को भी प्रभावित करता है। हिन्दी पर फारसी तथा अंग्रेजी का इसी कोटि का प्रभाव है।

हिन्दी में समासों की रचना संस्कृत की पद्धति पर ही होती है। जैसे—महलों का राजा का समस्त रूप महलराज, राजा का महल का राजमहल और भारत का वासी का समस्त रूप भारतवासी होता है। लेकिन फारसी के प्रभाववश कहीं-कहीं यह स्थिति उलट गयी है। जैसे—सम्पत्ति श्री मन्दिर नरसिंह। हिन्दी के अनुसार होना चाहिए था—नरसिंह मन्दिर की सम्पत्ति या नरसिंह-मन्दिर-सम्पत्ति।

१. क्रियात्मक अर्थ वाले वाक्य—'पियेर ने मदिरा पी'; 'घोड़ा गाड़ी खींचेगा।' संज्ञात्मक अर्थ वाले वाक्य—'मकान नया है'; 'खाना तैयार है'; 'प्रवेशमार्ग दायीं ओर है।'—भाषा, पृष्ठ १४६–१४७।

फारसी चूँकि कचहरियों की भाषा थी, इसलिए यह उलटी समास-रचना वहाँ की भाषा में विशेष रूप से दिखाई देती है। जैसे—मेम्बरान जूरी, तहसीलदार ललितपुर, कलक्टर झाँसी, प्रार्थनापत्र वास्ते शक्कर (शक्कर के लिए प्रार्थनापत्र), रहननामा मकान। आगे चलकर अंग्रेजी के प्रभाव के कारण यह पद्धति और सुदृढ हो गयी। जैसे—कार्यालय प्राचार्य-शासकीय महाविद्यालय, सीहोर (हिन्दी के अनुसार होना चाहिए था—प्राचार्य-कार्यालय, शासकीय महाविद्यालय सीहोर) में समास का गठन इसके अंग्रेजी रूप Office of The Prncipal Government College Sehore से सीधा अनूदित है। यही हाल कुलपति प्रयाग विश्वविद्यालय, छत्ता जम्बूदास, कूचा पातीराम जैसे उच्चारों का भी है। हिन्दी वाक्यों में 'कि' के प्रयोग के सम्बन्ध में भाषाशास्त्रियों का मत है कि यह भारतीय परम्परा का न होकर फारसी की देन है। संस्कृत में 'और'-वाचक 'च' का प्रयोग एक बार होने की स्थिति में उन शब्दों के बाद होता है जिन्हें वह जोड़ता है। जैसे—रामः लक्ष्मणश्च (राम और लक्ष्मण)। एक से अधिक बार की स्थिति में प्रत्येक शब्द के उपरान्त होता है। जैसे—रामश्च लक्ष्मणश्च। हिन्दी में इस परम्परा के स्थान पर फारसी की परम्परा स्वीकृत है, जिसमें और शब्द का प्रयोग जुड़े हुए शब्दों के मध्य (राम और लक्ष्मण) या अन्तिम शब्द के पूर्व (राम, लक्ष्मण और सीता) होता है। आगे चलकर अंग्रजी ने इस प्रकार के प्रयोगों को और बल दिया।[1]

हिन्दी वाक्य-गठन को अंग्रेजी नैरेशन ने भी प्रभावित किया है। अंग्रेजी में कथन के दो प्रकार हैं—प्रत्यक्ष (direct) और अप्रत्यक्ष (indirect)। अप्रत्यक्ष में कथन के 'मैं' के स्थान पर 'वह' का प्रयोग होता है। जैसे—'उसने कहा, मैं जाऊँगा'—इस प्रत्यक्ष कथन का अंग्रेजी के अनुसार अप्रत्यक्ष कथन होगा-- 'उसने कहा कि वह जाएगा।' हिन्दी में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कथनों में इस प्रकार का अन्तर करने की परम्परा नहीं रही है। हिन्दी वाक्य-गठन के अनुसार (अप्रत्यक्ष कथन में भी) वाक्य होगा—'उसने कहा कि मैं जाऊँगा।' लेकिन अंग्रेजी के प्रभाव के कारण 'उसने कहा कि वह जाएगा', 'उसने कहा है कि वह किताब पढ़ता है' जैसे वाक्य हिन्दी बोलचाल और लेखन में निरन्तर प्रयुक्त हो रहे हैं।

हिन्दी वाक्यों में आरम्भ में कर्ता और अन्त में क्रिया की योजना होती है। कर्म आदि सभी रूप इन दोनों के मध्य में प्रयुक्त होते हैं। वाक्य में रूपों का यह क्रम

१. विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य--हिन्दी भाषा—भोलानाथ तिवारी, खंड २, अध्याय ८ और १०।

भारतीय आर्य भाषाओं में प्रायः प्राचीन काल से ही प्रचलित रहा है। इधर अंग्रेजी के प्रभाव के कारण आरम्भ में कर्ता, फिर क्रिया और अन्त में कर्म आदि रूपों को रखने की प्रवृत्ति दिखाई दे रही है। जवाहरलाल नेहरू के भाषणों की भाषा इस दृष्टि से विशेष रूप से द्रष्टव्य है। 'मैंने अपने पिता से कहा' या 'उसने अपने पिता से कहा', 'हम सीहोर नगर के छात्र अपने प्रदेश के युवा मुख्यमंत्री का स्वागत करते हैं' के स्थान पर 'मैंने मेरे पिता से कहा' या 'उसने उसके पिता से कहा' या 'हम सीहोर नगर के छात्र हमारे प्रदेश के युवा मुख्य मंत्री का स्वागत करते हैं' जैसे वाक्यों का प्रयोग भी अंग्रेजी वाक्य-रचना का प्रभाव है।

हिन्दी क्रियाओं में लिंग-भेद संस्कृत की देन है। संस्कृत क्रियाओं में लिंग-भेद नहीं है—सः अगच्छत् (वह गया), सा अगच्छत् (वह गयी), किन्तु संस्कृत के कृदन्तों में लिंग-भेद है। जैसे—सः गतः (वह गया), सा गता (वह गयी)। इन कृदन्त रूपों का क्रियाओं के रूप में प्रयोग क्रमशः बढ़ता चला गया। पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि में ये प्रयोग और भी बढ़ गये और अपभ्रंश से विकसित हुई हिन्दी को भी ये उत्तराधिकार में प्राप्त हुए। इनके साथ इनका लिंग-भेद भी हिन्दी क्रियाओं को प्राप्त हुआ। हिन्दी 'गया' क्रिया संस्कृत के उक्त कृदन्त रूप गतः से ही विकसित हुई है। 'गयी' गया से बना हुआ स्त्रीलिंग रूप है।

'हम कहे', 'राम कहे' जैसे वाक्य, जिनमें कर्ताकारक के परसर्ग 'ने' का प्रयोग नहीं है, मूलतः हिन्दी की पूर्वी बोलियों की वाक्य-रचना के कारण हिन्दी में सुनाई पड़ जाते हैं। इसी प्रकार 'हमने जाना है', 'राम ने पढ़ना है' जैसे वाक्य मुख्यतः पंजाबी के प्रभाववश हिन्दी बोलचाल में आ रहे हैं ।

(२) **अभिव्यक्ति की स्पष्टता के लिए आग्रह**—ध्वनिविकास के कारण कभी-कभी सम्बन्धतत्वदर्शी रूपग्राम घिस चलते हैं या सादृश्य के कारण अनेक विभक्तियों के रूप एक से हो जाते हैं। फलस्वरूप अर्थ समझने में बाधा होने लगती है। इस स्थिति में अभिव्यक्ति की स्पष्टता के लिए परसर्गों और सहायक क्रियाओं का प्रयोग आरम्भ होता है। परसर्गों और सहायक क्रियाओं का प्रयोग भाषा को वियोगात्मकता की ओर ले चलता है। वाक्य में रूपों के क्रम का महत्व बढ़ जाता है और इस प्रकार वाक्य-रचना परिवर्तित हो जाती है।

(३) **परिवेश में परिवर्तन**—परिवेश का परिवर्तन भाषा के वाक्य-गठन को

भी प्रभावित करता है। शान्ति के स्थान पर युद्ध का परिवेश स्वभावतः वाक्यों को अत्यन्त संक्षिप्त और सीधे क्रूर उपयोग का बना देगा। ट्रेन पकड़ने की हड़बड़ी, कार्यालय पहुँचने की उतावली, टिकट खरीदने का अधैर्य, तार और टेलीफोन की व्यस्तता, चुनाव का अकुलाहटभरा जनसम्पर्क, अवकाशहीनता और जीवन की आपाधापी का प्रभाव भाषा पर पड़ना स्वाभाविक ही है। इस परिवेश में वाक्य केवल संक्षिप्त ही नहीं हो जाते कभी-कभी उनमें रूपों का क्रम भी परिवर्तित हो जाता है। ऐसे अत्यधिक क्रियाशील जीवन में क्रियाओं का योग अत्यधिक बढ़ जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इन परिस्थितियों में वाक्यों में कर्ता और कर्म की उपेक्षा होने लगती है। कर्म आदि को क्रिया के उपरान्त स्थान दिया जाने लगता है और 'जा रहा हूँ—बाजार।' 'आ गया हूँ—परसों—भोपाल से।' 'सामान खरीदना है—दहेज का।' 'सामान चढ़ाओ—पहले।' जैसे वाक्य चलन में आ जाते हैं। युद्धक्षेत्र में इन क्रियाओं में भी कटौती हो जाती है और अधिकांशतः आज्ञार्थक क्रियाओं का प्रयोग बढ़ जाता है।

अर्थ-परिवर्तन

वस्तुओं या पदार्थों के नामकरण का प्रश्न अर्थविज्ञान[1] का प्रश्न नहीं है। वह भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न है। 'यदि गुणों के आधार पर वस्तुओं का नाम पड़ा तो उन गुणों का नाम किस आधार पर पड़ा? यदि प्रभा (प्रकाश) करने वाला होने के कारण सूर्य का नाम प्रभाकर है तो प्रभा का नाम प्रभा या चमकने के अर्थ में 'भा' का ही प्रयोग क्यों हुआ?'[2] इस प्रकार की जिज्ञासाएँ या शंकाएँ भाषा की उत्पत्ति के अन्तर्गत की जानी चाहिए, अर्थ या अर्थविज्ञान के अन्तर्गत नहीं।

अर्थविज्ञान का एक सुनिश्चित विषय-क्षेत्र है—शब्द के अर्थ में परिवर्तन किन दिशाओं में होता है और उस परिवर्तन के पीछे क्या कारण होते हैं? यहाँ यह मान लिया गया है कि शब्द को एक अर्थ प्राप्त था, तभी तो उसमें परिवर्तन हुआ। इस अर्थ को कह लें प्रथम ज्ञात अर्थ। इसका ज्ञान हमें प्राचीन या प्राचीनतम साहित्य से होता है। यह प्रथम ज्ञात अर्थ उक्त शब्द में कहाँ से आया? वह अर्थ इसी शब्द के साथ क्यों संयुक्त हुआ? यह कार्य ईश्वर ने किया या मनुष्य ने? ये प्रश्न भाषा की उत्पत्ति से सम्बन्धित हैं। अर्थविज्ञान से इनका सम्बन्ध नहीं है। भाषा की उत्पत्ति पर विचार करते समय हम उस समय की कल्पना करते हैं जब भाषा नहीं है। उसे जन्म लेना है। लेकिन अर्थविज्ञान में हमारी यात्रा तब से आरम्भ होती है जब भाषा जन्म ले चुकी है, उसका व्यवहार हो रहा है, उसके विभिन्न शब्दों से विभिन्न अर्थ संयुक्त हैं और साहित्य या किसी भी अन्य प्रामाणिक माध्यम

१. Semantics (फ्रांसीसी भाषा में Semantique) शब्द का प्रथम सक्रिय प्रयोग फ्रांसीसी भाषाविज्ञानी मिशेल ब्रेग्राल ने किया। उन्होंने १८८३ ई० में इसे 'सोसायटी फार ग्रीक स्टडीज' के वार्षिक अधिवेशन में प्रयुक्त किया। १८९७ ई० में ब्रेग्राल की पुस्तक Essai de Semantique प्रकाशित हुई। १९०० ई० में इस पुस्तक का श्रीमती हेनरी कस्ट (Henry Cust) द्वारा किया गया अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ। अनुवादिका ने अर्थविज्ञान के लिए Semantique के अनुवाद के रूप में Semantics शब्द का ही प्रयोग किया। धीरे-धीरे यह शब्द प्रचलित और स्वीकृत हो गया।

२. भाषाविज्ञान, भोलानाथ तिवारी, १९६६, पृष्ठ २२३।

से हमें यह ज्ञात है कि उसके अमुक शब्द से अमुक अर्थ संयुक्त है। भाषा की उत्पत्ति जहाँ लाखों वर्ष पूर्व की स्थितियों से सम्बन्धित है वहाँ अर्थविज्ञान का सम्बन्ध अधिक से अधिक चार पाँच हजार वर्ष पूर्व की स्थितियों से ही है।

शब्दों में अर्थ स्वतः नहीं उत्पन्न हुए हैं। वे उनके प्रयोगकर्ताओं के द्वारा उन्हें दिये गये हैं। अर्थात् शब्द और अर्थ का संयोग स्वयं नहीं हो गया है बल्कि लोक के द्वारा यह संयोग सम्पन्न हुआ है। शब्द लोकव्यवहार के लिए निमित्त हैं। इसीलिए उन्हें लोकनिबन्धन कहा गया है।[1] वे अपने अर्थ के लिए अपने प्रयोगकर्ता या वक्ता के मुखापेक्षी हैं। भर्तृहरि ने लिखा है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध वक्ता की इच्छा के अधीन रहता है। प्रयोक्ता जिस शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग करता है वही अर्थ उसे मिल जाता है। अतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध वास्तविक नहीं है, काल्पनिक और असत्य है।[2] कबीर के सम्बन्ध में कहा ही जाता है कि भाषा को वह अर्थ देना पड़ता था जो कबीर उससे निकलवाना चाहते थे। इन अतिकथनों से कम से कम इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि शब्दार्थ के निर्धारण में वक्ता या प्रयोक्ता की कितनी महत्वपूर्ण भूमिका है। ब्लूमफील्ड का कथन है कि वक्ता की मनःस्थिति के सन्दर्भ में ही हम अर्थ की चर्चा और परिभाषा करते हैं।[3] सी० के० ओगडन तथा आई० ए० रिचर्ड्स के अनुसार भी अर्थ नितान्त व्यक्तिगत होता है।[4] शब्दों के प्रयोक्ताओं की मनःस्थितियाँ, उनके चिन्तन-मनन के क्षेत्र और पद्धतियाँ आये दिन या आये क्षण बदलती रहती हैं। पीढ़ियाँ बदलती हैं और भाषा या शब्दों के पुराने प्रयोक्ताओं के स्थान पर नये प्रयोक्ता आ जाते हैं। इनका भौतिक और मानसिक परिवेश भी पुराने प्रयोक्ताओं की अपेक्षा बहुत भिन्न हो सकता है। तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति शब्दों को अर्थों से संयुक्त करने का कार्य करते हैं स्वयं उनमें ही स्थिरता के तत्व नहीं हैं। फिर प्रयोक्ता की प्रवृत्ति प्रयत्नलाघव की होती है। वह सुविधाकामी होता है। इसलिए यदि एन० टी० कहना स्वल्प श्रम-

१. वाक्यपदीय—२, २२६।

२. प्रयोक्तैवाभिसन्धत्ते साध्यसाधनरूपताम्।
अर्थस्य वाभिसम्बन्धः कल्पनां प्रसमीहते॥ वाक्यपदीय—२, ४३५।

३. Language—Page 139.

४. Meaning is essentially personal......what any thing means depends upon who means it——The Meaning of Meaning, page 161.

साध्य है तो वह नायब तहसीलदार शब्द का अर्थ एन० टी० शब्द को प्रदान कर देगा।

भाषा के विभिन्न शब्दों के साथ जो भी अर्थ प्रयोक्ताओं के कारण जुड़ गय हैं वे दो-टूक (Fixed point) नहीं हैं। शब्द के उच्चारण के साथ कोई एक निश्चित वस्तु संकेतित न होकर उस वस्तु के परिकर की अनेक वस्तुएँ संकेतित हो सकती हैं। शब्दों की इस असमर्थता की ओर अनेक प्राचीन भारतीय आचार्यों ने ध्यान आकर्षित किया है। पतंजलि दधि शब्द का उदाहरण देकर उक्त असमर्थता का बोध कराते हैं। उन्होंने लिखा है[1] कि दधि के कई भेद हैं—दधि कहते ही मन्दक (कम जमा हुआ), उत्तरक (मलाई वाला), निलीनक (न जमा हुआ) आदि का बोध होता है। स्पष्ट है कि यहाँ दधि शब्द से दधि के निश्चित और पूर्ण स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। इस तथ्य का उद्घाटन भर्तृहरि ने अधिक कवित्वपूर्ण ढंग से किया है—जिस प्रकार दीपक घटादि के दर्शन के लिए प्रयुक्त किया जाता है, परन्तु वह घट के साथ ही साहचर्य और सामीप्य के कारण अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार शब्द भी जिन अर्थों में प्रयुक्त होता है उनके साहचर्य से अन्य अर्थों को प्रकाशित करता है। शब्द अपने मुख्यार्थ का ही नहीं सान्निध्य के कारण अविवक्षित अर्थों का भी बोध कराता है।[2] यही बात सी० डी० बक भी कहते हैं—'अधिकांश शब्दों का अर्थ कोई स्थिर बिन्दु न होकर बदलते आयामों का एक पूरा क्षेत्र होता है।[3]

प्राचीन युग में यास्क और आधुनिक युग में मिशेल ब्रेआल एक अन्य दृष्टि से भी शब्दों की असमर्थता सूचित करते हैं। उनके अनुसार कोई भी शब्द वस्तु या पदार्थ को उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व या गुणावगुण सहित व्यंजित नहीं करता। वह वस्तु को अपूर्ण और अयथार्थ रूप में प्रकट करता है। स्थूणा (खम्भा) शब्द की व्युत्पत्ति स्था (खड़ा होना) धातु से मानी जाती है। अर्थात् जो खड़ा हो (तिष्ठतीति) वह स्थूणा है। यास्क तर्क करते हैं कि यदि खम्भे को खड़ा होने के कारण स्थूणा कहा जाता है तो उसे गड्ढे में धँसे होने के कारण दरशया (गड्ढे में धँसा हुआ) और बल्लियों को सँभालने के कारण सज्जनी (बल्लियों को सँभालने वाला) भी

१ महाभाष्य—२, १, ३५ ।

२. वाक्यपदीय—२, ३००—३०३ ।

३. A Dictionary of Selected Synonyms in the Principal Indo-European Languages, Preface, Page V, 1949.

कहा जाना चाहिए।[1] अंग्रेजी के Sun (सूर्य) शब्द की व्युत्पत्ति जिस धातु से हुई है उसका अर्थ चमकना है। अतः सूर्य को चमकने के कारण Sun कहा गया है। इसी प्रकार अंग्रेजी का Horse (घोड़ा) शब्द लैटिन के Curro शब्द से व्युत्पन्न माना जाता है, जिसका अर्थ है दौड़ना। दौड़ने वाला होने के कारण ही घोड़े को Horse कहा गया है। ब्रेआल का कथन है—'भाषा पदार्थों को अपूर्ण और अयथार्थ रूप में लक्षित करती है। अपूर्ण इसलिए कि जब हम Sun को चमकता हुआ कहते हैं तो जो कुछ भी उसके विषय में कहा जा सकता है वह सब हम नहीं कह चुके, अथवा Horse के विषय में जब हम कहते हैं कि वह दौड़ता है तो उसके विषय में भी हम सब कुछ नहीं कह चुके। अयथार्थ इसलिए कि हम Sun के सम्बन्ध में जब वह छिप गया तो यह नहीं कह सकते कि वह चमकता है, अथवा Horse के लिए जब वह विश्राम कर रहा हो, घायल हो या मर गया हो, यह नहीं कह सकते कि वह दौड़ता है।[2]

वक्ता का उद्देश्य श्रोता तक अर्थ को प्रेषित करना होता है। यह उद्देश्य उन सज्जनों का भी होता है जिनके सम्बन्ध में 'मुखमस्तीति वक्तव्यम्' (भगवान ने मुख दिया है इसलिए बोलना ही चाहिए) की उक्ति चरितार्थ होती दिखाई देती है। समस्त भाषागत प्रयत्नों के पीछे अर्थ के प्रेषण का उद्देश्य है। इसीलिए अर्थ को वाणी का फूल और फल कहा गया है।[3] श्रोता का अपना भौतिक और मानसिक परिवेश होता है और वह वक्ता द्वारा प्रेषित अर्थ को इसी परिवेश के आधार पर ग्रहण करता है। यदि कहा जाय 'पशुओं को ले जाओ' तो वक्ता के इस आदेश को गाय चराने वाला गायों को लाने के अर्थ में और बकरी या भेड़ चराने वाला बकरियों या भेड़ों को लाने के अर्थ में ग्रहण करेगा। 'उसे बहुत आर्थिक दण्ड मिला' वक्ता के इस उच्चार में आये हुए 'बहुत' शब्द का अर्थ करोड़पति, लखपति, हजारपति और सर्वथा धनहीन श्रोता के लिए अलग-अलग होगा। श्रोता अपने भौतिक मानसिक परिवेश के आधार पर ही शब्द का अर्थ ग्रहण करता है। इस तथ्य को समझकर ही सम्भवतः बीरबल ने स्वयं कोई दण्डनीय अपराध कर बैठने पर बादशाह से अपनी यह प्रार्थना स्वीकृत करा ली थी कि दण्ड का निर्धारण करने

१. निरुक्त, १–११।

२. Semantics—Page 171.

३. अर्थं वाचः पुष्पफलमाह।—निरुक्त, १-२०, निरुक्तसम्मर्श, पृष्ठ ६०।

वाले पंच खुद उसके द्वारा मनोनीत किये जायँ। और वीरबल ने अपने मित्रों या हितैषियों की उपेक्षा करके नितान्त अपरिचित लेकिन निर्धन व्यक्तियों को पंच के रूप में मनोनीत किया था। इन पंचों ने व्यवस्था दी थी कि वीरबल ने बड़ा अपराध किया है, इसलिए उसे पाँच रुपये आर्थिक दण्ड दिया जाय ताकि वह भविष्य में फिर ऐसा अपराध करने का साहस न कर सके। इस व्यवस्था को दे चुकने के बाद ही पंचों को यह मलाल रह ही गया था कि पाँच रुपये अधिक होते हैं और इस बहुत बड़े आर्थिक दण्ड को भरने में कहीं वीरबल के बच्चे भूखे न मर जायँ।

शब्द के अर्थ के लिए प्रसंग का भी महत्व है। अनेकार्थक शब्दों के ही नहीं एकार्थक शब्दों के अर्थ का स्वरूप भी प्रसंग पर निर्भर है। रोग के प्रसंग में अंग्रेजी ऑपरेशन शब्द का जो अर्थ है युद्ध के प्रसंग में उसका वह अर्थ नहीं होगा। 'घर के भीतर तो आइए' में घर का अर्थ आलीशान मकान, साधारण मकान, कुटिया या झोंपड़ी कुछ भी हो सकता है। फिर भी यहाँ घर शब्द का जो अर्थ है वही अर्थ 'बस, अब घर नहीं बसाऊँगा', 'सारा घर रो पड़ा', 'घर घर मिट्टी के चूल्हे हैं' आदि उच्चारों में आये हुए घर शब्द का नहीं है। विनफ्रैड पी० लेहमन शब्दार्थ के इन प्रसंग-निर्भर आयामों को वृत्तों की सहायता से स्पष्ट करते हैं [१] (देखिए, पृ० १४७)।

यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते ।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम् ॥[२]

जिस शब्द के उच्चारण से जब जिस अर्थ की प्रतीति होती है वही उसका अर्थ है। अर्थ का दूसरा लक्षण नहीं है। इस परिभाषा में जब (यदा) शब्द का प्रयोग करके भर्तृहरि ने भी अर्थ-निर्धारण में प्रसंग के महत्व की ओर ही संकेत किया है।

१. अ. They live in the house over there.
आ. Drop in at the house after supper.
इ. Their boy lives in one of the houses at Harvard.
ई. Only the lower house is in session.
उ. The house roared with laughter.

—Historical Linguistics : An Introduction.
—Page 197-198, 1963.

२. वाक्यपदीय—२ । ३३० ।

इस प्रकार शब्द का अर्थ प्रयोक्ता की इच्छा और मनःस्थितियों पर निर्भर है। प्रयोक्ता भी एक दो नहीं लाखों करोड़ों की संख्या में होते हैं। स्वयं उनमें और उनकी इच्छाओं तथा मनःस्थितियों में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। अर्थ अपने आप में कोई स्थिर बिन्दु नहीं है, वह अपूर्ण और अयथार्थ है। उसके स्वरूप-निर्धारण में श्रोता के भौतिक मानसिक परिवेश और शब्द के प्रसंग की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। इन चार विशेषताओं ने अर्थ को भाषा का सबसे अधिक परिवर्तनशील तत्व बना दिया है। व्यक्ति एक बार ध्वनियों का जो उच्चारण सीख लेता है साधारणतः जीवन भर उसी को ग्रहण किये रहता है। सीखे हुए गलत उच्चारण को भी वह

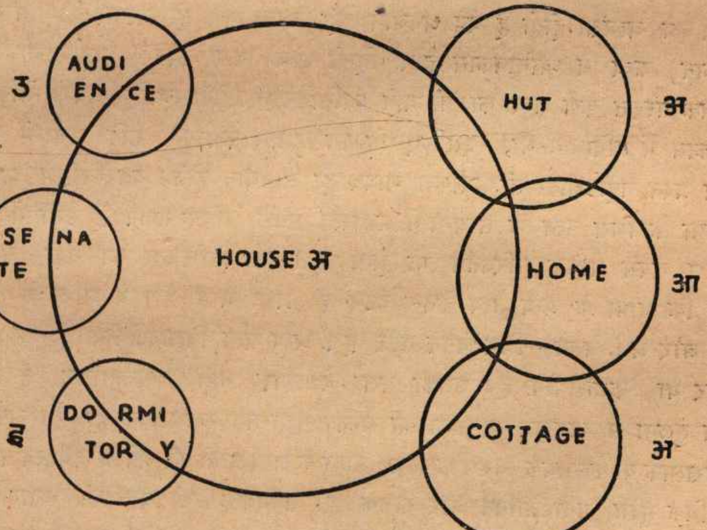

प्रायः बदलता नहीं है। स् के स्थान पर श् का उच्चारण सीखे हुए महाशय को आप अंग्रेजी भाषा में नये वर्ष की मंगलकामनाएँ दें, वे 'सेम टू यू' (Same to you) के स्थान पर तपाक से कह देंगे—'शेम टू यू' (Shame to you)। रूपों और वाक्यों में भी व्यक्ति साधारणतः कोई परिवर्तन नहीं करता। लेकिन शब्द के अर्थ में निरन्तर परिवर्तन करता चलता है। वस्तुतः प्रयोक्ता अर्थ के सम्बन्ध में अधिक से अधिक असंदिग्ध होना चाहता है। इसके लिए वह शब्दों के प्रयोग में निरन्तर उलटफेर करता है। वह किसी भी स्थिति में श्रोता को अपने मन्तव्य का संदिग्ध

अर्थ प्रेषित नहीं करना चाहता। यदि वह संदिग्ध अर्थ प्रेषित करता है तो 'अश्वत्थामा हतः' की तरह उसका मन्तव्य ही संदिग्ध अर्थ प्रेषित करने का है। यहाँ भी वह यह सावधानी रखेगा कि कहीं श्रोता इस संदिग्ध अर्थ से भिन्न कोई अन्य अर्थ ग्रहण न कर ले। वह चाहेगा कि यह संदिग्ध अर्थ असंदिग्ध रूप में ही श्रोता के पास पहुँचे ताकि अर्थ के सम्बन्ध में उसे कोई विकल्प न रहे। प्रयोक्ता ध्वनियों या रूपों की तब तक कोई चिन्ता नहीं करता जब तक कि उनके भिन्न उच्चारण या प्रयोग से अर्थ बदलने की आशंका न हो। पूरा ध्वनिग्रामशास्त्र इसी मान्यता पर निर्भर है, इसलिए ध्वनियों या रूपों के सम्बन्ध में वह बहुत सावधान नहीं होता। लेकिन इनके भिन्न उच्चारण, प्रयोग या विकास से जैसे ही अर्थ के बाधित या संदिग्ध होने की आशंका होती है वह अनजाने ही सावधान हो जाता है। संस्कृत कर्ण (कान) शब्द से ध्वनिविकास द्वारा हिन्दी शब्द बना कान। महाभारत के पात्र-सूचक संस्कृत कर्ण शब्द का भी यही ध्वनिविकास होना चाहिए था। लेकिन वैसे विकास में संदिग्धता थी, इसलिए विकास हुआ करन।[1] यदि अर्थ में संदिग्धता का प्रश्न नहीं आता तो प्रयोक्ता शायद ही सावधान होते। यह विचित्र बात है कि भाषा के जिस तत्व के सम्बन्ध में प्रयोक्ता सबसे अधिक सजग हैं उसी में उन्हीं के द्वारा सबसे अधिक परिवर्तन भी होता है। इस विचित्रता का यही स्पष्टीकरण है कि भाषा के अन्य तत्व केवल गठन हैं, ढाँचा मात्र हैं। वे भाषा के जड़ तत्व हैं और अर्थ चेतन—चिर चेतन तत्व है। अन्य तत्व विज्ञानक्षेत्रीय हैं, अर्थ व्यवहार या कलाक्षेत्रीय है। उसकी सत्ता वैज्ञानिक नहीं, व्यावहारिक है। विज्ञान की तुलना में व्यवहार या कला की परिवर्तनशीलता स्वाभाविक ही है। अपने व्यवहारात्मक या कलात्मक स्वरूप के कारण भाषा के अन्य तत्वों की अपेक्षा अर्थतत्व का अध्ययन अधिक सूक्ष्म, मनोवैज्ञानिक और रोचक है। सम्भवतः इसी बात को ध्यान में रखते हुए यास्क ने कहा है—अर्थ-विज्ञान से रहित शब्द-विज्ञान प्रतिभा की व्युत्पत्ति का साधन नहीं है। जिस प्रकार अग्नि के अभाव में शुष्क ईंधन अग्नि को प्रज्वलित नहीं कर सकता उसी प्रकार अर्थतत्व की उपेक्षा करके समस्त शब्दतत्व का अध्ययन प्रतिभा को कभी भी प्रदीप्त नहीं कर सकता।[2] और शायद इसी कारण से मेरिओ

१. भारतीय भाषाविज्ञान—किशोरीदास वाजपेयी, पृष्ठ ६८, १९५९।
२. निरुक्तसम्मर्श, १। १८, पृष्ठ ५८—स्वामी ब्रह्ममुनि, १९६६।

पे (Mario Pei) अर्थतत्व को भाषा का ही नहीं मानव सभ्यता का भी अन्तस्तल निरूपित करते हैं।[1]

कलात्मक होने के कारण भाषा के अन्य तत्वों की तुलना में अर्थतत्व के विषय को जहाँ उक्त लाभ हैं वहाँ हानियाँ भी कम नहीं हैं। इस विषय पर उतनी निरपेक्षता के साथ विचार हो ही नहीं सकता, जितनी निरपेक्षता के साथ ध्वनि, रूप और वाक्य-तत्व पर होता है। फिर एक अर्थ-परिवर्तन के पीछे एकाधिक कारण होते हैं और उन्हें भी पूरे उत्तरदायित्व के साथ कारण घोषित करना सम्भव नहीं होता। मामूली से अर्थपरिवर्तन के पीछे प्रयोक्ताओं का सूक्ष्म मनोविज्ञान, उनकी जटिल सामाजिक, सास्कृतिक परम्पराएँ और अवस्थाएँ हो सकती हैं। अर्थ के क्षणिक अपसरण (Shift) के पीछे प्रयोक्ताओं के मनोवेगों और चिन्तनधाराओं का एक पूरा इतिहास हो सकता है। इसलिए अर्थतत्व का विषय विवादास्पद भी कम नहीं है। भाषासिद्धान्त के अन्तर्गत उसे सबसे अधिक विवादास्पद विषय कहा जाता है।[2] भाषा के अन्य तत्वों के सम्बन्ध में जिस निश्चय और निर्णय के स्वर में सिद्धान्त या नियम प्रस्तुत किये जाते हैं उस स्वर में अर्थतत्व के नियम या सिद्धान्त प्रस्तुत ही नहीं किये जा सकते। एफ० जी० टकर का कथन है कि अर्थपरिवर्तन के नियम अभी तक ज्ञात ही नहीं किये जा सके हैं और शायद वे ज्ञान-सुलभ भी नहीं हैं।[3]

भारतवर्ष में भी अर्थतत्व के सन्दर्भ में पतंजलि के एक कथन से एक विवाद आरम्भ हुआ। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का निरूपण करते हुए पतंजलि कहते हैं—

नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः। (महाभाष्य, आ० १)[4]

अर्थात् शब्दों और अर्थों का सम्बन्ध नित्य है। यहाँ साधारणतः यही प्रतीत होता है कि पतंजलि के मतानुसार शब्द और अर्थ स्थायी रूप से परस्पर सम्बन्धित हैं, इसलिए किसी शब्द से उसका अर्थ हट नहीं सकता। उसमें नये अर्थ का आगम और

१. The Story of Language—Page 148, 1949.

२. Semantics—Stephen Ullmann, Page 54, 1964.

३. Laws of meaning-change are not yet discovered and are probably undiscoverable—Introduction to Natural History of Language. Page 373.

४. व्याकरण महाभाष्य, पृष्ठ ३६, चौखम्बा सं०, १९६७।

पुराने का लोप नहीं हो सकता। यदि इसे मान लिया जाय तो इसका अर्थ होगा कि आचार्य अर्थ-परिवर्तन की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। किन्तु वास्तव में उक्त कथन की उक्त व्याख्या सही नहीं है। पतंजलि जब शब्दों और अर्थों के नित्य सम्बन्ध की बात करते हैं तो उनकी दृष्टि में कोई विशिष्ट शब्द और उससे सम्बद्ध कोई विशिष्ट अर्थ नहीं है बल्कि शब्द मात्र और अर्थ मात्र है। भाषा में शब्दों के अभाव में अर्थों का और अर्थों के अभाव में शब्दों का अस्तित्व नहीं हो सकता। इसीलिए पतंजलि दोनों के सम्बन्ध को नित्य मानते हैं। उन्होंने भाषाशास्त्रीय अर्थ में नहीं बल्कि सामान्य अर्थ में उपर्युक्त पंक्ति कही है। इस सामान्य अर्थ परवर्ती कालों में भी कालिदास और तुलसीदास ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का उल्लेख किया है—

> वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
> जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥
> (रघुवंश, १–१)
>
> गिरा अरथ जलबीचि सम, कहिअत भिन्न न भिन्न।
> बंदउँ सीताराम पद, जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥
> (रामचरित मानस, १–१८)

लेकिन चूँकि पतंजलि वैयाकरण हैं, कालिदास या तुलसीदास की तरह कवि नहीं, इसलिए उनके सामान्य कथन से भाषाशास्त्रीय अर्थ और वह भी एक विशिष्ट अर्थ का भ्रम हो गया। कैयट, भर्तृहरि, हेलाराज आदि आचार्यों ने—"शब्द के द्वारा अर्थबोधन अनादि काल से चल रहा है, इसलिए शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य कहा गया है। अनित्य अर्थ को भी नित्य इसलिए कहा गया है कि शब्द का कोई न कोई अर्थ अवश्य रहता है—" आदि व्याख्याओं में—पतंजलि के कथन की आत्मा का सही स्वरूप उद्‌घाटित किया है। वास्तव में पतंजलि की उक्त पंक्ति और जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र आचार्य की 'सम्बन्धस्यानित्यत्वं भित्तिव्यवाये चित्रवत्'[1] इस पंक्ति में प्रकट किये गये मत में कोई भेद ही नहीं है। दोनों ही दो भिन्न ढंगों से एक ही बात कह रहे हैं। शब्द और अर्थ के स्वरूप और पारस्परिक सम्बन्ध के प्रति पतंजलि की निर्भ्रान्त

१. (शब्द और अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध होते हुए भी वह) सम्बन्ध नित्य नहीं है, जिस प्रकार भित्ति के नष्ट हो जाने पर चित्र नष्ट हो जाता है। —प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ १२४।

दृष्टि के दर्शन उनके द्वारा किये गये स्फोट और ध्वनि के विवेचन[1] में भी मिलते हैं। उस विवेचन से तथा उनके द्वारा दिये गये कुछ उदाहरणों[2] से भी उनकी उक्त पंक्ति के उपर्युक्त विवेचन की संगति बैठती है।

शब्द की व्युत्पत्ति हम कुछ भी और कहीं से भी मानते या सिद्ध करते रहें, एक बार जब शब्द प्रचलन में आ जाता है तो उसके अर्थ-परिवर्तन की सम्भावनाएँ आरम्भ हो जाती हैं। कभी-कभी यह अर्थ इतना बदल जाता है कि व्युत्पत्ति के अर्थ से उसकी कोई संगति ही नहीं समझ में आती। पेपीरस नाम के पौधे से प्राचीन मिस्र के लोग कागज बनाते थे। ये कागज फोनेसियन लोगों के द्वारा फ़ोनेसिया के बाइ-बलौस (Byblos) नगर से भूमध्यसागर के देशों को निर्यात किये जाते थे। निर्यात करने वाले नगर के नाम पर कागजों का नाम पड़ गया बाइबलौस। बाइबलौस यानी कागजों का प्रयोग करने वाले यूनानियों ने इनसे निर्मित छोटी किताब का नाम रखा बिबलिओन (Biblion) जिसका बहुवचन बिबलिआ (Biblia) बना। ईसा के स्वर्गवास के उपरान्त उनके जीवन और धर्म पर लिखित पुस्तक

१. पतंजलि के अनुसार शब्द के दो स्वरूप हैं—स्फोट और ध्वनि। ध्वनि शब्द का गुण है अर्थात् वह शब्द की व्यंजक है। ध्वनि के द्वारा शब्द की अभि-व्यक्ति होती है, अतएव स्फोट व्यंग्य है और ध्वनि व्यंजक।

शब्द नष्ट होता है, ऊँचा शब्द नीचा शब्द आदि जो व्यवहार होता है, वह ध्वनि को शब्द समझते हुए होता है। पतंजलि ने इसे समझाया है—जैसे भेरी बजाने पर भेरी का शब्द कोई बीस गज जाता है, कोई तीस और कोई चालीस। स्फोट (शब्द) समान ही रहता है। लघुता, वृद्धि, अल्पता, महत्ता यह ध्वनि के कारण होता है।

हम ध्वनि को ही अल्प या महान् रूप में देख पाते हैं। मनुष्यों में स्फोट और ध्वनि का ग्रहण होता है, अर्थात् मनुष्य जो शब्द बोलते हैं वह वर्णात्मक होने के कारण ध्वनि के साथ ही स्फोट का भी बोध कराते हैं, अतएव अर्थज्ञान होता है। पशु-पक्षी आदि में केवल ध्वनि का ही ग्रहण होता है।

—अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन, पृष्ठ ७३ के कुछ अंश।

२. शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति, विकार एवैनमार्या भाषन्ते शव इति। (कम्बोज देश में शव् धातु गमन के अर्थ में लेकिन आर्यों में लाश के अर्थ में प्रयुक्त होती है।)—व्याकरणमहाभाष्य, चौखम्बा सं०, पृष्ठ ५३, १९६७।

का नाम ४०० ईसवी में बाइबिल पड़ा[१] जो अब केवल उसी पुस्तक का सूचक है। बिबलिओग्रैफी (Bibliography) शब्द में पुस्तक मात्र का अर्थ अभी भी सुरक्षित है।

'मीत महीपति माहुर दीन्हें'[२] में माहुर शब्द का अर्थ विष है। इसी अर्थ में यह पूर्वी बोलियों में प्रयोग भी किया जाता है। लेकिन इसका विकास संस्कृत शब्द मधुर से है जिसका अर्थ मीठा होता है। प्रवीण शब्द का सम्बन्ध वीणा से है। वीणा बजाने में कुशल (प्रकृष्टो वीणायाम्) व्यक्ति को प्रवीण कहा जाता था। कालान्तर में किसी भी कार्य में कुशल व्यक्ति को प्रवीण कहा जाने लगा। यहाँ तक कि वीणा को तोड़ने के कार्य में कुशल व्यक्ति को भी प्रवीण कहा जाता है। परवर्ती कालों में वीणा बजाने में कुशल व्यक्ति को मात्र प्रवीण कहने से काम नहीं चला। कहना पड़ा वीणावादन में प्रवीण (वीणायां प्रवीणः)। शब्दों के द्वारा अपने मूल अर्थ से भिन्न अर्थ ग्रहण कर बैठने की प्रवृत्ति के कारण ही साहित्यदर्पणकार को कहना पड़ा था—'शब्दों का अर्थ सदा व्युत्पत्ति के आधार पर ही नहीं होता वह मुख्यतः उनकी प्रवृत्ति के आधार पर होता है।'[३] यदि हम व्युत्पत्तिमूलक अर्थ पर ही दृष्टि रखें तो भाषा के व्यवहार में कठिनइयाँ उत्पन्न हो जायँ। व्यवहार में हम शब्द के इस अर्थ को भूल जाते हैं और उसके प्रचलित अर्थ के आधार पर ही उसको व्यवहार में लाते हैं। साधारण जन को तो व्युत्पत्तिमूलक अर्थ ज्ञात भी नहीं होता। ब्रेआल का कथन है कि शब्द के एक विशेष अर्थ में रूढ हो जाने पर वह शीघ्र ही अपने व्युत्पत्तिमूलक अर्थ से मुक्त हो लेता है। यदि ऐसा न हो तो झंझट खड़ा हो जाय।[४] वास्तव में प्रचलित अर्थ को समझने में व्युत्पत्तिमूलक अर्थ अधिक सहायक नहीं होता।[५]

१. अंग्रेजी पेपर (paper) शब्द की व्युत्पत्ति स्वयं इसी पेपीरस से है।

२. रामचरितमानस––तुलसीदास।

३. अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्––साहित्यदर्पण। २–५।

४. Once accepted, it rids itself of its etymological signification, otherwise this signification might become an embarrassment.

—Semantics, Page 172.

५. Etymological definition is not very helpful in dealing with current meanings.

—Language—Joshua Whatmon, Page 74, 1956.

अर्थपरिवर्तनों का सुनिश्चित वर्गीकरण कठिन कार्य है। भाषावैज्ञानिकों ने इन कठिनाइयों का उल्लेख किया है। सी० डी० बक ने अपने प्रमुख भारोपीय भाषाओं के चुने हुए पर्यायवाची शब्दों के कोश के प्राक्कथन में लिखा है—'अर्थपरिवर्तन के मूल में निहित भाव-सम्पर्क इतने मिश्रित होते हैं कि अर्थपरिवर्तनों का कठोर वर्गीकरण सम्भव नहीं है। बहुत से अर्थपरिवर्तनों पर विभिन्न दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। एक अर्थ में प्रत्येक शब्द का अपना एक अर्थगत इतिहास होता है।'[1] केवल इतना ही नहीं। यह इतिहास शब्द-प्रयोक्ताओं के मनोवेगों और चिन्तनों की अनेक मिलीजुली धाराओं से निर्मित होता है जिन्हें आसानी से पहचाना नहीं जा सकता।

फिर भी अर्थपरिवर्तनों को वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया गया है। जो वर्गीकरण उपलब्ध हैं उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण वर्गीकरण मिशेल ब्रेआल का है। इसे तर्कसंगत वर्गीकरण (Logical Classification) कहा जाता है। हमारा ज्ञात अर्थ जब परिवर्तित होता है तो वह तीन दिशाओं में से कोई एक दिशा ग्रहण कर सकता है—वह विस्तृत हो सकता है, संकुचित हो सकता है या फिर पूर्णतः परिवर्तित हो सकता है। इसी आधार पर ब्रेआल ने अर्थपरिवर्तन के तीन वर्ग या दिशाएँ निर्धारित की हैं—

१. अर्थविस्तार (Expansion of meaning), २. अर्थसंकोच (Contraction of meaning), ३. अर्थादेश (Transference of meaning)।

१. **अर्थ विस्तार**—प्राचीन अर्थ की तुलना में नवागन्तुक अर्थ का क्षेत्र यदि विस्तृत हो तो यह परिवर्तन अर्थविस्तार के अन्तर्गत आएगा। ऐसा प्रायः तब होता है जब किसी विशेष का बोध कराने वाला शब्द सामान्य का बोध कराने लगता है। इस स्थिति में विशेष यानी सीमित अर्थ सामान्य यानी विस्तृत अर्थ में परिवर्तित हो जाता है। जैसे संस्कृत में कादम्बरी बाणभट्ट-कृत एक उपन्यास-रचना है। एक उपन्यास का यह व्यक्तिगत, सीमित या विशेष नाम मराठी तथा कन्नड़ में उपन्यास मात्र के लिए प्रयुक्त होने लगा। मराठी में उपन्यास को कादम्बरी और कन्नड़ में कादम्बरि कहते हैं।

दक्षिणी स्लैवॉनिक भाषा में Rose (गुलाब) शब्द सभी फूलों के अर्थ का वाचक हो गया है।[2] Lady (स्त्री) शब्द का मूल अर्थ रोटी बनाने वाली था,[3]

१. Preface, Page VI.

२. Language—J. Vendryes, Page 202.

३. The Tree of Language, Page 165.

जो अब स्त्रीमात्र के अर्थ में प्रचलित है। अंग्रेजी के क्लाइंट (Client) शब्द का लैटिन में अर्थ था 'आज्ञाकारी दास, सेवक या नौकर।' आज बड़े से बड़ा व्यक्ति भी अपने वकील, डाक्टर, व्यापारी आदि का क्लाइंट है। अंग्रेजी के एराइव (Arrive) शब्द का अर्थ था तट पर पहुँचना। अब किसी भी स्थान पर पहुँचने के लिये एराइव शब्द का प्रयोग होता है। रोमन लोग उन गुणों को Virtue कहते थे जो Vir यानी पुरुष में होते थे। पूरुषोचित गुणों शौर्य, साहस, अस्त्र-शस्त्र में योग्यता आदि का वाचक शब्द था Virtue । आज अर्थ-विस्तार के कारण वह स्त्रियों के सन्दर्भ में भी, जैसे Virtuous Woman प्रयुक्त होता है। प्रत्येक रोमन महीने का पहला दिन कलैण्ड्स (Kalends) कहलाता था। महीने के पहले दिन ही ऋणों पर ब्याज चढ़ता था और इसका हिसाब रखने वाली बही कलैण्डैरियम् (Calendarium) कहलाती थी। इसी शब्द से कलैण्डर शब्द बना जो अब महीने के पहले दिन का ही नहीं सभी दिनों का द्योतक है। फ्रान्सीसी भाषा में 'मोने फ्रयुस्त' ऐसे सिक्के के सम्बन्ध में प्रयुक्त होता था जो असुन्दर हो और जिसकी ठुकाई मोटे रूप से हुई हो। अब फ्रयुस्त शब्द अशिष्ट व धृष्ट व्यक्ति के लिए भी प्रयुक्त होता है।

संस्कृत लेखक अपने ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थ-समाप्ति और अपने लेखकत्व की सूचना देने के लिए एक पंक्ति लिखते हैं, जिसका आरम्भ समाप्ति की सूचना के लिए इति' शब्द से होता है। इसके उपरान्त दूसरा शब्द 'श्री' होता है जो लेखक के नाम के पूर्व आदरार्थ प्रयुक्त होता है। जैसे—इति श्रीभर्तृहरिकृतं वैराग्यशतकं समाप्तम्। हिन्दी में इति और श्री इन दोनों शब्दों को एक शब्द के रूप में समझ लिया गया और इतिश्री शब्द को, जो ग्रन्थ-समाप्ति की सूचक पंक्ति का आरम्भिक अंश था, कालान्तर में अर्थविस्तार के कारण समाप्ति मात्र का बोधक मान लिया गया। लगभग यही कथा श्रीगणेश शब्द की है। ग्रन्थारम्भ की पंक्ति के आरम्भिक अंश के स्थान पर वह आरम्भ मात्र का वाचक हो गया।

तटस्थ का अर्थ था जो धार में न हो, किनारे पर स्थित हो। लेकिन इसका अर्थ विस्तृत होकर ऐसे किसी भी व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होने लगा जो झगड़े या विवाद से सम्बन्धित न हो, गुटनिरपेक्ष हो। दो पक्षों में समझौता कराने वाला मध्यस्थ—मध्य में स्थित होते हुए भी—आज तटस्थ कहा जाता है।

गोष्ठ शब्द का अर्थ था गौओं के रहने का स्थान। परवर्ती कालों में रहने मात्र का स्थान गोष्ठ कहलाने लगा। स्पष्टता के लिए गायों के रहने के स्थान को 'गोगोष्ठम्'

कहना पड़ा। तेल शब्द तिल से सम्बन्धित है। तिल से निकले हुए द्रव पदार्थ को तैलम् कहा जाता था। अर्थ विस्तार के कारण सरसों, नारियल और मूँग-फली से निकले द्रव पदार्थ को ही नहीं मछली और मिट्टी से प्राप्त द्रव पदार्थ (Kerosene) को भी तेल की संज्ञा प्राप्त हुई। अब तिल से निकले द्रव पदार्थ का बोध कराने के लिए संस्कृत में 'तिलतैलम्' और हिन्दी में तिली का तेल कहना पड़ता है।

सूत्रपात शब्द का संस्कृत में अर्थ है नापने के लिए डोरी डालना। भवन-निर्माण की नींव डालते समय नापने की डोरी का प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार के नाप अब भी लिये जाते हैं। इस नाप के उपरान्त भवन-निर्माण का कार्य आरम्भ होता है। इस प्रकार सूत्रपात शब्द के साथ 'आरम्भ' का भाव जुड़ गया। हिन्दी में किसी भी कार्य के आरम्भ करने कोउसका सूत्रपात करना कहा जाता है। कुशल शब्द जो कुशों के छेदन में योग्यता का बोधक था, योग्यता मात्र का बोधक हो गया।

डालडा शब्द जो हिन्दुस्तान लीवर लिमिटेड द्वारा निर्मित एक वनस्पति घी का नाम है, वनस्पति घी मात्र का बोधक हो चला है। 'लगता है, मिठाई में शुद्ध घी नहीं, डालडा पड़ा है' यहाँ ग्राहक का आशय वनस्पति घी मात्र से है। काले रंग की रोशनाई को स्याही कहा गया था। आरम्भ में मात्र काली रोशनाई से लिखा भी जाता था। स्याह शब्द में कालेपन का अर्थ अब भी सुरक्षित है। लेकिन अब हर रंग की रोशनाई को स्याही की संज्ञा प्राप्त है। हिन्दी प्रदेश की साधारण जनता के लिए मद्रासी शब्द समस्त दक्षिण भारतीयों का वाचक बना हुआ है। नारद, विभीषण और जयचन्द ये नाम पौराणिक ऐतिहासिक विशेष व्यक्तियों के हैं। लेकिन कलह कराने वाले, घर के भेदिया और गद्दार मात्र के सामान्य अर्थ में प्रचलित हैं। गंगा शब्द मराठी और गुजराती में नदी मात्र का वाचक बन गया है। सब्जी शब्द उन सब्जियों के लिए भी प्रयुक्त होता है जो सब्ज यानी हरी नहीं हैं। तिलांजलि भी अब केवल मृतक को ही नहीं दी जाती; किसी कार्य, विचार, वस्तु, सिद्धान्त या दल को भी तिलांजलि दी जा सकती है। (१८५७–५८ में मंगल पाँडे के नाम पर) पाँडे शब्द का अर्थ क्रान्तिकारी सिपाही,[1] (नाना फड़नवीस के कारण) फड़नवीसी का अर्थ कूटनीति-

१. अन्त में कलकत्ते से चार आदमी इस काम के लिए बुलाये गये और ८ तारीख के सवेरे मंगल पांडे को फाँसी दे दी गयी।

चार्ल्स बॉल और लॉर्ड रॉबर्ट्स दोनों लिखते हैं कि उसी दिन से १८५७-

ज्ञता[1] और पोपलीला का अर्थ आडम्बर हो जाने में अर्थ का विस्तार ही हुआ है।[2]

शब्दों के अर्थविस्तार की प्रवृत्ति अत्यन्त स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसके पीछे प्राचीन या पूर्व ज्ञात के आधार पर नवीन को और विशेष के आधार पर सामान्य को समझने की सहज मनोवृत्ति है। अपने भारतीय बच्चे को राष्ट्रपति जॉन्सन के दर्शन कराता हुआ भारतीय पिता सहज ही कह सकता है—'ये अमरीका के जाकिर हुसैन हैं।' और आश्चर्य नहीं यदि वह बच्चा जाकिर हुसैन शब्द को राष्ट्रपति मात्र का बोधक मान बैठे। बाहर अपने बाल मित्रों में खेलने के लिए आतुर किन्तु चड्डी पहन-कर जाने के आदेश से बँधा एक नन्हा बच्चा अपनी माँ से जल्द फल्द चड्डी पहनकर भागता है। लेकिन बाहर निकलने के पूर्व ही चड्डी को सँभालते हुए लौटता हुआ माँ पर झुँझलाता है—'इसकी सिटकनी तो आपने लगाई नहीं।' इस नन्हें बच्चे को, जो सचमुच ऐसा बोला था, सिटकनी लग जाने पर दरवाजे के न खुलने का ज्ञान तो था लेकिन नाड़ा उसके लिए नई चीज था। इसलिए स्वभावत: उसके द्वारा सिटकनी के अर्थ का विस्तार हो गया'। इसी प्रकार एम० एल० ए० का अर्थ गज्जूराम बताने वाला अपेक्षाकृत वयस्क बालक भी, जिसने सचमुच यह अर्थ बताया था, अपने क्षेत्र के एम० एल० ए० गज्जूराम के अर्थ को विस्तृत करके एम० एल० ए० मात्र के अर्थ में परिवर्तित कर रहा था।

वस्तुत: आरम्भ में हमारे प्रत्यय (Concepts) नितान्त व्यक्तिगत होते हैं। सामान्य धारणाओं और भावों को ग्रहण करना अभ्यास-सिद्ध कार्य है। अपनी माँ के प्रत्यय की तुलना में माँ–मात्र का प्रत्यय देर से उत्पन्न होता है। एक बच्ची को जो उस समय तक केवल अपने ही कुत्ते को भौंकने वाला जानती थी एक अन्य कुत्ते को भौंकते देखकर आश्चर्य हुआ था। उसने जिज्ञासा की थी—काला कुत्ता भौंकता

५८ के समस्त क्रान्तिकारी सिपाहियों को 'पाँडे' के नाम से पुकारा जाने लगा।
—भारत में अंग्रेजी राज (द्वितीय खण्ड), सुन्दरलाल, पृष्ठ ८३१।

१. कपूर ने माथुर को बगलगीर कर लिया, 'तेरी इसी फड़नवीसी का तो कायल हूँ यार।'

—यारों के यार: तिन पहाड़, कृष्णा सोबती, पृष्ठ २७।

२. यह दर्शन देने की प्रथा, यह पूजा करने की प्रथा, यह सब पोपलीला है। अपना चरित्र सँभालना चाहिए। —भूले बिसरे चित्र—भगवतीचरण वर्मा, १९६६, पृष्ठ ३३०।

है? पीला कुत्ता भी? वह जो उस दिन स्टेशन पर मिला था वह भी भौंकता है? ऐसे कई प्रश्नों के उपरान्त ही वह इस सामान्य प्रत्यय को धारण कर सकी थी कि सभी कुत्ते भौंकते हैं। पूर्वज्ञात या विशेष के आधार पर नवीन या सामान्य को हृदयंगम करने की चेष्टा में कभी-कभी पूर्व ज्ञात या विशेष का नाम नवज्ञात या सामान्य को प्राप्त हो जाता है। फलस्वरूप अर्थ विस्तृत हो बैठता है। पहले अर्थ की तुलना में नये अर्थ का क्षेत्र बढ़ जाता है। अर्थ का क्षेत्र नहीं बदलता वह केवल विस्तृत हो जाता है जिसमें पहले अर्थ का क्षेत्र भी समाहित रहता है। ऐसी स्थिति में टकर का यह कहना कि भाषा में अर्थविस्तार होता ही नहीं[1], समुचित नहीं प्रतीत होता।

२. **अर्थसंकोच**—प्राचीन अर्थ की तुलना में नवागन्तुक अर्थ का क्षेत्र यदि संकुचित या सीमित हो तो यह परिवर्तन अर्थ-संकोच के वर्ग में आयेगा। ऐसा प्रायः तब होता है जब किसी सामान्य या अंगी का बोध कराने वाला शब्द किसी विशेष या अंग का बोध कराने लगता है। इस स्थिति में विस्तृत अर्थ संकुचित अर्थ में परिवर्तित होता है। जलज का अर्थ था जल से उत्पन्न। आरम्भ में सम्भवतः मछली और काई को भी जलज कहा जाता रहा होगा। बाद में वह कमल के अर्थ में सीमित हो गया। इस प्रकार जल में उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थों का बोधक शब्द अब उसके केवल एक ही पदार्थ का बोधक है। हिन्दी प्रदेशों में मनुष्य शब्द का प्रयोग सम्भवतः अज्ञानवश पुरुष के अर्थ में करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। 'रास्ते में कुछ मनुष्य और स्त्रियाँ जा रही थीं' इस वाक्य में वक्ता महोदय ने स्त्रियों को मनुष्य-श्रेणी से बहिष्कृत करके मनुष्य शब्द के अर्थ का क्षेत्र पहले से लगभग आधा कर दिया है। इसी प्रकार 'यह मेरी स्त्री है' जैसे उच्चारों में स्त्री शब्द का अर्थ पत्नी के अर्थ में सिमट गया है।[2]

रदन शब्द का अर्थ फाड़ने वाला से संकुचित होकर दाँत रह गया है। मृग पशु मात्र का वाचक था। अब हरिण का वाचक है। विद्यार्थी शब्द भी सभी विद्या-कामियों का प्रतीक न रहकर केवल छात्रों का प्रतीक बन गया है। ईश्वर प्रत्येक ऐश्वर्य-शाली के लिए नहीं परमात्मा के लिए प्रयुक्त होता है।

१. भाषाविज्ञान--भोलानाथ तिवारी, १९६६, पृष्ठ २२५ पर उद्धृत टकर का मत।

२. 'मेरी स्त्री जब से आयी सख्त बीमार है।' 'मैं स्त्री की बीमारी से कहीं आ जा नहीं सकता।' 'बिहारी सम्मेलन के समय (२२ जून) तक स्त्री को कुछ आराम हुआ।' —निराला की साहित्य साधना, प्रथम खण्ड, जीवन-चरित, पृष्ठ १२१ पर उद्धृत शिवपूजन सहाय का निराला को लिखा पत्र (१९–५–१९२६)।

पॉयजन (Poison) शब्द का अर्थ पेय पदार्थ से संकुचित होकर विष हो गया है। लैटिन Circus शब्द का अर्थ घेरा (Circle) है। रोमन लोग जिन मैदानों में खेलकूद और दौड़ों का आयोजन करते थे वे अपने आकार (गोलाकार) के कारण सरकस कहलाते थे। आज एक विशेष प्रकार का आयोजन सरकस कहलाता है। मैगज़ीन (Magazine) शब्द का मूल अर्थ था भण्डार। यह अरबी शब्द Makhzine (Khazana) से आया हुआ शब्द है। फ्रान्सीसी में Magasin का अर्थ इस समय भी दुकान है। लेकिन विदेशी अनुवादों आदि के माध्यम से जगह-जगह की सूचनाओं से युक्त होने के कारण सम्भवतः १८वीं शताब्दी में Magazine शब्द को पत्रिका का अर्थ मिला।[1] इस प्रकार भण्डार वाचक शब्द केवल सूचनाओं के भण्डार के अर्थ में सीमित हो गया।

संस्कृत धान्य शब्द का मूल अर्थ अनाज है। हिन्दी में धनधान्य आदि शब्दों में धान्य का अन्न अर्थ अब भी निहित है। कुछ अन्य भारतीय भाषाओं में भी धान्य शब्द विविध रूपों में अनाज अर्थ में मिलता है।[2] लेकिन संस्कृत में ही कालान्तर में धान्य शब्द चावल सम्बन्धी अर्थ में सीमित हो गया।

कीथ और मैकडॉनल के अनुसार ऋग्वेद में[3] यव शब्द केवल जौ का वाचक नहीं बल्कि अन्न-मात्र का वाचक है। परवर्ती संस्कृत में ही इसका अर्थ जौ हो गया। ऋग्वेद में सिन्धु शब्द नदी-मात्र का वाचक है, जैसे 'अवासृजत् सर्तवे सप्त सिन्धून्'[4] (सात नदियों को बहने के लिए छोड़ा)। लेकिन कालान्तर में यह नदी विशेष के अर्थ में सीमित हो गया।

इंग्लैंड से हमारा अधिक सम्बन्ध रहने के कारण हमारे यहाँ विदेश-वाचक विलायत शब्द शायद अब भी इंग्लैंड वाचक ही है। अमरीका शब्द भी अमरीका के एक देश यू० एस० ए० की प्रभुता के कारण उसी के अर्थ में रूढ हो चला है। 'सब प्रकार के नामकरण अर्थसंकोच के उदाहरण हैं। प्रत्येक संज्ञा अपने यौगिक अर्थ के अनुसार बहुत व्यापक अर्थ का बोध कराती है, यदि व्यापक अर्थ ग्रहण किया जाय तो कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसको कि ऐसा नाम दिया जा सके जो अव्याप्ति और अति-

१. The Tree of Language—Page 163-164.
२. व्यवहार कोश--पृष्ठ २–३।
३. वेदिक इण्डेक्स (यव)।
४. ऋग्वेद, २। १२। १२।

व्याप्ति से रहित हो सके। इस प्रकार व्यवहार भी असंभव हो जायेगा। अतएव नामकरण के मूल में ही अर्थसंकोच है।'[1]

भाषा में अर्थविस्तार की प्रवृत्ति जहाँ मनुष्य-स्वभावजन्य है वहाँ अर्थसंकोच की प्रवृत्ति उसके विवेक से उद्भूत होती है। इसलिए अर्थविस्तार की स्वाभाविक प्रवृत्ति के विपरीत यह एक कृत्रिम प्रवृत्ति है। लेकिन इसके बिना असंदिग्ध अर्थबोध होना सम्भव नहीं है। सभ्यताओं के विकास के साथ-साथ यह प्रवृत्ति बढ़ती जाती है और जो भाषा जितनी विकसित सभ्यता की भाषा होती है, अर्थसंकोच के उदाहरण उसमें उतने ही अधिक होते हैं। अर्थ को संकुचित करके वस्तुतः अनिश्चितता का निवारण किया जाता है। आरम्भ में गमनशीलता के कारण संस्कृत में पृथ्वी को गौ कहा गया होगा। फिर इस शब्द के अर्थ में विस्तार हुआ। गमनशीलता के साधर्म्यवश गाय को और फिर वाणी को भी गौ संज्ञा प्राप्त हुई। स्पष्टतः गो शब्द के इन अर्थगत विकल्पों के कारण अनिश्चितता उत्पन्न हुई होगी। फलस्वरूप संस्कृत भाषाभाषियों ने इस शब्द को गाय के अर्थ में रूढ़ कर दिया। 'गच्छतीति गौः' का व्युत्पत्यर्थ भुला दिया गया। अब गाय को गौ इसलिए नहीं कहते कि वह गमनशील है बल्कि इसलिए कहते हैं कि उसे गौ कहते हैं। वह जब गमनक्रिया नहीं करती तब भी गौ ही है और अन्य प्राणी जो गमनक्रिया करते हैं गौ नहीं हैं। संस्कृत भाषाभाषी यदि गो शब्द के अर्थ में यह संकोच नहीं लाते तो उन्हें सुनिश्चित अर्थ को प्रेषित करने में कठिनाइयाँ हो सकती थीं। इसी प्रकार धेनु शब्द के अर्थ को भी संकुचित किया गया। पुण्यराज ने लिखा है कि धेनु शब्द आरम्भ में दूध देने वाले पशु मात्र का बोधक था। कालान्तर में दुधारू गाय या गाय के अर्थ में सीमित हो गया। अनिश्चितता-निवारण के इसी दृष्टिकोण ने जानवर मात्र के वाचक पशु शब्द को तमिल, मलयालम[2] में गाय के अर्थ में और असमिया में (पहु, पोहु)[3] हिरन के अर्थ में संकुचित कर दिया।

३. **अर्थादेश**—जब नवागन्तुक अर्थ प्राचीन अर्थ से भिन्न होता है तब ऐसे परिवर्तन को अर्थादेश कहते हैं। अर्थादेश में प्राचीन अर्थ का आदेश द्वारा लोप हो जाता है। अर्थादेश की प्रक्रिया दो रूपों में घटित हो सकती है—नया अर्थ प्राचीन

१. **अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन—पृष्ठ १०३ ।**
२. **भारतीय व्यवहार कोश, पृष्ठ ७३।**
३. **वही, पृष्ठ ७५ ।**

अर्थ से ही विकसित हो सकता है, या वह प्रयोक्ताओं की किसी विशेष तात्कालिक मानसिक प्रतिक्रिया या भ्रान्ति के कारण सर्वथा बाहर से आकर शब्द से संयुक्त हो सकता है। उदाहरण के लिए संस्कृत दुहिता शब्द का अर्थ था दुहने वाली। सम्भवत: गायों को दुहने का कार्य कन्याएँ करती रही होंगी। फलस्वरूप दुहिता शब्द का अर्थ हो गया कन्या। अंग्रेजी के लेडी शब्द का मूल अर्थ था रोटी बनाने वाली। चूँकि रोटी बनाने का कार्य मुख्यत: स्त्रियाँ ही करती थीं, इसलिए लेडी शब्द स्त्री-मात्र के लिए प्रयुक्त होने लगा। यहाँ नया अर्थ भिन्न-क्षेत्रीय होते हुए भी पुराने अर्थ से ही विकसित हुआ है। इसके विपरीत असुर शब्द का संस्कृत में देवता से परिवर्तित होकर राक्षस अर्थ प्रयोक्ताओं की विशेष मानसिक स्थिति का परिणाम है। ऋग्वेद की आरम्भिक ऋचाओं में असुर शब्द देवतावाचक है। किन्तु सम्भवत: पारसियों से सम्बन्ध अच्छे न रह जाने के कारण भारतीय आर्यों ने असुर शब्द को, जो पारसियों के प्रधान देवता (अहुर मज्दा) का वाचक था, राक्षस के अर्थ में प्रचलित कर लिया। कुछ भारतीय विश्वविद्यालयीन छात्रावासों में भारतीय परतंत्रता के समय इंग्लैंड शब्द का प्रयोग शौचालय के अर्थ में होता रहा है। परवर्ती कालों में इसी अर्थ में भारतीय गणतंत्र के कुछ शत्रु देशों का नाम भी प्रयुक्त हुआ है। इन उदाहरणों में नया अर्थ असुर या इंग्लैंड आदि शब्दों से ही विकसित नहीं हुआ है। वह प्रयोक्ताओं की विशेष मानसिक प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उक्त शब्दों के साथ जुड़ गया है।

अर्थविस्तार में पुराने अर्थ की तुलना में नये अर्थ का क्षेत्र या वृत्त विस्तृत होने पर भी उसमें पुराने अर्थ का क्षेत्र या वृत्त समाहित रहता है। अर्थसंकोच में पुराने की तुलना में नये अर्थ का क्षेत्र या वृत्त सीमित या संकुचित होता है। किन्तु नये अर्थ का क्षेत्र या वृत्त प्राचीन अर्थ के क्षेत्र या वृत्त में कहीं स्थित होता है। इसके विपरीत अर्थादेश में क्षेत्र ही बदल जाता है और जैसा कि हम कह चुके हैं यह क्षेत्र-परिवर्तन की प्रक्रिया दो रूपों में घटित हो सकती है। इन चार स्थितियों को वृत्तों की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है—

१. दुहिता—यद्वा दोग्धि गाः इति, पुराकाले कन्यासु एव गोदोहनभार-स्थितेस्तथात्वम् ।

—हलायुधकोश; संपादक जयशङ्कर जोशी, शकाब्द १८७६, पृष्ठ ३५६ ।

अर्थ विस्तार

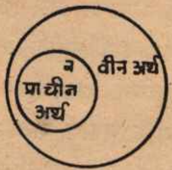

१

अर्थ संकोच

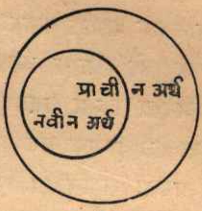

२

अर्थादेश

प्रथम रूप

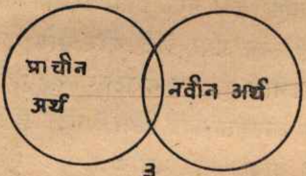

३

द्वितीय रूप

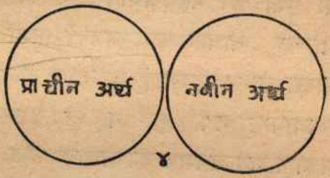

४

इनमें से १ और २ के विरुद्ध किसी शंका को स्थान नहीं दिया जा सकता। लेकिन ३ वस्तुतः अर्थादेश न होकर अर्थविस्तार या अर्थसंकोच का ही एक विकसित रूप है। एक ओर १ और २ तथा दूसरी ओर ३ में यदि कोई अन्तर है तो वह मात्रा का है। नवीन अर्थ का वृत्त प्राचीन से सम्बद्ध होते हुए भी बाहर को जा निकला है। एक ओर १ और २ तथा दूसरी ओर ३ में केवल मात्रागत अन्तर होने के कारण एक भाषाविज्ञानी जिस उदाहरण को १ या २ के अन्तर्गत रखता है, दूसरा भाषाविज्ञानी उसी को ३ के अन्तर्गत स्वीकार करता है। या उसे अपराध के से स्वर में कहना पड़ता है--'इसे अर्थसंकोच का उदाहरण मान सकते हैं, पर अर्थादेश का उदाहरण मानना ही कदाचित् अधिक उचित होगा।'[1] संस्कृत गृह शब्द का तद्‌भवरूप घर हिन्दी, गुजराती और मराठी में तो मकान का ही वाचक है किन्तु बँगला में उसका एक अर्थ कमरा भी है। बँगला का यह उदाहरण अर्थसंकोच का है या अर्थादेश का? अन्य शताब्दियों की अपेक्षा सत्रहवीं शताब्दी ईसवी में अंग्रेजी में भारतीय भाषाओं से अधिक शब्द ग्रहण किये गये। इस शताब्दी में इंग्लैण्ड में बंगाल शब्द का प्रयोग

१. भाषाविज्ञान--भोलानाथ तिवारी, १९६६, पृष्ठ २२९।

बंगाल से आयातित पदार्थों के अर्थ में होता था।[1] यह उदाहरण किस वर्ग के अन्तर्गत रखा जायेगा? यदि पहला उदाहरण मात्र इसलिए अर्थसंकोच का है कि मकान की अपेक्षा कमरा संकुचित क्षेत्र है और वह मकान का ही एक अंग होता है तो इसी कारण दूसरा उदाहरण अर्थसंकोच का क्यों नहीं है? बंगाल प्रान्त की अपेक्षा किसी बंगाल प्रान्तीय पदार्थ का क्षेत्र संकुचित होता है और वह बंगाल प्रान्त का ही एक अंग होता है। इंग्लैण्ड में मलाबार और मद्रास शब्द (सम्भवत: इन्हीं प्रदेशों से निर्यात किये गये) रूमालों के प्रकारों के लिए प्रचलित थे।[2] ये उदाहरण भी क्या अर्थसंकोच के नहीं हैं? मौन शब्द मुनि से बना है। मुनि का आचरण मौन कहलाता था। वे लोग शान्त्यर्थ मौन (चुप) रहते थे, इसलिए उनकी चुप्पी के लिए मौन शब्द का प्रयोग होने लगा। अब सबकी चुप्पी के लिए इसका प्रयोग होता है। भाषाविज्ञान के ग्रन्थों में[3] यह उदाहरण अर्थादेश के अन्तर्गत दिया गया है। यह अर्थविस्तार का उदाहरण क्यों नहीं है? क्या इसमें विशेष की चुप्पी का वाचक शब्द सबकी चुप्पी का वाचक नहीं बन गया है? और यदि यह अर्थादेश का उदाहरण है तो 'गंगा एक विशिष्ट नदी का नाम है, पर मराठी में यह नदी का पर्याय हो गया है,[4] यह उदाहरण अर्थविस्तार के अन्तर्गत क्यों दिया गया है? क्या यहाँ नदी विशेष का वाचक शब्द सब नदियों का वाचक नहीं बन गया है? ऐसे ही प्रश्न कुछ अधिक परिश्रम के साथ हमारे द्वारा अर्थादेश के अन्तर्गत दिये गये दुहिता तथा लेडी शब्द के उदाहरणों के सम्बन्ध में भी किये जा सकते हैं। और यदि ये सब १ या २ के उदाहरण हैं तो फिर ३ के उदाहरण कहाँ हैं? वास्तव में भाषाओं में ऐसे उदाहरण कम ही मिलेंगे जिन्हें निर्णयात्मक स्वर में ३ का उदाहरण कहा जा सके। नीचे जो उदाहरण दिये जा रहे हैं उनमें से भी कुछ के सम्बन्ध में विवाद उठाये जा सकते हैं—

हिन्दी जाँघ शब्द संस्कृत जंघा शब्द से विकसित हुआ है, जिसका मूल अर्थ घुटने और टखने के बीच का अर्थात् घुटने से नीचे का भाग था। तमिल में चंक्रम्,

१. Indian Words in English—S. Subba Rao, 1954, page 62.

२. वही, पृष्ठ वही।

३. भाषाविज्ञान—भोलानाथ तिवारी, १९६६, पृष्ठ २२८।

४. वही, १९६६, पृष्ठ २२६।

तेलगु में जंघा और मलयालम में जंघ शब्दों का अर्थ अब भी घुटने और टखने के बीच का भाग ही है। परवर्ती कालों में वह ऊरु अर्थात् घुटने से ऊपर के भाग के अर्थ में प्रचलित हो गया। हिन्दी के अतिरिक्त गुजराती, बंगला, उड़िया आदि भाषाओं में भी जंघा शब्द जाँघ (ऊरु) अर्थ में प्रचलित है।[१] यहाँ जाँघ शब्द में घुटने से टखने के बीच के भाग का आदेश होकर ऊरु अर्थ आ गया है।

संस्कृत भ्रातृव्य शब्द का मूल अर्थ था भ्राता का पुत्र। आगे चलकर वह शत्रु मात्र के लिए प्रयुक्त होने लगा। राग शब्द का संस्कृत में अर्थ है प्रेम। बंगला तथा मराठी में वह क्रोध के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[२] कभी पड़ोसी राजा को अरि कहा जाता था।[३] बाद में उसका अर्थ शत्रु हो गया।

रोमांस का मूल अर्थ साधारण रोमन लोगों की भाषा है, जो अभिजातवर्गीय भाषा क्लासिकल लैटिन से भिन्न थी। फ्रान्सीसी, स्पेनी और इटैलियन भाषाएँ इसी रोमान्स भाषा से जनमीं। ये भी रोमान्स भाषाएँ कहलायीं। मध्य युग में इनमें अतिशय साहस और प्रेम की कथाएँ लिखी गयीं। आगे चलकर रोमान्स का अर्थ अतिशय साहस और प्रेम हो गया। स्कूल शब्द ग्रीक शब्द Schole से बना है जिसका अर्थ होता है अवकाश। आज उसका अर्थ विद्यालय है।[४] इसी प्रकार Knight का मूल अर्थ नौकर और Nice का मूल अर्थ मूर्ख था।[५] आज इन शब्दों का अर्थ बहादुर और भला है। लैटिन में 'कोक्स' का अर्थ नितम्ब है पर आयरी में तत्सदृश 'कौस' शब्द पैर का बोध कराता है।[६] हिन्दी 'अगला' शब्द कई स्थानों पर 'पिछले' शब्द के अर्थ में प्रचलित है।[७]

१. संस्कृत शब्दों में अर्थपरिवर्तन, पृष्ठ ४४।

२. Elements of Science of Language—Taraporewala, page 83, Third Edition.

३. चारुचन्द्र लेख—हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ४०७।

४. The Tree of Language—Page 185, 187.

५. A Dictionary of Selected Synonyms in the Principal Indo-European Languages. Preface, page viii..

६. भाषा—वान्द्रियज, पृष्ठ २४३।

७. अगले लोग कह गये हैं कि आदमी खो के सीखता है।
—प्रतापनारायण मिश्र, धोखा निबन्ध, अन्तिम अनुच्छेद।

वास्तव में ब्रेआल का वर्गीकरण अर्थविस्तार और अर्थसंकोच तक तो ठीक है; लेकिन अर्थादेश के वर्ग की सीमाएँ अर्थविस्तार और अर्थसंकोच की सीमाओं से सर्वथा अलग नहीं पहचानी जा सकतीं। ब्रेआल के वर्गीकरण की स्थूलता की ओर तो भाषा-विज्ञानियों का ध्यान गया है और इसके स्थान पर सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण भी प्रस्तुत करने के प्रयत्न हुए हैं।[1] जैसे उलमान का आरोप है कि यह वर्गीकरण अर्थ-परिवर्तनों के बाह्य स्वरूप का वर्गीकरण है। इससे विश्लेषित प्रक्रियाओं की पृष्ठभूमि के विषय में कुछ भी पता नहीं चलता। जब हम कहते हैं कि Poisan शब्द का अर्थ संकुचित हो गया है तो हमें वस्तुतः जो कहना चाहिए था वह कहा ही नहीं गया। अर्थापकर्ष उत्पन्न करने वाली मानसिक प्रवृत्तियों, अर्थपरिवर्तन से पूर्व की अवस्थाओं तथा मुख्य कारणों का कोई विवेचन ही नहीं किया गया।[2] लेकिन इस वर्गीकरण के इस अभाव की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है कि इसमें अर्थादेश के वर्ग की सीमाएँ अर्थ-विस्तार और अर्थसंकोच के वर्गों की सीमाओं से सर्वथा अलग नहीं पहचानी जा सकतीं। फिर भी अर्थविस्तार और अर्थसंकोच के वर्गों की स्पष्टता तथा अपनी सरलता के कारण ब्रेआल का वर्गीकरण अर्थविज्ञान के क्षेत्र में सबसे अधिक लोकप्रिय वर्गीकरण है।

जिसे हमने अर्थादेश की प्रक्रिया का दूसरा रूप कहा है उसके अन्तर्गत आये उदाहरणों में पहले रूप की तरह वर्गविभाजन की अस्पष्टताएँ नहीं होतीं। ये उदाहरण स्पष्टतः अर्थादेश के होते हैं। क्योंकि इनमें प्राचीन अर्थ का स्थान सर्वथा नया अर्थ ले बैठता है। इस नये अर्थ के विकास के तत्व या सम्भावनाएँ प्राचीन अर्थ में नहीं होतीं। इसलिए नये अर्थ के प्राचीन अर्थ से संकोच या विस्तार के आधार पर कोई सम्बन्ध होने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह अर्थ प्राचीन अर्थ के परिवेश से जन्म नहीं लेता बल्कि उसके बाहर कहीं से आता है। उदाहरण के लिए असुर शब्द के अर्थ देवता में ऐसा कोई तत्व नहीं था कि उसका अर्थ राक्षस हो जाता। इसी प्रकार इंग्लैण्ड शब्द के अर्थ में भी ऐसा कोई तत्व नहीं है कि उसका अर्थ बदलकर वह हो जाता जिसकी ओर हम संकेत कर चुके हैं।

१. **जी० स्टेर्न** (G. Stern) **का** Empirical Classification (**अनुभवाश्रित वर्गीकरण**) **तथा एस० उलमान का** Functional Classification (**व्यावहारिक वर्गीकरण**)।

२. Words and Their use, Chapter 3—S. Ullamann.

अशोक को 'देवानां प्रिय' कहा जाता था जिसका अर्थ कालान्तर में सम्भवतः धार्मिक प्रतिक्रियाओं के कारण मूर्ख हो गया। यहाँ भी 'देवानां प्रिय' के अर्थ में ऐसे कोई तत्व नहीं हैं कि इस शब्द का अर्थ मूर्ख हो जाता। यही बात बौद्ध (बौद्ध धर्मानुयायी) शब्द से विकसित बुद्धू शब्द के अर्थ के बारे में भी कही जा सकती है।

ऊपर दिये गये वृत्त १ और २ में प्राचीन अर्थ की कुछ न कुछ प्रतीतियाँ या चिह्न नये अर्थ में भी मिलते हैं। वृत्त ३ में ये इतनी स्पष्टता के साथ नहीं मिलते और ४ में बिल्कुल नहीं मिलते। वृत्त १, २, ३ में मकान का स्वामित्व जैसे पुत्र को जाता है, जो सम्मानजनक या असम्मानजनक कुछ न कुछ स्थान वृद्ध पिता को देकर उन्हें मकान के किसी कोने या कमरे में पड़ा रहने देता है। लेकिन वृत्त ४ में मकान का स्वामित्व बाहरी व्यक्ति को प्राप्त होता है जिसे मकान खाली मिलना ही चाहिए।

अर्थपरिवर्तन का एक और भी आयाम है। यह आयाम अर्थ के उत्कर्ष-अपकर्ष का है। प्राचीन अर्थ के विस्तार, संकोच या आदेश से जो नया अर्थ शब्द को प्राप्त होता है वह प्राचीन की अपेक्षा उत्कर्षयुक्त है या अपकर्षयुक्त; इस दृष्टि से भी अर्थपरिवर्तन को देखा जा सकता है। यह दृष्टिकोण प्राचीन अर्थ की तुलना में नये अर्थ की उन्नति-अवनति या श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता पर विचार करने का दृष्टिकोण है। प्राचीन अर्थ के स्थान पर आया हुआ नया अर्थ प्राचीन की तुलना में उक्त दो रूपों में से कोई एक रूप ले सकता है—वह उत्कर्षयुक्त, उन्नत और श्रेष्ठ हो सकता है या अपकर्षयुक्त, अवनत और हीन हो सकता है।

१. **अर्थोत्कर्ष**—कभी-कभी शब्द के प्राचीन अर्थ में परिवर्तन से जो नया अर्थ उसे प्राप्त होता है वह प्राचीन अर्थ की अपेक्षा अधिक उन्नत होता है। यही अर्थ का उत्कर्ष है। जैसे—

संस्कृत में साहस शब्द का प्रयोग अधिकांशतः लूट, हत्या, व्यभिचार आदि के अर्थ में हुआ है। बृहस्पतिस्मृति साहस के चार प्रकारों का वर्णन करती है—

मनुष्यमारणं चौर्यं परदाराभिमर्शनम् ।
पारुष्यमुभयं चेति साहसं स्याच्चतुर्विधिम् ॥

धर्मग्रन्थों ने साहस को दण्डविधि (Criminal law) का महान् अपराध बताया है। हिन्दी में साहस शब्द सम्पूर्णतः 'हिम्मत' का वाचक हो गया है। आज साहसी

होना प्रशंसा की बात है। स्पष्ट है कि इस शब्द का नया अर्थ प्राचीन अर्थ की तुलना में उन्नत है।

यास्क ने कक्ष शब्द के सम्बन्ध में कहा है कि आरम्भ में यह अश्व के कक्ष का बोधक था।[1] बाद में अर्थविस्तार हो गया और यह मनुष्य के कक्ष के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। यह नया अर्थ प्राचीन की तुलना में उन्नत अर्थ कहा जा सकता है। गोष्ठ शब्द का अर्थ गायों के रहने के स्थान से 'रहने मात्र के स्थान' में परिवर्तित होकर उत्कर्षित ही हुआ है। मनुष्य के रहने के स्थान के लिए भी इसका प्रयोग किया जा सकता है। कविगोष्ठी, साहित्यगोष्टी, पत्रकारगोष्ठी आदि में यह प्रयोग हो ही रहा है। इसी प्रकार पुंगव शब्द का अर्थ था बैल। अब वह श्रेष्ठतावाचक है। नरपुंगव में श्रेष्ठतावाचक अर्थ ही है। संस्कृत प्रणाली शब्द का अर्थ नाली अथवा पतनाला है। हिन्दी में इसका तद्भव रूप पनाली अब भी नाली अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। किन्तु तत्सम प्रणाली शब्द रीति या पद्धति के रूप में प्रचलित है। शिक्षाप्रणाली, कार्यप्रणाली आदि प्रयोगों में प्रणाली शब्द के मूल अर्थ की अपेक्षा नये अर्थ का उत्कर्ष देखा जा सकता है।

अंग्रेजी का मार्शल (marshall) शब्द ट्यूटॉनिक भाषा का शब्द है जो प्राचीन उच्च जर्मन भाषा से फान्सीसी भाषा में पहुँचा। इसका मूल अर्थ था (mar = घोड़ा + shal = नौकर) घोड़े की सेवा के लिए रखा गया नौकर। आजकल एयर मार्शल, फील्ड मार्शल आदि के रूप में इसका जो प्रयोग हो रहा है उसमें इसके नये अर्थ का उत्कर्ष स्वतः स्पष्ट है।

Cricket शब्द की व्युत्पत्ति फान्सीसी लकड़ी-अर्थक शब्द Criquet से है। आज जिस खेल का वाचक यह शब्द बना हुआ है उसका विवरण तक हजारों लोगों की भूख प्यास भुला देता है। इसी प्रकार Knight तथा Nice शब्दों में भी अर्थोत्कर्ष हुआ है। तारघर के सन्दर्भ में प्रयुक्त wire शब्द भी अर्थोत्कर्ष का उदाहरण है।

अर्थापकर्ष—शब्द के प्राचीन अर्थ की तुलना में यदि नवागत अर्थ हीन, अश्रेष्ठ या अवनत हुआ तो यह अर्थ का अपकर्ष है। जैसे–

वेद में कवि शब्द का अर्थ था क्रान्तदर्शी। यजुर्वेद में कवि को मनीषी, परिभू, स्वयम्भू कहा गया है।[2] परन्तु संस्कृत में इसका अर्थ छन्दकार या पद्यकार

१ **निरुक्तसम्मर्शं, पृष्ठ ७५, २।२ ।**

२. **यजुर्वेद ४०।८, यजुर्वेदभाष्य, चतुर्थ भाग, दयानन्द सरस्वती, संवत् २०१८, पृष्ठ २८५।**

रह गया। हिन्दी में 'अच्छा, तो आप कवि हैं' जैसे वाक्यों में कवि शब्द का अर्थ और अपकर्षित हो रहा है। वाक्य सुनकर लगता है, जैसे कहा जा रहा हो कि आप नितान्त गैरजिम्मेवार व्यक्ति हैं। भ्रातृव्य शब्द का अर्थ भाई के पुत्र से गिरकर शत्रु हो जाना भी अर्थ का अपकर्ष ही है। संस्कृत में घृणा शब्द का प्रयोग प्रायः दया अथवा अनुकम्पा के अर्थ में हुआ है। धीरे-धीरे संस्कृत में ही वह नफरत का वाचक बन गया। हिन्दी में भी उसका प्रयोग इसी अर्थ में होता है।

जो० वान्द्रियैज़ के अनुसार अंग्रेजी Silly शब्द का मूल अर्थ था शान्त, अनाक्रामक।[1] आज जिस अर्थ में उसका प्रयोग हो रहा है उससे उसके अर्थ की अपकर्षता स्पष्ट है। भारतवर्ष से इंग्लैण्ड गयें हुए बीबी शब्द का वहाँ पर निम्नवर्गीय महिलाओं के अर्थ में प्रयोग[2] भी अर्थ की अपकर्षता ही सूचित करता है। गँवार शब्द जो गाँव के रहने वाले—ग्रामीण का वाचक था मूर्ख का वाचक बन गया है।

अनेक शब्दों के अर्थपरिवर्तनों पर उत्कर्ष-अपकर्ष की दृष्टि से विचार किया जा सकता है। लेकिन बहुत से अर्थपरिवर्तनों के लिए यह दृष्टि व्यर्थ है। उदाहरण के लिए तमिल तथा मलयालम में क्रमशः पसु तथा पशु शब्द गाय अर्थ के वाचक हैं। जानवर मात्र से एक जानवर गाय का वाचक बन जाना शब्द के अर्थ का उत्कर्ष है या अपकर्ष? अर्थ श्रेष्ठ हो गया या हीन? यदि यह अर्थ का अपकर्ष है क्योंकि पशु शब्द एक सीमित अर्थ का बोध कराने लगा है, तो यह बात तो अर्थसंकोच के अन्तर्गत ही कही जा सकती है। फिर अर्थसंकोच और अर्थापकर्ष की कसौटी में अन्तर ही क्या रहा? संस्कृत में कल्य और परश्वः शब्द क्रमशः आनेवाले कल और परसों के लिए प्रयुक्त होते हैं। हिन्दी में इनके तद्भव शब्द कल तथा परसों आनेवाले और बीते हुए दोनों ही कल तथा परसों का बोध कराते हैं। यह अर्थ का उत्कर्ष है या अपकर्ष। यदि इसे अर्थ का उत्कर्ष कहते हैं क्योंकि प्राचीन अर्थ की तुलना में नया अर्थ अधिक व्यापक है, तो यह तो अर्थविस्तार का विवेच्य विषय हो गया। अर्थोत्कर्ष के अन्तर्गत इस पर विचार करने की आवश्यकता ही क्या है? इसीलिए हमने कहा कि उत्कर्ष—अपकर्ष की कसौटी पर सभी अर्थपरिवर्तनों को कसना सम्भव नहीं होता। संसार के सभी पदार्थों में श्रेष्ठताओं के क्रम विद्यमान नहीं हैं और न ऐसे ही किन्हीं अन्य आधारों पर उनमें वर्गभेद ही किये

१. Language—Page 207.

२. Indian words in English—Page 65.

जा सकते हैं। कोई शब्द मेज-वाचक से कुर्सी-वाचक या कुर्सी-वाचक से पलंग-वाचक हो जाय तो हम इन परिवर्तनों में उत्कर्षता-अपकर्षता का निर्णय कैसे करेंगे?

जिन अर्थपरिवर्तनों में उत्कर्ष-अपकर्ष का निर्णय करना सम्भव हो उनमें भी यह निर्णय प्रयोक्ताओं की समाज-व्यवस्था तथा नैतिक मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में ही किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि यू० एस० ए० की भाषा में श्रमिक का बोध कराने वाला कोई शब्द साहूकार का बोध कराने लगे तो यह अर्थोत्कर्ष का उदाहरण है। लेकिन यदि इसी प्रकार का अर्थपरिवर्तन रूसी भाषा में घटित हो तो वहाँ इसे अर्थोत्कर्ष का उदाहरण कहना कठिन होगा। जड़ पदार्थों या पशुओं से सम्बन्धित कार्यों, अंगों या भावों का बोध कराने वाले शब्द जब मनुष्य से सम्बन्धित कार्यों, अंगों या भावों का बोध कराने लगते हैं तो वे अर्थोत्कर्ष के अन्तर्गत आते हैं। इसी प्रकार किन्हीं भाषाभाषियों की दृष्टि में जो कार्य, अंग या भाव बुरे या हीन हैं उनके बोधक शब्द जब उन भाषा-भाषियों की दृष्टि में अच्छे या श्रेष्ठ कार्यों, अंगों या भावों का बोध कराने लगते हैं तो वे भी अर्थोत्कर्ष के उदाहरण हैं। इन दोनों से ठीक विपरीत स्थिति अर्थापकर्ष में होती है।

अर्थविस्तार, अर्थसंकोच या अर्थादेश के रूप में शब्दों का अर्थ परिवर्तित हो जाने के पूर्व ही अर्थोत्कर्ष या अर्थापकर्ष की शक्तियाँ सक्रिय रहती हैं। इसलिए उत्कर्ष-अपकर्ष की दृष्टि से अर्थ का अध्ययन उसके बदल चुकने के बाद ही नहीं, बदलने की प्रक्रिया में भी किया जाता है। अर्थपरिवर्तन के विस्तार, संकोच या आदेश की दिशा स्पष्ट नहीं हो पाती, लेकिन उसका उत्कर्ष-अपकर्ष स्पष्ट झलकता है। उदाहरण के लिए नेता, सरदार आदि शब्दों का अर्थ अब भी नेता और सरदार ही है। विस्तार, संकोच या आदेश की दृष्टि से इनमें अभी भी परिवर्तन होना शेष है। लेकिन इनके अर्थ का अपकर्ष स्पष्ट व्यंजित होने लगा है। नेता शब्द के अर्थ में गाँधी, जवाहरलाल और नेताजी के समय की गरिमा या उत्कृष्टता अब नहीं है। इसी प्रकार सरदार भगतसिंह और सरदार पटेल के समय सरदार शब्द के अर्थ में जो ऊँचाई थी वह अब उसमें कहाँ है? यही स्थिति हिन्दी में सेठ, बाबू, ब्रह्मचारी, बहिनजी, साधु, महन्त, पूजा, मन्दिर, मठ, मठाधीश, भक्ति, प्रेम, कविता, कविसम्मेलन, अध्यापक, विद्यार्थी, सभा, जुलूस आदि शब्दों की भी हुई है। इनमें से कुछ ने स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरान्त, कुछ ने और पूर्व से और कुछ ने अभी हाल में ही अपना उत्कर्ष खो दिया है। प्रेम का अर्थापकर्ष तो काव्य-पंक्तियों में भी सूचित किया जाने लगा है।[1] इसके विपरीत बन्दीगृह, प्रधान

१. **प्यार शब्द घिसते घिसते चपटा हो गया है। अब हमारी समझ में**

मंत्री, भारतीय सेना, देश की सीमाएँ, योजना, विकास आदि शब्दों में से प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम के दिनों में और शेष स्वतंत्रता के उपरान्त अर्थ की दृष्टि से उत्कर्षित हुए हैं। इन शब्दों के अर्थ अभी इस तरह परिवर्तित नहीं हुए हैं कि उन्हें ब्रेआल के वर्गीकरण में किसी वर्ग के अन्तर्गत सुविधापूर्वक रखा जा सके। लेकिन उनके सम्बन्ध में उत्कर्ष-अपकर्ष का निर्णय बहुत सुविधापूर्वक किया जा सकता है। वास्तव में शब्द के अर्थ को उत्कर्ष या अपकर्ष शब्द द्वारा सूचित पदार्थों के प्रति जनमानस की भावनात्मक प्रतिक्रियाओं के कारण प्राप्त होता है। और चूँकि ये प्रतिक्रियाएँ तात्कालिक और अविलम्ब होती हैं इसलिए शब्द के अर्थपरिवर्तन का उत्कर्ष-अपकर्ष शीघ्र निर्णीत किया जा सकता है। इसके विपरीत शब्दों में विस्तार, संकोच या आदेश की प्रक्रियाएँ शीघ्र घटित नहीं हो पातीं। क्योंकि इसके लिए उन शब्दों द्वारा सूचित पदार्थों के प्रति जनमानस की भावनाओं में स्थायी परिवर्तन, उन शब्दों का नये अर्थों में बराबर प्रयोग और प्रचलन आवश्यक होता है। फिर शब्द का पुराना अर्थ भी आसानी से नहीं हटता। नये अर्थ को जमने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। कुल शब्द का मूल अर्थ वृक्ष सभी भारतीय आर्य भाषाओं से कभी का हट चुका है। लेकिन कश्मीरी में वह इतने वर्षों बाद भी सुरक्षित है। जैसे—दाँ कुल्, अर्थात् धान का पौधा। इसलिए अर्थ के उत्कर्ष-अपकर्ष की प्रवृत्ति को जहाँ तात्कालिक और क्षिप्रगामी प्रवृत्ति कहा जा सकता है, वहाँ उसके विस्तार, संकोच या आदेश की प्रवृत्ति को समयसाध्य तथा मन्दगामी प्रवृत्ति कहना ही उचित होगा।

तारापुरवाला ने[1] टकर के आधार पर अर्थपरिवर्तन के निम्नलिखित कारणों का विवेचन किया है—

१—आलंकारिक प्रयोग

२—परिवेश का परिवर्तन

सहवास' आता है।—ममता अग्रवाल, क ख ग, जुलाई १९६५, पृष्ठ ७७।

1. Elements of Science of Language— Page 90.

(क) भौगोलिक
(ख) सामाजिक
(ग) भौतिक

३—विनम्रता-प्रदर्शन

४—शोभन शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति

(क) व्रीडा
(ख) जुगुप्सा
(ग) अमंगल
(घ) अन्धविश्वास

५—व्यंग्य

६—मात्रात्मक बल

७—सामान्य के लिए विशेष का प्रयोग

८—अज्ञान अथवा भ्रान्ति

९—शब्द में अर्थ की पूर्ण निश्चितता का अभाव

१०—अर्थसम्बन्धी व्यक्तिगत प्रत्यय (Concepts)

११—शब्दार्थ के एक तत्व की प्रमुखता

१२—गौण अर्थ की प्रमुखता

इनमें से १ को अलंकार-प्रयोग के स्थान पर सादृश्य की संज्ञा देना उचित है, क्योंकि अर्थपरिवर्तन में मुख्य रूप से उपमा या रूपक अलंकारों का योग होता है और ये दोनों ही अलंकार सादृश्यधर्मी हैं। सादृश्य शीर्षक अलंकार शीर्षक की अपेक्षा अपनी व्यापकता के कारण उन परिवर्तनों को भी समाहित कर लेता है जिनके पीछे अलंकार-तत्व स्पष्ट नहीं हैं। ७, ९, १०, ११ और १२ पाँचों ही साहचर्य के कारण हुए परिवर्तनों को संकेतित करते हैं। इसलिए इन्हें एक ही शीर्षक के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

भाषाविज्ञान के अनेक ग्रन्थों में अर्थपरिवर्तन के कुछ और कारण (उक्त कारणों के अतिरिक्त) भी गिनाये गये हैं। जैसे—

१—पीढ़ी परिवर्तन।[1]

1. भाषाविज्ञान—भोलानाथ तिवारी, १९६६, पृष्ठ २३२।
भाषाशास्त्रप्रवेशिका—अमरबहादुर सिंह, पृष्ठ ३६८।

२—एक भाषाभाषी लोगों का तितर-बितर होकर विकसित होना।[1]

३—नवीन वस्तुओं का निर्माण तथा प्रचलन।[2]

४—पुनरावृत्ति।[3]

५—विभाषा से शब्दों का उधार लेना।[4]

६—तत्सम शब्द के तद्भव हो जाने के कारण भी अर्थपरिवर्तन होता है।[5]

पीढ़ीपरिवर्तन अर्थपरिवर्तन का कोई कारण नहीं है। पत्र शब्द का अर्थ पत्ते के स्थान पर 'जिस पर लिखा जाता है' इसलिए नहीं हो गया कि पीढ़ीपरिवर्तन हो गया था; बल्कि इसलिए हो गया कि पत्रों (पत्तों) के लेखन के उपयोग में आने लगने के कारण उनके मूल अर्थ के साथ एक अन्य भाव आ जुड़ा—जिस पर लिखा जाय। धीरे-धीरे यह गौण भाव मुख्य बन गया और चूँकि पत्रों पर मुख्य रूप से सन्देश-लेखन का कार्य किया गया होगा, इसलिए पत्र का अर्थ चिट्ठी हो गया। अब यह 'जिस पर लिखा जाता है' का सूचक नहीं बल्कि 'सन्देश के रूप में जो कुछ लिखा जाता है' का सूचक बन गया है। 'पत्र बहुत करुण है' में कथ्य के करुण होने का संकेत है। सन्देश या कथ्य से रहित को पत्र नहीं कागज कहा जायगा, जो बिहारी के असाधारण नायक की दृष्टि में ही पत्र हो सकता है।[6] पत्र शब्द के अर्थ में जो परिवर्तन हुए हैं वे अन्य सब परिस्थितियाँ समान रहने पर तब भी होते जब कि पीढ़ी का परिवर्तन न हुआ होता और एक ही पीढ़ी बहुत लम्बे समय तक जीवित रहती। पीढ़ी-परिवर्तन से जो एक अन्य आशय लिया जा सकता है वह परिवेश के परिवर्तन का है। पीढ़ी का बदलना समय का यापन है और समय का यापन नये भावों तथा द्रव्यों को

१. भाषाविज्ञान—भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ २३४, १९६९।
२. वही, पृष्ठ २३५, १९६९।
३. वही, पृष्ठ २४१, १९६९।
४. वही, पृष्ठ २३३ तथा भाषाशास्त्र प्रवेशिका—अमरबहादुर सिंह, पृष्ठ ३६८।
५. अर्थतत्व की भूमिका—शिवनाथ, पृष्ठ १७३।
६. विरह विकल बिनु ही लिखी, पाती दई पठाइ।
आँक बिहूनीयौ सुचित, सूनैं बाँचत जाइ॥
—बिहारी रत्नाकर, ५२६।

मनुष्य के समक्ष लाता है। ये नये भाव और द्रव्य उससे वाणी माँगते हैं। इन्हें वाणी देने की प्रक्रिया में शब्दों के पुराने अर्थ बदलने की स्थिति घटित हो सकती है। पीढ़ीपरिवर्तन और कुछ नहीं परिवेश का परिवर्तन मात्र है। इसलिए उन्हें भिन्न-भिन्न कारण के रूप में गिनाना भ्रान्तियाँ उत्पन्न कर सकता है।

एक भाषाभाषी लोगों का तितर-बितर होकर विकसित होना भी परिवेश-परिवर्तन मात्र है। पीढ़ी-परिवर्तन जहाँ ऐतिहासिक परिवेश के परिवर्तन का सूचक है वहाँ यह ऐतिहासिक और भौगोलिक दोनों ही परिवेशों के परिवर्तन का सूचक है। 'तितर बितर होना, भौगोलिक परिवेश का बदलना है और 'विकसित होना' उक्त भाषाभाषियों का ऐतिहासिक परिवेश के परिवर्तन में से गुजरना है। इसलिए इसे भी परिवेश-परिवर्तन से भिन्न एक कारण कहना कारणों की संख्या को बढ़ाना भर है।

पुनरावृत्ति का जो विवेचन उक्त ग्रन्थों में मिलता है उसके आधार पर यह अज्ञान अथवा भ्रान्ति से भिन्न कोई कारण नहीं है। लेकिन हम समझते हैं कि प्रत्येक पुनरावृत्ति के पीछे भ्रान्ति अथवा अज्ञान ही कारण नहीं होता। कभी-कभी बल देने के लिए भी पुनरावृत्ति का प्रयोग होता है। 'सज्जन व्यक्ति' कहने में अज्ञान ही नहीं कभी-कभी बल देने की प्रवृत्ति भी हो सकती है। इसलिए कारण का नामकरण अज्ञान, भ्रान्ति अथवा बल किया जा सकता है।

विभाषा से शब्दों का उधार लेना अर्थपरिवर्तन का कारण नहीं है। अगर उधार लिये गये शब्दों में अर्थपरिवर्तन होता है तो वह उनमें उनके विभाषा से उधार लिये जाने के कारण नहीं होता बल्कि उन्हीं कारणों से होता है जिनसे स्वभाषा के शब्दों में होता है। विभाषा से शब्दों के उधार लिये जाने को अर्थपरिवर्तन का कारण सिद्ध करते हुए जो प्रमुख उदाहरण दिये गये हैं[१] उनकी परीक्षा कर लेना उचित होगा।

कहा गया है—'फारसी में मुर्ग का अर्थ था पक्षी। मुर्गाबी शब्द में अब भी वह अर्थ सुरक्षित है जिसका अर्थ है 'पानी की चिड़िया।' हिन्दुस्तानी बोलियों में या भाषा में मुर्ग का अर्थ पक्षी न रहकर विशेष पक्षी हो गया।'[२] यदि पक्षी मात्र का वाचक शब्द पक्षी विशेष का वाचक इसलिए हो गया क्योंकि हमने उसे विभाषा से उधार

१. भाषाविज्ञान कोश—भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ ४३, प्रथम संस्करण।
२. भाषाविज्ञान कोश—भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ ४३ ।

लिया था, तो संस्कृत भाषा का पशु मात्र का वाचक शब्द मृग संस्कृत भाषा में ही पशु विशेष का वाचक क्यों बन गया? शाखामृग (बन्दर), मृगधूर्त (गीदड़), पर्णमृग (गिलहरी), मृगेन्द्र (पशुओं का राजा सिंह) आदि संस्कृत शब्दों और मृग (पशु), मृगशास्त्रम्[1] (प्राणिशास्त्र) आदि मलयालम शब्दों में मृग शब्द का पशु-मात्र का वाचक अर्थ अब भी सुरक्षित है। वास्तव में मुर्ग शब्द के एक पक्षी विशेष के अर्थ में रूढ हो जाने के ठीक वही कारण हैं जो मृग शब्द के एक पशु विशेष के अर्थ में रूढ हो जाने के हैं। इसमें विभाषा और स्वभाषा के अन्तर की कोई भूमिका नहीं है।

'अंग्रेजी का क्लाक (clock) शब्द अंग्रेजी में दीवार-घड़ी या घड़ी के लिए प्रयुक्त होता है पर गुजराती में उसका अर्थ घण्टा हो गया है।'[2] यहाँ भी अर्थपरिवर्तन के तत्व क्लाक शब्द के अर्थ में ही हैं। क्लाक के मूल अर्थ के साथ घण्टे (साठ मिनट) का अर्थ भी सहचरित होता है। यह सहचर भाव प्रमुख बन गया और भावसाहचर्य के कारण उक्त अर्थपरिवर्तन घटित हो गया। हिन्दी घण्टा शब्द संस्कृत घड़ियाल (जिसे बजाकर समय सूचित किया जाता है) के वाचक घण्टा शब्द से आया है। संस्कृत में उसका घड़ियाल अर्थ ही है। किन्तु हिन्दी में वह घड़ियाल के अतिरिक्त साठ मिनट के समय सूचक के रूप में भी प्रयुक्त होता है। उसमें 'साठ मिनट का समय' यह अर्थ कैसे आया? तहसील, जेल आदि स्थानों पर साठ मिनट बीतने की सूचना घण्टा (घड़ियाल) बजाकर दी जाती है। क्लाक भी साठ मिनट बीतने की सूचना देती है और घण्टा यानी घड़ियाल भी। जिस प्रकार हिन्दी भाषाभाषियों ने घण्टा शब्द को, जिसका अर्थ समय या साठ मिनट के समय की सूचना देने वाली वस्तु था, साठ मिनट का वाचक बना दिया, उसी प्रकार क्लाक शब्द को, जिसका अर्थ समय या साठ मिनट के समय की सूचना देने वाली वस्तु था, गुजराती भाषा-भाषियों ने साठ मिनट के समय का वाचक बना लिया। शब्द सूचकवाची से सूचित-वाची बन गया।

१. भारतीय व्यवहार कोश—पृष्ठ ११५।

२. Elements of Science of Language— Taraporewala, page 82.

अर्थतत्व की भूमिका—शिवनाथ, पृष्ठ १७३। २०१८।
भाषाविज्ञान कोश—भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ ४३।

'संस्कृत का भक्त या भत्त (भात, पका चावल) अरबी में 'बहत' हो गया है जिसका अर्थ खीर या तस्मई है।'[1] इस अर्थपरिवर्तन में भी विभाषा से शब्द उधार लेना कोई कारण नहीं है। संस्कृत का क्षीर शब्द हिन्दी में खीर हो गया है और उसका अर्थ दूध न होकर खीर या तस्मई है। उक्त अर्थपरिवर्तन और इस अर्थपरिवर्तन में क्या अन्तर है? वास्तव में दोनों ही अर्थपरिवर्तन एक ही प्रक्रिया में घटित हुए हैं।

विभाषा से शब्दों को उधार लेने का कार्य समाज के उच्च वर्ग के व्यक्ति करते हैं जो विभाषा के शब्दार्थों से परिचित होते हैं। वही इन शब्दों को प्रचलन में भी लाते हैं। विभाषा के शब्द प्रचलित होते ही अर्थपरिवर्तन के उन सारे नियमों से नियंत्रित होने लगते हैं जिनसे स्वभाषा के शब्द नियंत्रित होते हैं। इसलिए विभाषा से शब्दों को उधार लेना अर्थपरिवर्तन का कोई कारण नहीं है। यदि कुछ विभाषायी शब्दों को बिना अर्थ समझे हुए किन्हीं सम्पर्कों के कारण प्रयोक्ताओं के द्वारा ग्रहण करके भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है तो यहाँ अर्थपरिवर्तन का कारण अज्ञान या भ्रान्ति है, विभाषा से शब्दों को उधार लिया जाना नहीं।

तत्सम शब्द का तद्भव हो जाना भी अर्थपरिवर्तन का कारण नहीं है। संस्कृत गृह शब्द घर के रूप में तद्भव होकर बँगला में कमरे का बोध इसलिए नहीं कराने लगा कि वह गृह का तद्भव रूप है, बल्कि इसलिए कि घर या गृह शब्द के अर्थ में कमरे का अर्थ भी सदा समाहित रहा है। घर अंगी है, कमरा उसका अंग। अंगी के साथ अंग का मस्तिष्क में आना स्वाभाविक है। इस प्रकार भावसाहचर्य के कारण घर शब्द का अर्थ कमरा हुआ है; घर शब्द के तद्भव होने के कारण नहीं। यहाँ यह स्पष्ट कर दिया जाय कि ग्रन्थकार[2] का आशय यह नहीं है कि यदि भाषा में तत्सम और तद्भव दोनों शब्द एक साथ प्रयोग में हों तो उनमें से एक के साथ भिन्न अर्थ संयुक्त हो जाता है।

आगे के विवेचन के लिए अब तक के विवेचन तथा कुछ अन्य कारणों के समावेश के आधार पर अर्थपरिवर्तन के कारणों की एक पूरी सूची बना लेना उचित होगा। उन शक्तियों का वर्णन हम आरम्भ में ही कर चुके हैं जो शब्द के अर्थ में परिवर्तन की सम्भावनाओं को जन्म देती हैं। नीचे सूची में जो अनेक कारण दिये जा रहे हैं वे उक्त सम्भावनाओं को परिवर्तन का रूप देने के लिए उत्तरदायी होते हैं—

१. भाषाविज्ञान कोश—भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ ४३।

२. शिवनाथ, अर्थतत्व की भूमिका, पृष्ठ १७३।

१—भावसाहचर्य
२—भावसादृश्य
३—परिवेश का परिवर्तन
(क) भौगोलिक (ग) भौतिक
(ख) सामाजिक (घ) ऐतिहासिक
४—विनम्रता प्रदर्शन
५—शोभन शब्दों का प्रयोग
(क) संकोच (घ) अन्धविश्वास
(ख) जुगुप्सा (ङ) लघुता
(ग) अमंगल
६—व्यंग्य
७—भावात्मक बल
८—अज्ञान, भ्रान्ति अथवा बल
९—अधिक शब्दों के स्थान पर एक शब्द
१०—शब्दों का अधिक प्रयोग
११—किसी जाति या राष्ट्र के प्रति मनोभाव
१२—एक वर्ग के एक शब्द में अर्थपरिवर्तन
१३—एक शब्द के दो रूपों का प्रचलन

१—भावसाहचर्य—द्रव्य, पुद्गल या वस्तुओं के अनन्त गुण या धर्म माने गये हैं। इन सारे धर्मों को देख पाना मानव दृष्टि के लिए सम्भव नहीं है। अपने हाथ का ही सामने का भाग अपनी दृष्टि के सामने करके हम उसके पिछले भाग को कहाँ देख पाते हैं? इस प्रकार वस्तु के अनन्त गुणों में से कुछेक गुण ही हम देखते हैं और इन्हीं सीमित दृष्ट गुणों के आधार पर हम उस वस्तु का स्वरूप हृदयंगम करते हैं या उसका मानसचित्र हमारे भीतर निर्मित होता है। फिर जब हम उक्त वस्तु को कोई शब्द या नाम देते हैं तो इस शब्द या नाम में उसके उतने गुण भी नहीं बँध पाते जितने हमने समझ रखे हैं या हमारे मानसचित्र में हैं। इस प्रकार नाना धर्मात्मक वस्तु की तुलना में मानवीय ज्ञानेन्द्रियों की और मानवीय ज्ञानेन्द्रियों की तुलना में शब्द की शक्ति सीमित है। शब्द केवल सुविधा के लिए है। वह वस्तु

का उतना स्वरूप भी सूचित करने में असमर्थ है जितना हमारे मानसलोक में है। फल यह होता है कि शब्द के उच्चारण के साथ ही वक्ता और श्रोता के भीतर उसके द्वारा सूचित वस्तु का मानसचित्र आलोकित हो उठता है। इस चित्र में वस्तु के अनेक स्वरूप हैं। फुटबॉल शब्द के उच्चारण से हमारे मन में केवल एक गेंद का चित्र ही नहीं आता बल्कि उसके साथ ही दौड़ते हुए खिलाड़ी, चिन्तित गोलकीपर, रैफरी, दर्शक आदि के चित्र भी आते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक भाषा के शब्द द्वारा सूचित अर्थ के साथ अन्य अनेक अर्थ या भाव जुड़े हुए हैं। सूक्ष्म भावनाओं के वाचक शब्दों के उच्चारण से ही नहीं स्थूल सत्ताओं के वाचक शब्दों के उच्चारण से भी उनसे सम्बन्धित अनेक भाव और वस्तुएँ बोधित हो जाती हैं। सिपाही शब्द के उच्चारण से उसकी लाल पगड़ी, खाकी पोशाक आदि का चित्र भी मानसपटल पर खिंचता है, मुख्य अर्थ से जुड़े हुए ये अन्य अर्थ, वस्तुएँ या भाव उसके सहचर कहलाते हैं। इन सहचरों के कारण ही ऊपर कहा गया है कि शब्द का अर्थ कोई स्थिर बिन्दु नहीं है वह बदलते आयामों का क्षेत्र है। शब्द में अर्थ की पूर्ण निश्चितता के अभाव के कारण ही[1] उसके अनेक सहचर अर्थ या भाव होते हैं। अर्थ सम्बन्धी व्यक्तिगत प्रत्ययों के कारण[2] इनकी संख्या और बढ़ जाती है। जैसे ब्रह्मचारी शब्द से सूचित अर्थ के अनेक सहचर भाव हैं—उसका चोटीधारी होना, अध्ययनशील होना, खानपान में संयमी होना, तेजवान् होना आदि। किन्तु व्यक्तिगत प्रत्ययों या धारणाओं के कारण उसका श्रद्धेय, अश्रद्धेय, अल्पश्रद्धेय, निष्ठावान्, चरित्रवान्, चरित्रहीन होना आदि भाव उक्त अर्थ के साथ और संयुक्त हो जायेंगे। ये सहचर भाव ही कभी मुख्य बन जाते हैं[3] और शब्द का अर्थ बदल जाता है।

उदाहरण के लिए अंग्रेजी के Silly शब्द का, जैसा कि हम कह चुके हैं, मूल अर्थ था शान्त, मौन, अनाक्रामक। Silent में वह अर्थ अब भी है। भर्तृहरि के 'मौने दैन्यभयम्' के अनुसार Silly शब्द के अर्थ के साथ ही दीन, मूर्ख आदि अर्थ भी मुख्य अर्थ के सहचर बन गये होंगे। कालान्तर में ये सहचर अर्थ प्रमुख हो गये और Silly शब्द का अर्थ साहचर्य के कारण मौन या शान्त से मूर्ख हो गया। अंग्रेजी की क्रिया to starve का प्राचीन अंग्रेजी में अर्थ था मरना। मौत भूख

१. ऊपर तारापुरवाला द्वारा गिनाये गये कारणों में जो कारण ६ है।
२. तारापुरवाला ने जिसे कारण १० कहा है।
३. जिसे तारापुरवाला ने कारण १२ कहा है।

से भी होती है। शायद भूख से अधिक मौतें होने लगी होंगी। इसलिए to starve से सूचित अर्थ के साथ एक अर्थ और वक्ता-श्रोता के मस्तिष्क में आने लगा होगा—भूख से मरना। सोलहवीं शताब्दी में यह सहचर अर्थ प्रमुख हो गया और to starve का अर्थ हो गया भूख से मरना।[१] to disciplin का अंग्रेजी में अर्थ था अनुशासित करना। लेकिन चूँकि अनुशासित करने के लिए कभी-कभी ताड़ना भी आवश्यक होती है, इसलिए to discipline के अर्थ के साथ एक अन्य भाव भी प्रयोक्ताओं के मस्तिष्क में आने लगा होगा—ताड़ना। यह सहचर भाव क्रमशः प्रमुख होता गया। हाल में to discipline का अर्थ हो गया है—ताड़ना, to punish।[२] अंग्रेजी के Knight, Marshall, Nice आदि शब्दों में अर्थपरिवर्तन भी साहचर्य के कारण ही हुआ है।

संस्कृत में धूम शब्द का अर्थ है धुआँ। बहुत अधिक मात्रा में धूम (धुआँ) प्रायः यज्ञ के समारोहों के समय होता था। विवाह के समय भी अधिक मात्रा में धूम होता था। फलस्वरूप धूम शब्द के साथ समारोह, उसकी हलचल और ठाटबाट की कल्पना भी जुड़ गयी। आगे चलकर हिन्दी में धूम शब्द के मूल अर्थ का यह सहचर भाव ही प्रमुख हो गया और धूम का अर्थ हो गया समारोह, हलचल, ठाटबाट।

वैदिक काल में वर्ष को चार-चार महीने के तीन विभागों (ऋतुओं) में विभाजित किया गया था। इन विभागों को पर्व कहा जाता था। इन तीनों ऋतुओं के आरम्भ में विशेष यज्ञों का अनुष्ठान किया जाता था, जिनको क्रमशः वैश्वदेव, वरुणप्रघास और साकमेध कहा जाता था।[३] पर्व अर्थात् ऋतुओं के आरम्भ में अनेक वर्षों तक यज्ञों की परम्परा के कारण पर्व शब्द के मूल अर्थ के साथ यज्ञों, उनके समारोहों और उत्सवों का भाव भी सहचरित होने लगा। कालान्तर में पर्व का अर्थ उक्त यज्ञ और फिर त्यौहार हो गया।

संस्कृत में 'ननान्दा' शब्द का मूल अर्थ है जो आनन्द न दे। परिवारों में आनन्द न देने का कार्य प्रायः ननदों के द्वारा सम्पन्न होते रहने के कारण ननान्दा शब्द के मौलिक अर्थ के साथ ननद या पति की बहिन का भाव भी जुड़ गया। यह सहचर भाव

१. Linguistic Change in Present day English—Charles Barber, Page 110, 1964.

२. वही, पृष्ठ ११८।

३. हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों में अर्थपरिवर्तन—पृष्ठ २६६।

कालान्तर में प्रमुख बन गया और ननान्दा का अर्थ हो गया ननद—पति की बहिन। हिन्दी ननद शब्द इसी का तद्भव रूप है। संस्कृत में दुहिता शब्द का अर्थपरिवर्तन भी साहचर्य के कारण ही हुआ है।

घड़ी वाचक अंग्रेजी शब्द क्लाक (Clock) का गुजराती में कलाक (कलाक्) होकर घण्टा (Hour) वाचक बन जाना साहचर्य के कारण ही है, यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। सिन्धी में भी उक्त अंग्रेजी शब्द कलाकु (कल्लाकु) होकर साहचर्य के कारण ही घण्टा (Hour) वाचक है।

हिन्दी धान शब्द संस्कृत अनाजवाची शब्द धान्य से विकसित हुआ है। उन प्रदेशों में जिनमें धान (Paddy) खूब होता है, धान्य शब्द के उच्चारण के साथ प्रयोक्ताओं की कल्पना के सम्मुख धान (Paddy) ही मुख्य रूप से आता होगा। फलस्वरूप धान्य शब्द के मूल अर्थ के साथ धान (Paddy) अर्थ भी संयुक्त हो गया। कालान्तर में यह सहचरित अर्थ प्रमुख बन गया। यह ध्यान देने की बात है कि धान्य शब्द का धानवाचक अर्थ में परिवर्तन केवल उन्हीं प्रदेशों में हुआ है जिनमें धान बहुतायत से होता है। हिन्दी धान, बंगला धान्, असमिया धान्, उड़िया धान् (धानाँ) एक ही अर्थ Paddy के वाचक हैं। इसके विपरीत पंजाबी में धान (Paddy) के लिए झोना, भुंजी या चोह्ना; सिन्धी में सायूँ, मराठी में भात और गुजराती में डाँगर (डङ्गर) शब्द इस बात के द्योतक हैं कि इन प्रदेशों में धान शब्द के अर्थ के साथ धान (Paddy) का अर्थ संचरित नहीं हुआ। गेहूँ या अन्य अनाजों की तुलना में चावल की कम फसल नें उक्त स्थिति ही नहीं आने दी। मराठी में धान्यें शब्द अब तक अनाजवाचक है। मराठी तथा कन्नड़ में संस्कृत भक्त शब्द से विकसित क्रमशः भात तथा बत्त का धान (Paddy) के अर्थ में प्रयोग भी साहचर्य के द्वारा हुए अर्थपरिवर्तन का द्योतक है।[1]

पशु मात्र के वाचक शब्द मृग का हिन्दी में हरिण के अर्थ में, पशु का मलयालम (पशु) और तमिल (पसु) में गाय के अर्थ में तथा असमिया में (पहु, पोहु) हरिण के अर्थ में प्रयोग भी साहचर्य का परिणाम है। यहाँ सामान्य के वाचक शब्द विशेष के वाचक हो गये हैं। इसी प्रकार साहचर्य के कारण विशेष के वाचक शब्द भी सामान्य के वाचक हो जाते हैं। गायों को पुकारने के वाचक शब्द गोहार में मात्र

१. पर्यायवाची शब्दों की सामग्री, भारतीय व्यवहार कोश के आधार पर।

पुकारने का अर्थ स्वतः सहचरित होता रहा जो कालान्तर में प्रमुख बन गया और 'नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहार' जैसे सैकड़ों उच्चारों में गुहार शब्द पुकार मात्र के अर्थ में भगवान को पुकारने के काम भी आने लगा। गवेषणा में भी गाय को खोजना अर्थ में खोजने का भाव स्वतः सहचरित था जो आगे चल कर प्रमुख बन गया और गवेषणा का अर्थ हो गया खोज। स्याही शब्द मात्र कालेपन का द्योतक नहीं था, उसके साथ लिखने का भाव भी था। कालान्तर में यही अर्थ मुख्य हो गया और स्याही का अर्थ हो गया वह द्रव जिससे लिखा जाय। इसीलिए नीली, लाल, हरी आदि स्याहियाँ काली न होने पर भी स्याही हैं। इस प्रकार सामान्य के लिए विशेष के प्रयोग से होने वाला अर्थपरिर्तन[1] साहचर्य द्वारा होने वाला अर्थ परिवर्तन ही है।

साहचर्य का कारण कभी-कभी बहुत स्थूल ढंग से भी अर्थपरिवर्तन करता है। दो पदार्थों के साथ-साथ रहने पर एक पदार्थ का बोधक शब्द साहचर्य के कारण दूसरे पदार्थ का बोधक हो जाता है। यहाँ अधिक स्पष्टता के लिए साहचर्य के स्थान पर सामीप्य शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु जिस पद्धति से यह कारण कार्य करता है वह मौलिक रूप में साहचर्य की ही पद्धति है। फिर साथ संचरण करने और समीप होने में कोई मौलिक अन्तर भी नहीं है। इसलिए इसे सामीप्य या शब्दार्थ के एक तत्व की प्रमुखता नाम देकर[2] अलग कारण के रूप में प्रस्तुत करना उचित नहीं है। साहचर्य या सामीप्य के कारण ही गाँधी टोपी, लाल कुर्ती, लाल झण्डा, लाल पगड़ी, लाल टोपी, केसरिया टोपी आदि शब्द अपने मुख्यार्थ को त्याग कर क्रमशः कांग्रेसी, सीमान्त गाँधी के दल का, साम्यवादी, सिपाही, संयुक्त समाजवादी, जनसंघी आदि के वाचक बन गये हैं। यहाँ भी इन पोशाकों से उक्त व्यक्तियों का निरन्तर सम्बन्ध रहने के कारण इन पोशाकों के वाचक शब्दों के उच्चारण के साथ ही उक्त व्यक्ति कल्पना में आते रहे। यह अर्थ अभी प्रमुख भले ही न हो पाया हो किन्तु धीरे धीरे प्रमुख हो रहा है और उक्त शब्द फिलहाल उक्त व्यक्तियों का बोध अवश्य करा रहे हैं। मराठी में मेहतर को भंगी के अतिरिक्त झाड़ूवाला, गुजराती में भी भंगी के अतिरिक्त झाड़ूवालो और बंगला में झाड़ुदार कहा जाना भी इसी स्थूल साहचर्य

१. जिसे तारापुरवाला साहचर्य से अलग कारण के रूप में गिनाते हैं। ऊपर उनकी सूची में कारण ७।

२. जैसा तारापुरवाला तथा अन्यान्य भाषाविज्ञानियों ने किया है। ऊपर तारापुरवाला की सूची में कारण ११।

या सामीप्य के कारण है। इसी आधार पर सिन्धी, गुजराती तथा मराठी भाषाओं में हार (माला) की संज्ञा वेणी है।

'मैंने कालिदास को पढ़ा है' में कालिदास का अर्थ कालिदास के ग्रन्थ साहचर्य के कारण ही है। यहाँ कालिदास शब्द का अर्थ ग्रन्थकारवाची से ग्रन्थवाची हो जाना कालिदास और उनके ग्रन्थ इन दोनों भावों के साहचर्य के कारण ही सम्भव हुआ है। 'क्या पंचायत मचा रखी है' और 'हमीं को चकबन्दी पढ़ाते हो' जैसे आधुनिक प्रयोगों में पंचायत तथा चकबन्दी का अर्थ क्रमशः शोर-गुल और झंझट है। यह नया अर्थ साहचर्य के कारण ही विकसित हो रहा है।

२. **सादृश्य**––साहचर्य में शब्द के मौलिक या प्रमुख अर्थ के आसपास कुछ अन्य नन्हें अर्थ उग आते हैं। इनमें से कालान्तर में कोई अर्थ प्रमुख बन जाता है और भूतपूर्व प्रमुख या मौलिक अर्थ या तो नष्ट हो जाता है या गौण बन जाता है। यह स्थिति केले के गाछ के आसपास उसी की जड़ों से फूटे हुए नये अंकुरों की सी है जिनमें से कोई विकसित होकर स्वयं केले का गाछ बन जाता है और पुराना गाछ नष्ट हो जाता है। जो नियति पुराने गाछ की हुई वही कभी नये गाछ की भी हो सकती है। शब्द का भी नया प्रमुख अर्थ कालान्तर में स्वयं भी नष्ट हो सकता है और एक अन्य नया अर्थ प्रमुख बन सकता है। यह सब किसी शब्द के अर्थ या अर्थ के परिवेश की निजी आन्तरिक प्रक्रियाएँ हैं जिनके कारण उसका अर्थ बदलता है। साहचर्य में नया अर्थ पहले से विद्यमान रहता है। परिवर्तन में वह बस उठ खड़ा होता है। इसके विपरीत सादृश्य में नया अर्थ शब्द के मौलिक अर्थ या प्राचीन अर्थ में विद्यमान नहीं होता। वह बाहर से आता है। इसमें दो अर्थों के वाचक शब्द निकट आते हैं और इस प्रकार एक शब्द अपने द्वारा सूचित होने वाले अर्थ को दूसरे शब्द द्वारा सूचित होने वाले अर्थ से संयुक्त कर देता है। इस स्थिति में पहले शब्द का अर्थ अपना प्राचीन या संयोग से पूर्व का अर्थ खो देता है। उस शब्द में एक नया ही अर्थ आ जाता है। यही सादृश्य के आधार पर हुआ अर्थपरिवर्तन है।

'कुर्सी के पाँव' उच्चार में यदि कुर्सी को 'अ' और पाँव को 'ब' कहें तो कहना होगा कि 'ब' वाचक शब्द ने अपने द्वारा सूचित होने वाले अर्थ को 'अ' वाचक शब्द के साथ संयुक्त कर दिया। फलस्वरूप 'ब' वाचक शब्द का वह अर्थ नहीं रहा जो उसका संयोग के पूर्व था। पाँव शब्द के उच्चारण से साधारणतः मनुष्य या पशु

के पाँवों का अर्थ सूचित होता है। किन्तु कुर्सी के साथ संयुक्त हो जाने पर पाँव शब्द का यह अर्थ कहाँ रहता है ? वह भिन्न हो जाता है। दो अर्थों के वाचक शब्दों का संयोग उनके अर्थों या अर्थों के अंगों में समानता या सादृश्य के आधार पर किया जाता है। उक्त उदाहरण में पाँवों और कुर्सी को खड़ा रखने वाली नीचे की चार लकड़ियों में समानता है। दोनों का साधारण धर्म पशु या कुर्सी के शेष स्वरूप को साधे रखना है। जैसे चार पाँवों पर पशु खड़े होते हैं वैसे ही चार लकड़ियों पर कुर्सी के खड़े रहने के कारण कुर्सी की लकड़ियों को कुर्सी के पाँव कह दिया गया।

घड़े की गर्दन, चने की नाक, सितार के कान, अन्धा कुआँ, पहाड़ की चोटी, मधुर गीत, फिटकरी के फूल आदि प्रयोग कुर्सी के पाँव की कोटि के ही अन्य उदाहरण हैं।

कुछ प्रयोग इतने रूढ़ हो जाते हैं कि उनमें साधारणतः यह समझ में ही नहीं आता कि इनके अर्थपरिवर्तन के पीछे भी सादृश्य ही कारण है। उदाहरण के लिए संस्कृत प्रणाली शब्द का अर्थ है नाली अथवा पतनाला। हिन्दी में आरम्भ में नितान्त आलंकारिक ढंग से इसका प्रयोग हुआ होगा। पानी ले जाने के मार्ग या साधन की संज्ञा प्रणाली होने के कारण सादृश्य के आधार पर किसी कार्य को करने के साधन या ढंग को भी प्रणाली कहा गया होगा। धीरे-धीरे अलंकार तत्व का लोप हो गया और प्रणाली का अर्थ केवल ढंग या रीति के अर्थ में ही रूढ़ हो गया। अंग्रेजी का खिड़की वाचक Window शब्द मूलतः पुरानी नॉर्स भाषा का है जिसमें सादृश्य के आधार पर एक शब्द (Auga = आँख) का अर्थ अन्य शब्द (Vindr) के अर्थ के साथ संयुक्त हुआ है और जिसका मौलिक अर्थ है—हवा की आँख। अंग्रेजी में यह सादृश्यमूलक आलंकारिक अर्थ विस्मृत हो गया है।

हिन्दी में ही गधा (मूर्ख), गाय या गऊ (सीधा), पत्थर (कठोर हृदय), कौआ (चालाक,) चमचा (सेवक, मध्यस्थ), भैंस (मूर्ख), कसाई (क्रूर), बनिया (कंजूस) आदि शब्दों ने सादृश्य के कारण ही अपना अर्थपरिवर्तन किया है। अति प्रचलन के कारण किसी समय इनका मौलिक अर्थ प्रणाली या Window शब्दों के मौलिक अर्थ की भाँति लुप्त हो सकता है। वैसी स्थिति में ये केवल कोष्ठक में दिये अर्थों के वाचक मात्र रह जायँगे।

३. **परिवेश का परिवर्तन**--एक स्थान पर रहने वाले किसी भाषा के प्रयोक्ता किन्हीं आर्थिक, राजनीतिक या प्राकृतिक कारणों से अन्य स्थान पर जाकर रहने लग

सकते हैं। यह उनके भौगोलिक परिवेश का परिवर्तन है। प्रायः होता यह है कि भौगोलिक परिवेश बदलने के कारण प्रयोक्ताओं का अनेक ऐसे नये अर्थों (वस्तुओं, स्थितियों, भाव) से साक्षात्कार होता है जिनके लिए उनकी भाषा में शब्द ही नहीं होते। इन नये अर्थों को शब्दित करने की समस्या इनके लिए प्रायः पुराने शब्दों का प्रयोग करने से सुलझती है। क्योंकि अनेक शब्द जो पुराने भौगोलिक परिवेश में सुलभ अर्थों के वाचक थे नये परिवेश में उनकी शून्यता के कारण या तो फालतू हो चुके होते हैं या नये अर्थ पुराने अर्थों से सादृश्य रखते हैं। सम्भवतः इन्हीं स्थितियों में आर्यों ने जंगली बैल या भैंसे के वाचक शब्द उष्ट्र का प्रयोग परिवर्तित भौगोलिक परिवेश में ऊँट के लिए किया होगा। इसी प्रकार अंग्रेजी का अनाज वाचक शब्द Corn भी अमरीका में जाकर बसे अंग्रेजी भाषाभाषियों के द्वारा मक्का वाचक बनाया गया होगा। इन अर्थपरिवर्तनों में साहचर्य और सादृश्य के कारण भी निरन्तर कार्य करते हैं।

एक ही भूगोल में रहते हुए प्रयोक्ताओं के सामाजिक परिवेश में अन्तर हो सकता है। परिवार में प्रयुक्त मदर और सिस्टर शब्द गिरजाघर की सभाओं और नर्सों के परिवेश में जाकर अपना अर्थ बदल लेते हैं।

एक भूगोल और एक समाज में भी नये आविष्कारों के कारण भौतिक परिवेश बदल सकता है और नये अर्थों को वाणी देने की समस्या उत्पन्न हो सकती है। विभिन्न भाषाओं में वैज्ञानिक शब्दावली का निर्माण इन्हीं कारणों से हुआ है और उसमें सैकड़ों शब्दों का वह अर्थ नहीं है जो उनका मूल या प्राचीन अर्थ था या जो साधारणतः प्रचलित है।

फिर ऐतिहासिक परिवेश-परिवर्तन से स्वतः नये-नये अर्थों को वाणी देने का प्रश्न उठता रहता है। प्रगतिशील समाज में अर्थों की संख्या शब्दों की संख्या से सदैव आगे रहती है। इन अर्थों को शब्द देते समय शब्द का प्राचीन अर्थ प्रायः बदल जाता है। उदाहरण के लिए भारतवर्ष में आज आकाशवाणी शब्द उस अर्थ का वाचक नहीं है जिसका वाचक वह यहाँ रेडियो की स्थापना के पूर्व था।

४. **विनम्रता-प्रदर्शन**—मेरे ग़रीबख़ाने पर तशरीफ लाइए, आपका दौलतख़ाना कहाँ है, विराजिए, जलपान कीजिए, आप किस प्रदेश को श्रीहीन करके आ रहे हैं—जैसे प्रयोगों में ग़रीबख़ाना, दौलतख़ाना, विराजना, जलपान, श्रीहीन इन शब्दों का

विनम्रता-प्रदर्शन के कारण अर्थ परिवर्तित हो गया है। उक्त प्रयोगों में उक्त शब्द दारिद्र्य, सम्पत्ति, शोभा बढ़ाना, मात्र जल पीना, शोभारहित करना इन अर्थों के वाचक नहीं रह गये हैं। विराजना शब्द के मौलिक अर्थ को हम प्रायः भूल भी चले हैं और वह बैठने के अर्थ में रूढ हो चला है। फिर भी विनम्रता-प्रदर्शन की अर्थपरिवर्तन के क्षेत्र में कोई बहुत महत्वपूर्ण भूमिका नहीं है।

५. **शोभन शब्दों का प्रयोग**--बहुत से कार्यों या वस्तुओं के साथ संकोच, जुगुप्सा, अमंगल, अन्धविश्वास या लघुता की भावनाएँ जुड़ी हुई हैं। लेकिन उन्हें शब्दों में अभिव्यक्त करने की विवशता के क्षण जीवन में प्रायः आते हैं। ऐसी स्थिति में प्रयोक्ता उक्त कार्यों या वस्तुओं को सीधे-सीधे उनके बोधक शब्दों द्वारा न कहकर अन्य शब्दों द्वारा प्रकारान्तर से कहते हैं। प्रकारान्तर से कथन करने में जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता है वे प्रायः अपने मौलिक अर्थ से हटकर उक्त कार्यों, व्यापारों या वस्तुओं के बोधक बन जाते हैं। इस प्रकार उनके अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। इस अर्थ-परिवर्तन के पीछे प्रायः साहचर्य या सादृश्य के भी कारण होते हैं। लेकिन कभी-कभी ऐसा कोई कारण नहीं भी होता।

क. संकोच--यौन अंगों तथा कर्म और मल-मूत्र सम्बन्धी व्यापारों को सीधे-सीधे अभिधा में या रूढ शब्दों में कह देना संसार के प्रायः सभी भाषाभाषियों में संकोच का कारण होता है। फलस्वरूप अन्य शब्दों में इन्हें अभिव्यक्त किया जाता है। लिंग शब्द का मूल अर्थ चिह्न था जो उक्त दृष्टिकोण के कारण ही शिश्न के अर्थ में आरम्भ में प्रयुक्त हुआ होगा, पर अब इस अर्थ में प्रायः रूढ सा हो गया है। इसी प्रकार पाँव भारी होना गर्भिणी होने के अर्थ में रूढ हो गया है। मैथुन शब्द का मूल अर्थ मिथुन अर्थात् जोड़े द्वारा किया गया कार्य, सहवास का साथ रहना, समागम का साथ आना, बलात्कार का बल प्रयोग और सम्भोग का मूल अर्थ साथ आनन्द लेना था। किन्तु कालान्तर में इनके अर्थ में परिवर्तन हो गया। इन शब्दों का इन अर्थों में प्रयोग होने लगने के कुछ समय बाद ही साहचर्य का कारण भी अर्थपरिवर्तन में सहायक हो गया होगा।

मैदान जाना, दिशा जाना, लैट्रिन जाना, शौच जाना, नित्यकर्म, लघुशंका, दीर्घशंका, बाथ रूम जाना आदि शब्द अपना मूल अर्थ खो चुके हैं। यही स्थिति अंग्रेजी के Lavatory, Toilet, Cloak-room, Gentlemen, Gents, Ladies' room,

Ladies, W. C., The bath room[1] आदि शब्दों में से अधिकांश की हो गयी है। शेष इस स्थिति तक पहुँचने की प्रक्रिया में हैं।

ख. जुगुप्सा––घृणास्पद या भयास्पद वस्तुओं, रोगों या कार्यों का उल्लेख भी उनके रूढ शब्दों से भिन्न शब्दों के द्वारा किया जाता है। साँप को कीड़ा या रसरी, चेचक को शीतला, साँप के काटने को साँप सूँघना इसी कारण कहा जाता है। जो॰ वान्द्रियँज के अनुसार फ्रांस में और प्रायः इंग्लैण्ड में भी डॉक्टरों ने Operation शब्द के स्थान पर Intervention शब्द का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया है।[2] अब Surgical Intervention का अर्थ Surgical Operation है।

ग. अमंगल—सबसे अधिक अमांगलिक कार्य मौत है। यहाँ तक कि जीवन बीमा के व्यवसायी भी जिनका व्यवसाय मौत की भयंकरता और अवश्यंभाविता के चित्रण पर ही निर्भर है, प्रायः अभिधा में उसका उल्लेख नहीं करते। स्वर्गवास, वैकुण्ठलाभ, चूड़ी फूटना, देहान्त, pass away, pass on, pass out, pass out of the picture, be no longer आदि शब्दों के मौलिक या प्राचीन अर्थों में परिवर्तन हो गया है।

घ. अन्धविश्वास––चेचक को शीतला कहने के पीछे अन्धविश्वास भी एक कारण है । उसके लिए माता या माई और मोतीझरा के लिए महाराज शब्द का प्रयोग अन्धविश्वास के कारण ही होता है । प्रायः सभी भाषाओं के अधिकांश भाषाभाषी इस प्रकार के अन्धविश्वास से शब्दप्रयोग में परिचालित होते हैं। जिनका ऐसा अन्धविश्वास नहीं है उनका ख्याल है कि इसमें विश्वास न भी रखो तो भी इसके अनुसार शब्द-प्रयोग करने से भगवान कल्याण करता है। इसलिए वे भी शब्दों के प्रयोग में भिन्नमार्गी नहीं हैं। कहा गया है—

आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च ।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयात् ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः ॥

'कल्याणकामी व्यक्ति को अपना, गुरु का, अत्यन्त कृपण का, ज्येष्ठ सन्तान और पत्नी का नाम नहीं लेना चाहिए।' गृहिणी, घर सें, घरवाली, मालकिन, मिसेज, होममिनिस्टर, होमगवर्मेंट शब्द पत्नी या पत्नीविशेष के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। 'भीतर वालों को भीतर वालों का नमस्कार' पत्र की इस पंक्ति में पत्नीविशेष का पत्नीविशेष

१. Linguistic Change in Present day English—Charles Barber, Page 125, 1964.

२. Language––J. Vendryes, Page 219.

को नमस्कार कहा गया है। ये, वे इन शब्दों का पत्नी-बोधक अर्थ भी है और 'रेणु' के अनुसार तो गोपाल पाइन की पत्नी अपने पति को मात्र अपने कहती है—'अपने कह रहे थे।'[1] अपना नाम न लेने के अन्धविश्वास के कारण ही अपने नाम के व्यक्ति को प्रायः नामराशि कहा जाता है।

ङ. **लघुता**—लघु या हीन कार्यों को करने वालों के लिए भी उनके बोधक रूढ़ शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता। भंगी के लिए मेहतर < महत्तर या जमादार कहा जाता है। अब इन शब्दों के प्राचीन अर्थ लुप्त हो गये हैं। रसोई का काम करने वाले को हिन्दी में महराज या महाराज और बँगला में ठाकुर कहते हैं। मूर्ख को अल्पबुद्धि तथा निर्धन को आर्थिक दृष्टि से दुर्बल कहना भी इसी कोटि का है। पंजाबी में नाई को नाई के अतिरिक्त राजा भी कहते हैं।[2] यहाँ तक तो यह वक्ता की निश्छल दया है और इससे अर्थपरिवर्तन भी हुए हैं—हो सकते हैं। लेकिन लघुता एक सापेक्ष शब्द है। इसलिए जब बनिए को सेठ, दूकानदार को व्यापारी, सिपाही को दारोगा, अध्यापक या व्याख्याता को प्रोफेसर या प्राध्यापक और छोटे से राष्ट्र को महान् कहा जाता है तो यह शुद्ध डेलकार्नेगीवाद है। इससे अर्थपरिवर्तन का अपेक्षाकृत कम कार्य सिद्ध होता है।

५ के क, ख, ग, घ, ङ के अन्तर्गत अर्थों को प्रकट करने के लिए जिन नये शब्दों का प्रयोग किया जाता है, धीरे-धीरे प्राचीन अर्थ के पूर्णतः लुप्त हो जाने के कारण वे भी नये अर्थ में रूढ़ हो जाते हैं और उनकी स्थिति लक्षणात्मक नहीं शुद्ध अभिधात्मक हो जाती है। फलस्वरूप उनका शोभनत्व समाप्त हो जाता है और उनके स्थान पर नये शोभन शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। ऐसा प्रायः ५. क के अन्तर्गत विशेष रूप से होता है। उदाहरण के लिए गू शब्द मूल भारोपीय *gwou,* gwu से सम्बद्ध माना जाता है जिसका मूल अर्थ था गाय का गोबर।[3] आज गू शब्द का शोभनत्व समाप्त हो गया है और उसके स्थान पर गन्दगी या ऐसे किसी शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। टट्टी शब्द स्वयं ओटवाचक था। खस की टट्टी, धोखे की टट्टी आदि में उक्त अर्थ अभी भी सुरक्षित है। शोभन शब्द-प्रयोग की दृष्टि से ओट में किये गये कार्य को भी टट्टी कहा जाने

१. जुलूस, पृष्ठ १२२।

२. व्यवहार कोश, पृष्ठ १०८।

३. A Dictionary of Selected Synonyms in the Principal Indo-European Languages—C. D. Buch, Page 276.

लगा। परवर्ती कालों में उसमें से ओट का अर्थ लुप्त हो जाने के कारण इस शब्द का शौभनत्व भी समाप्त हो गया। इसी प्रकार पेशाब (पेश = आगे + आब = पानी) का मूल अर्थ आगे का पानी था। लेकिन इस शब्द के मूत्र के अर्थ में रूढ हो जाने के कारण यह भी शोभन नहीं रह गया।

समाज की मान्यताओं और दृष्टिकोणों में परिवर्तन से उक्त ५ के अन्तर्गत उल्लिखित कार्यों या वस्तुओं के लिए रूढ और अभिधात्मक शब्द फिर प्रचलन में आ जाते हैं। यौन अंगों और कर्म, मलमूत्र-त्याग, मौत, पति-पत्नी या ज्येष्ठ पुत्र या व्याधियों का सीधा उल्लेख रूढ शब्दों या नामों के द्वारा होने लगता है। हिन्दी की नयी कहानियों और उपन्यासों में इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है।[1]

६. **व्यंग्य**—व्यंग्य और कण्ठ की वक्र ध्वनि का सहारा पाकर शब्द अपना प्रचलित या रूढ अर्थ छोड़ देते हैं। उदाहरण के लिए सरस्वती के अवतार, लक्ष्मी के पति, धन्ना सेठ आदि प्रयोगों से प्रायः इनका रूढ अर्थ नहीं बल्कि मूर्ख, दीन और निर्धन यह अर्थ सूचित होता है। 'आप बड़े विद्वान हैं' कहकर व्यंग्यकर्ता वक्ता आपकी मूर्खता को सूचित करता है। इस प्रकार यहाँ विद्वान् शब्द का अर्थ मूर्ख हो जाता है। यह व्यंग्याश्रित नया अर्थ स्थायी नहीं होता और व्यंग्य का आश्रय हटते ही यह भी हट जाता है। लेकिन कभी-कभी कोई शब्द अपने नये अर्थ में इतना प्रचलित हो जाता है कि वह नया अर्थ ही उसका रूढ अर्थ बन बैठता है और उसका प्राचीन अर्थ भुला दिया जाता है। देवानांप्रिय और बुद्धू शब्दों का अर्थ मूर्ख हो जाने में अन्य कारणों के अतिरिक्त सम्भवतः एक कारण यह भी है।

७. **भावात्मक बल**—स्नेहावेश या आत्मीयता के तथाकथित प्रदर्शन के लिए प्रायः अनेक अपशब्दों का प्रयोग बातचीत में होता है। साला, बेटा, नालायक, उल्लू

१. **चूतिया, साला, किस्तों की कार में लट्टू बना घूमता है, बहनचोद।**
—यारों के यार तिन पहाड़, कृष्णा सोबती, पृष्ठ १५।

राजकमल प्रकाशन, १९६८।

सूरी बादशाह, हगने की अच्छी कही—लगेगी तो हगोगे ही, पटरी हो और चाहे जो हो...........।

याद रख ब्रादर, पखाने में अफ़सर भी क्लर्कों की तरह ही टट्टी फिरते हैं।—वही, पृष्ठ २३।

आदि शब्द वक्ता के भावावेग के कारण अपना रूढ़ अर्थ छोड़ देते हैं और अन्य दृष्टि से निरर्थक होकर भावावेग के स्थूल वाहक मात्र बन जाते हैं। छात्रावासों, सैनिक केन्द्रों के जवानों में परस्पर, उम्र के कुछ विशेष हिस्सों तथा देश के कुछ नगरों में इस प्रकार के प्रयोग प्रायः सुने जाते हैं।

८. **अज्ञान, भ्रान्ति अथवा बल**—कभी-कभी भाषाभाषियों के अज्ञान या भ्रान्ति के कारण किसी शब्द का प्रयोग उस अर्थ में किया जाता है जो वस्तुतः उसका अर्थ नहीं है। धीरे-धीरे उस शब्द के साथ यह नया अर्थ जुड़ जाता है और उसमें से प्राचीन अर्थ लुप्त हो जाता है या लुप्त होने लगता है। उदाहरण के लिए निखालिस, बेफिजूल, बेबाहियात, बेफालतू शब्दों को लिया जा सकता है जिनका क्रमशः शुद्ध, व्यर्थ, बेकार और अनावश्यक अर्थों में हिन्दी बोलचाल में ही नहीं हिन्दी लेखन में भी प्रयोग बढ़ चला है।[1] अब ये शब्द अपने मौलिक या प्राचीन अर्थ क्रमशः अशुद्ध, अव्यर्थ, काम का और आवश्यक से दूर हट आये हैं। ठंड के स्थान पर ठंडी (बड़ी ठंडी पड़ रही है), अंग्रेजी शब्द प्राइड (घमंड) के स्थान पर (उसे बड़ा प्राउड हो गया है) प्राउड (घमंडी) का प्रयोग वक्ताओं के अज्ञान या भ्रान्ति के कारण ही प्रचलित हो गया है। अब ठंडी और प्राउड शब्द का नया अर्थ है क्रमशः जाड़ा और घमंड। उत्तर प्रदेश के ललितपुर नगर में निम्नमध्यवर्गीय व्यक्ति वातावरण शब्द का प्रयोग पारस्परिक गरम बहस और हलके झगड़े के लिए करते हैं। जैसे—'फिर हमारा उनका वातावरण हुआ, वकील साहब! इसी प्रकार बास शब्द दुर्गन्ध का वाचक बन गया है और उसका मौलिक अर्थ गन्ध समाप्त हो गया है।

विन्ध्याचल पर्वत, अश्वमेध यज्ञ, सज्जन मनुष्य, हिमाद्रि पर्वत, रिस्टवाच घड़ी, मेनरोड सड़क, सनलाइट सोप साबुन, गाँधी कैंप टोपी, समतल धरातल, यह प्रस्तुत पद आदि शब्द प्रयोगों में पहले से विद्यमान अचल, मेध, जन, अद्रि, वाच, रोड, सो, कैंप, तल,

१. सचमुच ही निखालिस बंगाली लड़का ही जन्मा था और वैसा ही चपटा सर, घने काले बाल....... ।—कृष्ण कली, शिवानी, पृष्ठ ८५ ।

बेफिजूल की बकवास लगा रक्खी है।—तुलाराम शास्त्री, अमृतलाल नागर, पृष्ठ २२ ।

दयाल जमींदार बेफिजूल में हमदर्दी वाले जीव नहीं—महाकाल, अमृतलाल नागर, पृष्ठ १२३ ।

मोनाई बोला—'बेटा, दाई के आगे पेट छिपाना बेफिजूल है'—वही, पृष्ठ, १८५।

यह आदि शब्दों के आगे उन्हीं के पर्यायवाची पर्वत, यज्ञ, मनुष्य, पर्वत, घड़ी, सड़क, साबुन, टोपी, तल, प्रस्तुत आदि शब्दों को अज्ञान, भ्रान्ति या बल के कारण ही उच्चरित किया जा रहा है। लेकिन इससे उक्त शब्दों के अर्थ में परिवर्तन हो गया है। पहले जहाँ विन्ध्याचल का अर्थ था विन्ध्य नाम का पर्वत, अब उसका अर्थ केवल नाम हो गया है और पर्वत अर्थ सूचित करने के लिए अचल के उपरान्त पर्वत शब्द को जोड़ना पड़ रहा है। यहीं स्थिति उक्त अन्य प्रयोगों के सम्बन्ध में भी है। संतोषता, सौन्दर्यता जैसे प्रयोग सन्तोष तथा सौन्दर्य शब्द के विशेषण होने का बोध कराने लगे हैं।

पुनरावृत्ति के पीछे सदैव अज्ञान या भ्रान्ति ही नहीं होती। कभी-कभी ववता अपने उच्चार या अर्थ पर विशेष बल देना चाहता है, उसे विशेष स्पष्ट करना चाहता है। अतएव वह पुनरावृत्ति का सहारा लेता है। इस बल का सम्बन्ध भाव से नहीं अभिव्यक्ति की स्पष्टता से है। इसलिए यह भावात्मक बल से भिन्न है।

९. अधिक शब्दों के स्थान पर एक शब्द––हस्तिन् मृग[1] के स्थान पर हस्तिन्, फाउण्टेन पैन के स्थान पर पैन, हाफ पैन्ट के स्थान पर पैण्ट, कैपीटल सिटी के स्थान पर कैपीटल, प्रिन्सपल टीचर के स्थान पर प्रिन्सपल जैसे शब्दों के प्रयोग ने हस्तिन्, पैन, पैण्ट, कैपीटल, प्रिन्सपल आदि शब्दों के प्राचीन अर्थ परिवर्तित करके उन्हें नये अर्थों से जोड़ दिया है। हस्तिन् शब्द हाथ के स्थान पर एक पशु विशेष का, पैन शब्द सभी कलमों के स्थान पर फाउण्टेन पैन का और पैण्ट शब्द दोनों तरह के पैण्टों के स्थान पर हाफ पैण्ट का वाचक हो गया हैं। इधर पैण्ट शब्द का प्रयोग केवल फुल पैण्ट के लिए बढ़ रहा है। कैपीटल और प्रिन्सपल शब्द अब विशेषण नहीं जातिवाचक संज्ञा हैं।

१०. शब्दों का अधिक प्रयोग––'अति परिचयादवज्ञा' की तरह शब्द भी अति परिचय से अपना अर्थ खो देते हैं। उनके अर्थ की चमक चली जाती है। कभी-कभी वे निरर्थक से हो जाते हैं। सार्थक से निरर्थक होना भी अर्थपरिवर्तन का घटित होना है। उदाहरण के लिए अखिल भारतीय, रुपहले परदे पर महान चित्र, विराट सभा होगी आदि प्रयोगों में शब्दों ने अब अपना प्राचीन अर्थ खो दिया है। हर संस्था को अखिल भारतीय, हर चित्र को महान और हर सभा को विराट कहे जाने के कारण इन शब्दों से आँखों के समक्ष अब वह चित्र नहीं आता जो सन् १९४०–४७ के बीच आता रहा है। विभिन्न तकियाकलाम भी, जिनमें अपशब्दों का उल्लेख विशेष रूप

१. ऐसा मृग अर्थात् पशु जिसका हाथ यानी सूँड़ हो।

से किया जा सकता है, अधिक प्रयोग के कारण अपना मौलिक अर्थ खो चके हैं। धन्यवाद, स्वागत, अभिनन्दन आदि शब्दों की भी यही स्थिति हुई है। भाषा के सतर्क प्रयोक्ता घिसे हुए शब्दों से अपनी भाषा को बचाते हैं और उनके स्थान पर विलक्षण शब्दों का प्रयोग करके अर्थ-चमत्कृति उत्पन्न करते हैं। सुमित्रानन्दन पन्त तथा जैनेन्द्र में यह सतर्कता विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

११. **किसी जाति या राष्ट्र के प्रति मनोभाव**—एक जाति या राष्ट्र की अन्य जाति या राष्ट्र के प्रति मनोभावनाओं में परिवर्तन होने पर कभी-कभी उस जाति या राष्ट्र से सन्दर्भित कुछ शब्दों में भी अर्थपरिवर्तन घटित होता है। ऋग्वेद की प्राचीन ऋचाओं में असुर शब्द का अर्थ देवता है। ईरानी (अहुर) में भी यही अर्थ है। लेकिन सम्भवतः परवर्ती मनमुटाव के कारण असुर का अर्थ राक्षस हो गया और अ को निषेधात्मक मानकर सुर शब्द को देवता वाचक बना दिया गया। संस्कृत के देव शब्द की यही नियति ईरान में हुई। आरम्भ में देश विशेष का वाचक शब्द हिन्द बाद में फारसी कोशों में चोर, डाकू, गुलाम आदि के अर्थ में मिलता है।[1] १९६२ और १९६५ में भारतववर्ष को युद्ध के लिए विवश करनेवाले देशों और उनकी संस्कृति तथा सभ्यता से सम्बन्धित पदार्थों के वाचक शब्दों के अर्थ भी युद्धों के बाद हमारे देश में बदल गये हैं।

१२. **एक वर्ग के एक शब्द में अर्थपरिवर्तन**—यदि किसी वर्ग के किसी एक मुख्य शब्द के अर्थ में परिवर्तन होता है तो स्वभावतः यह परिवर्तन उस वर्ग के अन्य शब्दों में भी होगा। भाषा में एक वर्ग में अर्थ सम्बन्धी एकरूपता तथा व्यवस्थाओं के निर्वाह की यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। संस्कृत में असुर शब्द का अर्थ देवता से राक्षस हुआ तो उसकी अनरूपता में आसुरी आदि शब्दों के अर्थों में भी परिवर्तन हुआ। सर्प शब्द का अर्थ था रेंगने वाला प्राणी। जब उसका अर्थ परिवर्तित होकर एक विशेष रेंगने वाले प्राणी के अर्थ में संकुचित हुआ तो स्वभावतः सर्पिणी शब्द का अर्थ भी इसी प्रकार संकुचित हो गया। रामजनी शब्द का अर्थ बदल कर वेश्या होते ही रामगली और रामगंज शब्दों के अर्थ में भी परिवर्तन हो गया।[2] जो० वान्द्रियँज ने फ्रान्सीसी

१. सामान्य भाषाविज्ञान—बाबूराम सक्सेना, पृष्ठ १६०, १९६५।

२ ......उसे रामगली कहा जाता था। प्रायः तवायफों के मुहल्ले रामगंज कहलाते हैं; वेश्याओं को रामजनी कहा जाता है।—क्या भूलूँ क्या याद करूँ, बच्चन, पृष्ठ १५५।

भाषा से एक उदाहरण दिया है—'फ्रान्सीसी शब्द habit (अबी = अवस्था, अस्तित्व की अवस्था) का अर्थ जब वस्त्र हो गया तो habiller— सुव्यवस्थित करना, में भी वह विशेषता आ गयी और इन शब्दों के साथ तद्भव या समस्त पदों में भी अर्थ-परिवर्तन हो गया; जैसे habiuelleur (अबिय्यर), habillement (अबीयमाँ), de' shabiller (देजबिय्ये) इत्यादि।'[1]

१३. **एक शब्द के दो रूपों का प्रचलन**—तद्भव शब्दों के प्रचलन में आ जाने के उपरान्त भी कभी-कभी उनके तत्सम शब्द भी प्रचलन में बने रहते हैं। ऐसी स्थिति में भाषायी स्पष्टता तथा शब्द को विशिष्ट का सूचक बनाने की दृष्टि से सम्बन्धित भाषाभाषी शब्द के तत्सम रूप को श्रेष्ठ अर्थ से तथा तद्भव रूप को अपेक्षाकृत हीन अर्थ से संयुक्त कर देते हैं। ऐसा प्रायः अनजान में ही उनकी तत्सम या प्राचीनता-भक्ति के कारण होता है। हिन्दी में इस प्रकार के कुछ रोचक उदाहरण हैं—

वंश > बाँस
गर्भिणी > गाभिन
स्तन > थन
स्थान > थान
वत्स > बछड़ा
वार्ता > बात
भद्र > भद्दा
प्रणाली > पनाली

अर्थपरिवर्तन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका साहचर्य के कारण की है। जिन अर्थपरिवर्तनों के लिए अन्य कारण उत्तरदायी हैं वहाँ भी प्रायः साहचर्य की कुछ न कुछ भूमिका देखी जा सकती है। किन्हीं परिवर्तनों में एक से अधिक कारणों की भूमिका होती है। फिर भी अर्थ के व्यक्तिनिष्ठ स्वरूप के कारण कोई आवश्यक नहीं कि भाषाविज्ञानी सदैव सर्वथा निर्भ्रान्त कारणों और निष्कर्षों तक पहुँच ही सके। अर्थपरिवर्तन के विषय की जटिलता की ओर भी बराबर संकेत किये गये हैं।[2]

१. भाषा—पृष्ठ २३३।

२. Changes of meaning is somewhat more complex than is usually assumed.—The Principles of Semantics—Stephen Ullmann, Page 175, 1957.

लेकिन इस जटिलता ने भाषाविज्ञानियों का ध्यान इसकी ओर केन्द्रित भी रखा है। ब्रेआल[१], वुंट[२] (Wundt) आदि भाषाविज्ञानियों ने ध्वनि के नियमों की तरह अर्थपरिवर्तन के नियमों की खोज करने का प्रयत्न भी किया। इनके पहले भी इस प्रकार के प्रयत्न हुए।[३] सम्भवतः ऐसा करके ये भाषाविज्ञानी अर्थविज्ञान को प्रतिष्ठा देना चाहते थे। किन्तु यह कदापि आवश्यक नहीं है कि वही विषय प्रतिष्ठा प्राप्त करे जो निरपेक्ष प्रतिमानों और दो-टूक नियमों की परिधि में बँधा हुआ हो। वास्तव में अर्थपरिवर्तन तो होता है लेकिन अर्थपरिवर्तन के नियम नहीं होते। विगत अर्ध शताब्दी में अर्थ के अध्ययन को भाषाविज्ञान या भाषाशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र से बहिष्कृत करने के लिए भी तर्क प्रस्तुत किये गये हैं। इधर ये तर्क शिथिल-पड़ चले हैं और अर्थ के अध्ययन के महत्व को स्वीकार किया जा रहा है। डॉ० स्टीफेन उल्मान ने उस उत्साह और रुचि का विस्तृत उल्लेख किया है जो संसार के भाषा-शास्त्रियों में पिछली दशाब्दी में इस विषय के प्रति उत्पन्न हुई है।[४]

१. Law of Specailztion.

२. General Laws of Association.

३. The Search for Semantic laws is as old as Semantics itself.

— Principles of Semantics—Stephen Ullmann, Page 249, 1957.

४. During the last decade there has been a considerable quickening of interest in Semantics. A number of scholars have reexamined the principles on which this branch of linguistics is based; others have explored specific aspects of meaning; others have focused their attention on the Semantics of particular languages. Research in this field has been revitalized by the great revolution which has taken place in modern linguistics.

—Semantics : An introduction to the Science of Meaning.

—Stephen Ullmann, Page 54, 1964.

भाषापरिवार

कलकत्ता उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश सर विलियम जोन्स ने २ फरवरी सन् १७८६ ईसवी में रॉयल ऐशियाटिक सोसायटी की नींव रखते हुए संस्कृत भाषा के असाधारण महत्व की घोषणा की थी। उन्होंने संकेत किया था कि शब्द, धातु तथा व्याकरण की दृष्टि से संस्कृत, ग्रीक, लैटिन गाथिक, कैल्टिक तथा पुरानी फारसी में पर्याप्त समानताएँ हैं और सम्भव है कि ये किसी एक मूल भाषा से निकली हों।[1] तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक भाषाविज्ञानों के अध्ययन के क्षेत्र में यह एक महत्वपूर्ण घटना है, क्योंकि इसके उपरान्त ही उक्त भाषाओं तथा संसार की अन्य भाषाओं के तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन का क्रम आरम्भ हुआ।

किन्हीं भी दो भाषाओं को एक ही मूल या परिवार की घोषित करने के लिए परवर्ती अध्ययनों में कुछ आधारों का निश्चय किया गया है। दोनों ही भाषाओं की परीक्षा इन आधारों पर हो चुकने के उपरान्त जब दोनों में पर्याप्त समानताएँ दिखाई देती हैं तभी उन्हें एक परिवार से सम्बद्ध कहा जाता है। ये आधार मुख्य रूप से तीन हैं—

(१) **मौलिक शब्द-समूह की समानता**—मौलिक या आधारभूत शब्दसमूह के अन्तर्गत सम्बन्धियों[2] (जैसे माता, पिता आदि), अंगों (हाथ, मुँह,

१. The Sanskrit language, whatever its antiquity, is of a wonderful structure; more perfect than the Greek, more copious than the Latin, and more exquisitely refined than either, yet bearing to both of them a stronger affinity, both in the roots of verbs and in the forms of grammar, than could possibly have been produced by accident; there is a Similar reason, though not quite so forcible, for supposing that both Gothick and the Celtick, though blended with a very different idiom, had the same origin with the Sanskrit, and the old Persian might be added to the same family.—**सर विलियम जोन्स के भाषण का अंश ।**

२. जैसे—

संस्कृत	**पितृ**	**मातृ**	**भ्रातृ**
फारसी	**पिदर**	**मादर**	**बिरादर**

नाक[1] आदि) और घर-गृहस्थी के प्रयोग की वस्तुओं (जैसे आग, पानी आदि) के वाचक शब्दों तथा सर्वनाम, संख्यावाचक विशेषण, दैनिक जीवन की सामान्य क्रियाओं की वाचक धातुओं आदि को माना गया है। किसी भाषा के शब्द-समूह का यह अपेक्षाकृत स्थायी वर्ग है। यह कहना कि सामान्य परिवर्तनों के अतिरिक्त इसमें परिवर्तन ही नहीं होता, उचित नहीं है। डॉ० रामविलास शर्मा ने ठीक ही कहा है कि सांस्कृतिक प्रभावों के कारण अक्सर किसी भाषा के जो शब्द सबसे पहले बदलते हैं वे यही माता-पिता जैसे शब्द हैं.....हिन्दी लेखकों के घर में अब 'डैडी' और 'ममी' का अधिकार है।[2] जिन परिवारों में डैडी-ममी का प्रवेश नहीं हुआ उनके शिक्षित (या अर्द्धशिक्षित) सदस्य यह कहते सुने जाते हैं—आज फादर की तबियत खराब है, दफ्तर न जा सकूंगा, या मदर को लेने जाना है, छुट्टी चाहिए।[3] वस्तुतः यह शब्दसमूह भी परिवर्तनशील है। लेकिन परिवर्तन की गति कितनी है? भाषाकालक्रमविज्ञान द्वारा किये गये अध्ययनों से निष्कर्ष निकलता है कि प्रति हजार वर्ष में १९ प्रतिशत। अभिप्राय यह कि प्रत्येक भाषा अपने मौलिक शब्दसमूह के लगभग ८१ प्रतिशत शब्दों को सुरक्षित रखती है। अब यदि दूसरी भाषा से उसकी तुलना करनी है तो इतनी ही छूट हमें उस भाषा को भी देनी होगी। ग्लीसन ने एक उदाहरण देकर इस स्थिति को स्पष्ट किया है—यदि हम २०० रूपग्रामों में तुलना कर रहे हैं तो एक हजार वर्ष में अ भाषा १६२ (८१ प्रतिशत) और ब भाषा भी इतने ही रूपग्रामों को सुरक्षित रखेगी। लेकिन जिन रूपग्रामों को वे दोनों त्यागेंगी वे क्या एक से ही रूपग्राम होंगे? सम्भावना यह है कि ब भाषा अ भाषा के द्वारा सुरक्षित १६२ और त्यागे गये ३८ रूपग्रामों में से ८१ प्रतिशत रूपग्राम सुरक्षित रखे। इस स्थिति में दोनों भाषाओं में १३२ या ६६ प्रतिशत रूपग्राम समान हो

लैटिन	**पातेर**	**मातेर**	**फ्रातेर**
जर्मन	**फ़ातेर**	**मुत्तेर**	**ब्रूदेर**
अंग्रेजी	**फ़ादर**	**मदर**	**ब्रदर**

१. **लैटिन** Nasus, **इतावली** Naso, **फ्रांसीसी** Nez, **रूमानियन** Nas, **पुरानी नॉर्स** Nasar, **स्वेडिश** Nasa, **आधुनिक अंग्रेजी** Nose, **लियुएनियन** Nosis, **बोहेमियन या चैक** Nos, **रूसी** Nos, **संस्कृत** Nas, **अवेस्ता** Nah ।

—A Dictionary of Selected Synonyms in the Principal Indo-European Languages, Page 227.

२. **भाषा और समाज, पृष्ठ ८१, १९६१ ।**

३. **वही, पृष्ठ ८२ ।**

सकते हैं।[1] समान रूपग्रामों की अधिक संख्या की प्राप्ति के लिए अध्येता क्रमशः पीछे की ओर लौटते हैं और अन्त में मूल भाषा के सम्भावित मौलिक शब्दसमूह तक पहुँचते हैं।

विभिन्न भाषाभाषियों के समूहों में आर्थिक, व्यापारिक, सांस्कृतिक या राजनीतिक कारणों से परस्पर पर्याप्त आवागमन रहा है। घुमक्कड़ प्रकृति, युद्ध, अपहरण, युद्धबन्दियों को अपने समाज का अंग या दास बना लेना आदि अनेकानेक रूपों में एक भाषाभाषी सदैव अन्य भाषाभाषियों के सम्पर्क में आते रहे हैं। दो भाषाओं के शब्दों में जो समानताएँ दीखती हैं वे क्या उक्त कारणों से संयोगजन्य नहीं होंगी? क्या आवश्यक है कि वे समानताएँ उक्त दोनों भाषाओं के एक ही मूल की होने के कारण हों? निश्चय ही मौलिक शब्दावली में भी संयोगजन्य समानताएँ हो सकती हैं, या यह भी सम्भव है कि दोनों भाषाओं ने किसी तीसरी भाषा से या एक भाषा ने दूसरी भाषा के परिवार की किसी भाषा से बहुत से शब्दों को लिया हो। लेकिन दो भाषाओं की मौलिक शब्दावली में संयोगजन्य समानताएँ अधिक से अधिक चार प्रतिशत ही हो सकती हैं। वस्तुतः इनका प्रतिशत अधिक नहीं होता। फिर उधार की सम्भावनाओं का पता लगाने के लिए सम्बन्धित भाषाभाषियों के सांस्कृतिक, राजनीतिक इतिहास के परिप्रेक्ष्य में निर्णय लिये जाते हैं। इस प्रकार अध्येता सम्पूर्ण शब्दावली के अध्ययन के उपरान्त ही अपना कोई मत स्थिर करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि शब्द के साथ उसकी दृष्टि शब्द के अर्थ पर भी रहती है।

(२) **रूपात्मक समानताएँ**—किसी भाषा में रूपरचनात्मक पद्धतियाँ साधारणतः शीघ्र परिवर्तित नहीं होतीं। दो भाषाओं में धातु से शब्दों को बनाने, पूर्व, मध्य और अन्त सर्गों के जुड़ने और वाक्यरचना आदि की समानताओं तथा विभिन्नताओं का अध्ययन किया जाता है। बाह्य प्रभावों तथा संयोगों (Chance) की सम्भावनाएँ यहाँ भी हैं और अध्येता यह भी राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास के परिप्रेक्ष्य में तथा संयोगजन्य समानताओं को आवश्यक छूट देते हुए दोनों भाषाओं की रूपात्मक समानताओं के आधार पर मौलिक शब्दावली की समानताओं द्वारा प्राप्त निष्कर्षों की परीक्षा करता है।

१. An Introduction to Descriptive Linguistics—H. A. Gleason, Page, 343, 1960.

(३) **ध्वनिग्रामीय समानताएँ**—साधारणतः भाषाएँ अपने ध्वनिग्रामों को सुरक्षित रखती हैं। ध्वनिग्रामों के उच्चारण थोड़े-बहुत बदल सकते हैं, लेकिन उनकी ध्वनिग्रामीय सत्ता प्रायः बनी रहती है। यानी उनमें अर्थपरिवर्तनकारी (Distinctive) अन्तर बहुत कम आता है। विदेशी ध्वनिग्रामों को भी हम अपने ध्वनिग्रामों के अनुरूप बना लेते हैं। दो भाषाओं की ध्वनिग्रामीय विशेषताओं की तुलना करते हुए उनके ध्वनिसंयोगों आदि पर भी विचार किया जाता है। फिर भी किसी भाषा को किसी परिवार-विशेष की सिद्ध करने के लिए मात्र यही आधार अधिक विश्वसनीय नहीं है। वास्तव में तुलना के समय तीनों आधारों पर प्रायः साथ-साथ विचार होता रहता है और तीनों के निष्कर्षों में अधिकांशतः सहमति होने पर ही किसी निर्णय पर पहुँचा जा सकता है।

संसार में लगभग २७९६ भाषाएँ बोली जाती हैं। इनमें से अनेक की अपनी बोलियाँ भी हैं जिनमें परस्पर ही इतने अन्तर हैं कि एक बोली बोलनेवाला व्यक्ति अन्य बोली को समझने में कठिनाई अनुभव करता है।[1] इन भाषाओं को महाद्वीपों, देशों, प्रान्तों, धर्मों या कालों के नाम पर वर्गीकृत करना सरल कार्य है। लेकिन परिवारों के नाम पर वर्गीकृत करना कठिन है। यह कठिनाई इसलिए और बढ़ जाती है कि अभी तक अधिकांश भाषाओं तथा बोलियों का पूर्ण वैज्ञानिक ढंग से वर्णनात्मक अध्ययन भी नहीं हो सका है। भाषाओं के वर्णनात्मक अध्ययन के उपरान्त ही उपरिवर्णित आधारों पर उनकी तुलना करते हुए ऐतिहासिक अध्ययन द्वारा उनके प्राचीन रूप और पारिवारिक स्थिति को समझा जा सकता है। इतने श्रम के उपरान्त भी भाषाओं को सर्वथा निर्णयात्मक और दो टूक स्वर में विभिन्न परिवारों में वर्गीकृत करना भाषाविज्ञानियों के लिए सम्भव होगा, यह कहना कठिन है। क्योंकि भाषा का विकास अनेकानेक प्रभावों, आदान-प्रदानों, सम्पर्कों और अपने भाषाभाषियों के सामाजिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक उत्थान-पतनों के बीच से रास्ता बनाता है। स्वभावतः वह एक जटिल प्रक्रिया है। किसी भाषा के विकास के बहुत आरम्भिक या कभी-कभी उत्तरवर्ती सूत्र भी लिखित सामग्री के अभाव में तुलनात्मक और ऐतिहासिक भाषाविज्ञानों के भारी प्रयत्न के बावजूद अप्राप्य रहते हैं। इसलिए सरल वर्गीकरणों और सामान्यीकृत कथनों में भाषा के विकास को समझाना उस समय भी कठिन होगा। स्पष्ट है कि फिलहाल जो सामग्री है उससे केवल सम्भावनाओं की ओर संकेत ही किये जा सकते हैं। इससे अधिक की

१. All About Language—Mario Pei, Page 53.

महत्वाकांक्षा रखनेवाले भाषाविज्ञानियों को ग्लीसन ने सावधानी बरतने चा निर्देश दिया है।[1]

भाषाओं को विभिन्न परिवारों में वर्गीकृत करने का यह अभिप्राय नहीं है कि भाषाविज्ञानी सभी या अनेक भाषाओं के लिए किसी एक मूल शुद्ध आदिम भाषा तक पहुँचना चाहते हैं। भाषावैज्ञानिक अध्ययन की पद्धतियाँ उन्हें वहाँ पहुँचा आयें, जिसकी कि कोई सम्भावना नहीं है, तो वह और बात है। भाषाविज्ञानी शुद्धतावादी दृष्टिकोण लेकर चलता ही नहीं है। सच पूछा जाय तो उसके दृष्टिकोण का शुद्धता-अशुद्धता से परे होना भी एक महत्वपूर्ण कारण है, जो उसे वैयाकरण से भिन्न व्यक्तित्व देता है। इसी प्रकार यह विभाजन भाषाओं के श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ या मधुर-अमधुर होने की भी कोई बात नहीं करता। वस्तुतः भाषाविज्ञानी इन अर्थों में सोचता ही नहीं है। प्रत्येक भाषा श्रेष्ठ है और यदि कोई बाह्य दबाव न हो तो वह अपने भाषाभाषियों के प्रत्येक कथ्य को अभिव्यंजित करने की सहज क्षमता विकसित करती रहती है। परिवेशों के अन्तर के कारण भाषाओं की शब्दावली में भी अन्तर होता है। कृषि-प्रधान देश की भाषा में कृषि-सम्बन्धी और व्यापार-प्रधान देश की भाषा में व्यापार-सम्बन्धी शब्दों और अभि-व्यंजना-पद्धतियों का पर्याप्त मात्रा में होना स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए, कृषि-प्रधान व्यक्तियों की भाषा लिथुआनी में मटियाले रंग के लिए कम से कम पाँच शब्द हैं। वे पर्यायवाची नहीं हैं क्योंकि उनका प्रयोग विभिन्न पदार्थों के लिए होता है।[2] हिन्दी या अन्य भाषाभाषियों ने मटियाले रंग के पाँच स्तर अनुभव किये होते और उन्हें पाँच विभिन्न शब्दों से प्रकट करना चाहा होता तो इन भाषाओं में भी मटियाले रंग के लिए पाँच शब्द होते। जब कभी ऐसी परिस्थिति आयेगी तो पाँच शब्द हो भी जायँगे। लेकिन वे नहीं हैं तो इसीलिए हिन्दी या अन्य कोई भाषा लिथुआनी से हीन नहीं हो जाती।

पारिवारिक विभाजन का अर्थ केवल यह है कि संसार की विभिन्न भाषाओं में विभिन्नताओं के होते हुए भी मौलिक शब्द समूह, रूपात्मक गठन, ध्वनिग्राम तथा अन्य भाषातात्विक दृष्टियों से समानताएँ हैं। ये समानताएँ संयोगजन्य नहीं हैं। भूगोल से भी इसका समर्थन होता है, क्योंकि उक्त समानताओं वाली भाषाएँ प्रायः ऐसे भूखण्डों

१. An Introduction to Descriptive Linguistics—, Page 372, 1960

२. भाषा, वान्द्रियँज, पृष्ठ २६७ ।

में बोली जाती हैं जिनमें इनके भाषाभाषियों का परस्पर या एकपक्षीय आवागमन सम्भव दीखता है और इनके आवागमन के ऐतिहासिक सूत्र या तो खोजे जा चुके हैं या उनका खोजा जाना केवल समय की बात भर है। हम यह मानते हैं कि लिखित सामग्री के आधार पर हम किसी प्रदेश की भाषा के जिस स्वरूप को पुनर्निमित करते हैं, सम्बन्धित ऐतिहासिक युग में केवल वही भाषा नहीं बोली जाती रही होगी। उसके आसपास साधारण भिन्नताओं और असाधारण समानताओं वाली अनेक बोलियाँ भी रही होंगी और आज की कुछ भाषाएँ, सम्भव है, उन्हीं से विकसित हुई हों। लेकिन हम सम्बन्धित ऐतिहासिक युग की केवल प्रमुख भाषा तक ही पहुँच सके हैं और इसलिए उसी के नाम से उस युग को जानते हैं। जब हम कहते हैं कि उक्त प्रदेश की समसामयिक भाषाएँ और बोलियाँ हमारी उस पुनर्निमित भाषा की सन्तान हैं तब हमारा यह कथन बहुत कुछ वैसा ही है जैसा यह कहना कि हम सब बुद्ध, महावीर या गाँधी की सन्तान हैं। अपने कथनों में हम उक्त अनाम-अज्ञात ऐतिहासिक भाषाओं और बोलियों या बुद्ध, महावीर, गाँधी आदि के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के होने को नकार नहीं रहे हैं। हमारी उक्त पुनर्निमित ऐतिहासिक भाषा पर उसकी समकालीन भाषाओं तथा बोलियों ने अपने प्रभाव छोड़े होंगे। हमने जिस भाषा का पुनर्निर्माण किया है शायद उसमें बहुत सा रूप उक्त भाषाओं तथा बोलियों का ही पुनर्निमित हुआ हो, क्योंकि इनमें और हमारे द्वारा पुनर्निमित भाषा में अनेक समानताएँ रही ही होंगी। आज की भाषाओं तथा बोलियों पर उक्त भाषाओं तथा बोलियों के जो अज्ञात प्रभाव हैं उनका ज्ञान और विश्लेषण हो सके तो इससे अच्छा और क्या होगा? किशोरीदास वाजपेयी ने महाकवि राजशेखर (दसवीं शताब्दी के आरम्भ) की एक पंक्ति, 'कृत्प्रयोगरुचय उदीच्याः' यानी उत्तर भारत के (उत्तर प्रदेश के, उत्तर पश्चिमी क्षेत्र के) व्यक्ति कृदन्त क्रियाएँ बहुत पसन्द करते हैं, उद्धृत करते हुए लिखा है—'राजशेखर ने संस्कृत प्रयोग के सम्बन्ध में यह निर्देश किया है। इसका मतलब यह भी हो सकता है कि इस क्षेत्र के संस्कृत विद्वानों पर अपनी जनभाषा का प्रभाव पड़ा और वे अपनी मातृभाषा की पद्धति पर (संस्कृत के) कृदन्त प्रयोग अधिक करने लगे। यह भी सम्भव है कि संस्कृत नहीं; उस समय की 'खड़ी बोली' के बारे में ही उनकी कलम से ही वैसा निकला हो; यद्यपि संस्कृत-ग्रन्थ में वैसा कह रहे हों। उस समय 'खड़ी बोली' प्रकट होकर जनव्यवहार में मदद दे रही थी।'[1] यह निश्चय ही एक सम्भाव्य स्थिति है। लेकिन वह अज्ञात-रूप प्राचीन खड़ी

१. हिन्दी शब्दानुशासन, पृष्ठ २६, संवत् २०१४।

बोली भी तो संस्कृत या प्राकृत के ही परिवार की रही होगी, या यों कह लें कि संस्कृत या प्राकृत भी तो उसी अज्ञात प्राचीन खड़ी बोली के परिवार की है। वास्तव में एक परिवार की कल्पना व्यापक कल्पना है जिसमें ज्ञात भाषाओं के अतिरिक्त वे सब अज्ञात भाषाएँ भी सम्मिलित हैं जो उपर्युक्त आधारों पर ज्ञात भाषाओं के समान थीं, लेकिन जानकारी के अभाव में जिनका वर्णन भाषाशास्त्रीय ग्रन्थों में नहीं होता। इन अज्ञात भाषाओं ने ज्ञात भाषाओं को और ज्ञात भाषाओं ने अज्ञात भाषाओं को प्रभावित नहीं किया होगा, ऐसा कहना भाषा की प्रकृति से अपरिचय का द्योतक होगा।

संसार में कुल कितने भाषापरिवार हैं? इस प्रश्न पर भाषाविज्ञानियों में पर्याप्त मतभेद हैं। अधिकांश भाषाओं के वर्णनात्मक, तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन के अभाव में इन मतभेदों का होना और भी स्वाभाविक है। जो संख्याएँ बतायी गयी हैं वे प्रायः भाषाशास्त्रियों की निजी मान्यताओं पर आधारित हैं। सन् १८२२ में जर्मन विद्वान् विल्हेल्म फॉन हम्बोल्ड्ट ने संसार में कुल १३ परिवारों की मान्यता व्यक्त की थी। पार्टिरीज के अनुसार यह संख्या १० है। यहाँ आधुनिक विद्वान् राइस (Reiss) का भी उल्लेख कर दिया जाय जो सारे संसार की भाषाओं को केवल एक ही परिवार की मानते हैं। ग्रे के अनुसार संसार में कुल २६ भाषापरिवार हैं। फ्रेडरिक मूलर के मत में यह संख्या १०० है। इसके विपरीत कुछ विद्वान् अकेले अमरीका में ही १०० परिवार मानने के पक्ष में हैं। कुछ भाषाएँ और बोलियाँ ऐसी भी हैं जिन पर स्पष्टतः दो भिन्न परिवारों की भाषाओं के सम्मिलित प्रभाव हैं और जिन्हें सहजता से किसी एक परिवार से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। एच० ए० ग्लीसन ने भाषा और बोली के प्रसंग में जिन कठिनाइयों का मार्मिक विवेचन किया है,[१] वे कठिनाइयाँ उक्त भाषाओं को किसी एक परिवार में वर्गीकृत करने में भी सामने आती हैं। फिर भी निम्नलिखित परिवारों के सम्बन्ध में भाषाविज्ञानियों में सामान्य सहमति है—

१—भारोपीय	६—द्राविड़
२—सैमिटिक	७—मलयपॉलीनेशियन
३—हैमिटिक	८—बंटू
४—यूराल-अल्टाइक	९—बुशमैन
५—चीनी-तिब्बती	१०—सूडानी

१. An Introduction to Descriptive Linguistics, Page 334-337.

११—रेडइण्डियन १२—काकेशी
१३—जापानी-कोरियायी

१. **भारोपीय**—विवेचन के लिए देखें अध्याय १०।

२. **सैमिटिक**—इंजील की पौराणिक कथा के अनुसार हजरत नौह के ज्येष्ठ पुत्र सेम दक्षिण-पश्चिम एशिया (अरब, असीरिया, सीरिया आदि) निवासियों के आदि पुरुष थे। उनके नाम पर ही इस परिवार का नाम सैमिटिक या सामी पड़ा। सैमिटिक भाषाएँ मुख्यतः दक्षिण-पश्चिम एशिया की भाषाएँ हैं? लेकिन इस परिवार की प्रधान भाषा अरबी उत्तरी अफ्रीका में पश्चिम में मोरक्को से लेकर पूर्व में संयुक्त अरब गणराज्य तक भी बोली जाती है।

सैमिटिक परिवार की भाषाओं को दो प्रधान वर्गों में बाँट सकते हैं—उत्तरी वर्ग और दक्षिणी वर्ग। उत्तरी वर्ग में प्राचीन फोनेशियन, यहूदी या हिब्रू, आरमेइक और असीरियन भाषाएँ हैं। इजराइल के निर्माण के उपरान्त यहूदी भाषा का फिर से प्रचार-प्रसार हो रहा है। दक्षिणी वर्ग की प्रधान भाषा अरबी है। अरबी भाषा की क्रमशः बढ़ती हुई प्रधानता ने उत्तरी वर्ग की कई भाषाओं को प्रचार से हटाया है। मुहम्मद साहब और इस्लाम के जन्म के पूर्व भी इस भाषा का महत्व था। सम्भवतः इसी कारण कुरान-शरीफ की रचना अरबी में की गयी। कुरान की रचना के साथ ही अरबी इस्लाम धर्म की भाषा बन गयी और इस्लाम के साथ-साथ प्रचारित होती चली गयी। फलस्वरूप यह सारे अरब, उत्तरी अफ्रीका तथा उत्तर पश्चिमी अफ्रीका में फैल गयी। एक समय स्पेन के मूर लोग इसी भाषा को बोलते थे। यूरोप और भारतवर्ष के मध्यवर्ती प्रदेशों की भाषा होने के कारण अरबी का और भी महत्व था। यूरोपीय भाषाओं को अल्जेबरा, सिफर, जीरो जैसे शब्द अरबी की ही देन हैं। फारसी, तुर्की और उर्दू भाषाओं पर अरबी का भारी प्रभाव है। अरबी भाषाभाषियों की वर्तमान संख्या लगभग ९ करोड़ और हिब्रू या यहूदी भाषाभाषियों की संख्या ३० लाख है। सैमिटिक भाषाएँ एक दूसरी से बहुत भिन्न नहीं हैं।

प्रमुख विशेषताएँ—

(१) धातु प्रायः तीन व्यंजनों की होती है। जैसे—क् त्ल् (मारना), क् त् ब् (लिखना)।

(२) धातु के उक्त व्यंजनों में स्वर जोड़कर पद या रूप बनाये जाते हैं। जैसे—

अरबी क् त् ब् धातु से कातिब (लिखने वाला), किताब, कुतुब (पुस्तकें), कुतुबह् (लेख) आदि।

(३) कभी-कभी धातु से रूप या पद बनाने के लिए स्वर जोड़ने के अतिरिक्त उपसर्ग और प्रत्यय भी जोड़े जाते हैं। जैसे—अरबी भाषा में क् त् ब् धातु से अक्तब (प्रेरणार्थक, उसने लिखवाया), इन्कतब (लिखा गया) आदि।

(४) लिंग-भेद सूचित करने के लिए सैमिटिक भाषाओं में स्त्रीप्रत्यय (–त् या –अत्) जोड़कर स्त्रीलिंग शब्द बनाया जाता है। जैसे असीरियन भाषा में मलक (राजा) से मलकत् (रानी), अरबी में इब्न् (बेटा) से बिन्त् (बेटी)। यही –त् प्रत्यय कहीं-कहीं –थ् > –ह् में विकसित हो गया है। जैसे अरबी मलक् (राजा) से मलकत् के स्थान पर मलकह् (रानी)।

(५) प्राचीन सैमिटिक भाषाओं में संज्ञा की कर्ता, कर्म और सम्बन्ध विभक्तियाँ प्रत्यय जोड़कर बनायी जाती थीं। लेकिन इन भाषाओं के संयोगावस्था से निरन्तर वियोगावस्था की ओर बढ़ते रहने के कारण अब ये कारक रूप हिन्दी भाषा की तरह ही अलग से शब्द जोड़कर बनाये जाते हैं।

(६) समास केवल व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में मिलता है और वह भी केवल दो शब्दों का। आर्य भाषाओं की तरह लम्बी समास-योजना इन भाषाओं में नहीं है। समास का पद-क्रम भी आर्य भाषाओं से उलटा है। जैसे मलक–ह–इजराएल। उर्दू भाषा की समास-पद्धति पर भी सैमिटिक भाषाओं की समास-पद्धति का प्रभाव है। जैसे—अंदाजे-बयाँ (वर्णन का ढंग)।

३. **हैमिटिक**—हजरत नौह के दूसरे पुत्र हेम उत्तर अफ्रीकी निवासियों के आदि-पुरुष थे। उनके नाम पर ही इस परिवार का नाम हैमिटिक या हामी पड़ा। हैमिटिक परिवार की भाषाएँ उत्तर अफ्रीका के सम्पूर्ण प्रदेश में फैली हुई थीं। मध्य और दक्षिण अफ्रीका तक भी ये भाषाएँ बोलचाल में व्यवहृत होती थीं। लेकिन धार्मिक और राजनीतिक कारणों से सैमिटिक परिवार की भाषाओं का आधिपत्य हैमिटिक भाषा-भाषी प्रदेशों में बढ़ता गया। फलस्वरूप हैमिटिक परिवार की बहुत सी भाषाएँ नष्ट हो गयीं। जो जीवित भी हैं उन पर अन्य भाषा-परिवारों के प्रभाव हैं।

हैमिटिक परिवार की मुख्य प्राचीन भाषाएँ मिस्री और काप्टी हैं। मिस्री भाषा में ६००० वर्ष पूर्व तक के लेख सुरक्षित हैं। वर्तमान भाषाओं में सोमालीलैण्ड की सोमाली तथा लीबिया प्रदेश की लीबियन भाषा प्रमुख है। कुछ भाषा-वैज्ञानिकों के अनुसार मध्य अफ्रीका की हौसा भाषा भी इसी परिवार की है। लेकिन वस्तुतः इसे सूडान परिवार के अन्तर्गत रखना ही उचित है। लिंग-भेद के लक्षण के आधार पर कुछ भाषाविज्ञानियों ने बुशमैन भाषाओं को भी इस परिवार के अन्तर्गत समाहित करने की चेष्टा की है। लेकिन किसी एक लक्षण के आधार पर ही किन्हीं भाषाओं को किसी विशेष परिवार के अन्तर्गत समाहित करना उचित नहीं है। हैमिटिक भाषाभाषियों की कुल संख्या लगभग १ करोड़ ७० लाख है।

इस परिवार की भाषाओं में परस्पर बहुत अधिक भिन्नता है। आवागमन के साधनों के अभाव तथा अन्य कारणों से इस परिवार की भाषाओं को बोलने वालों में पारस्परिक सम्पर्क का अभाव रहा। फलस्वरूप भाषाएँ अपने निजी विशिष्ट भाषागत लक्षणों को निर्मित करती हुई स्वतंत्र रूप से विकसित होती रहीं। फिर भी उनके सर्वनामों और –त प्रत्यय जोड़कर स्त्रीलिंग रूप बनाने की पद्धति में उनकी मौलिक एकता सुरक्षित है।

प्रमुख विशेषताएँ—

(१) शब्दों को रूप या पद में बदलने के लिए उपसर्गों तथा प्रत्ययों का प्रयोग होता है।

(२) इन भाषाओं में भी सैमिटिक परिवार की भाषाओं की तरह स्वरपरिवर्तन से सम्बन्धतत्व में परिवर्तन हो जाता है। जैसे—सोमाली भाषा में गल का अर्थ है 'भीतर जाना', लेकिन गलि का अर्थ 'भीतर रखना' है। लिस् का अर्थ आँसू बहुवचन हैं; लेकिन लिस का अर्थ एक आँसू है।

(३) बल देने के लिए पुनरुक्ति का प्रयोग होता है। सोमाली भाषा में लब् का अर्थ तह करना है, लेकिन लब्लब् का अर्थ बार-बार तह करना है।

(४) क्रियाएँ काल का बोध कराने की अपेक्षा कार्य की पूर्णता या अपूर्णता का बोध कराती हैं। काल का बोध कराने के लिए सहायक शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

(५) लिंग-भेद प्राकृतिक पुरुषत्व और स्त्रीत्व पर निर्भर नहीं है। उसका आधार शक्ति या कठोरता है। शक्तिशाली और कठोर जीव या पदार्थ पुंल्लिग और अशक्त तथा कोमल जीव या पदार्थ स्त्रीलिंग में माने जाते हैं। उदाहरण के लिए तलवार पुंल्लिग है, लेकिन चाकू स्त्रीलिंग। हाथी और हथिनी पुंल्लिग हैं, लेकिन नर और मादा दोनों ही खरगोश स्त्रीलिंग। चट्टान पुंल्लिग है, लेकिन पत्थर स्त्रीलिंग।

इन भाषाओं में पुंल्लिग शब्द प्रायः कण्ठ्य व्यंजन से और स्त्रीलिंग शब्द दन्त्य व्यंजन से आरम्भ होते हैं। सोमाली और गल्ला भाषा में यह विशेषता विशेष रूप से द्रष्टव्य है। उदाहरणार्थ गल्ला भाषा में 'तेरा' का वाचक शब्द 'कंक' है लेकिन 'तेरी' का वाचक 'तंते' है।

(६) इस परिवार की भाषाओं का सबसे विचित्र लक्षण यह है कि जब कोई एकवचन संज्ञा बहुवचन में परिवर्तित होती है तो वह लिंग में भी परिवर्तित हो जाती है। पुंल्लिग एकवचन संज्ञा बहुवचन में स्त्रीलिंग और स्त्रीलिंग एकवचन सज्ञा बहुवचन में पुंल्लिग बन जाती है। उदाहरण के लिए सोमाली भाषा में लिबिहिह (शेर) पुंल्लिग है, लेकिन लिबिहह्योदि (अनेक शेर) स्त्रीलिंग; होयोदि (माँ) स्त्रीलिंग है, लेकिन होयो इन -कि (माँएँ) पुंल्लिग। इसे ध्रुवाभिमुख नियम (Law of polarity) कहा जाता है। इन भाषाओं के विशेषज्ञ मेनहाफ़ (Meinhof) के अनुसार इसका कारण यह है कि असंस्कृत मस्तिष्क एक प्रकार के परिवर्तन के साथ दूसरे प्रकार के परिवर्तन की कल्पना भी कर लेता है। वह दोनों परिवर्तनों को अलग-अलग नहीं मान पाता। ध्रुवाभिमुख नियम के कुछ उदाहरण सैमिटिक परिवार की भाषाओं में भी मिलते हैं। लेकिन वे वहाँ अपवादस्वरूप हैं और सम्भवतः हैमिटिक परिवार की भाषाओं के प्रभाव के कारण उनमें पहुँच गये हैं।

सैमिटिक और हैमिटिक दोनों ही परिवारों की भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक हैं। इसके अतिरिक्त भी दोनों में अनेक समानताएँ हैं। यही कारण है कि बहुत से विद्वान् दोनों को एक ही परिवार की मानने के पक्ष में हैं।

४. **यूराल-अल्टाइक**—इस परिवार की भाषाएँ यूराल और अल्टाई पर्वतों के बीच टर्की, हंगरी और फिनलैण्ड से लेकर पूर्व में प्रशान्त महासागर तक और दक्षिण-पश्चिम में भूमध्यसागर से लेकर उत्तर तथा उत्तरपूर्व में उत्तरी सागर तक फैली हुई हैं।

किसी अन्य उपयुक्त नाम के अभाव में यूराल तथा अल्टाई पर्वतों के नाम पर ही इनका नाम यूराल-अल्टाइक पड़ गया। यूराल-अल्टाइक परिवार की भाषाएँ अत्यन्त विस्तृत भौगोलिक क्षेत्र में बोली जाती हैं। भारोपीय परिवार के बाद इतना विस्तृत क्षेत्र इसी परिवार का है। इस परिवार की भाषाओं के दो प्रमुख वर्ग हैं—यूराली और अल्टाई। यूराली वर्ग में फिनलैण्ड की फिनिश और हंगरी की हंगेरियन या मगियार तथा कुछ अन्य भाषाएँ हैं। अल्टाई वर्ग में तीन प्रमुख भाषाएँ हैं—तुर्की, मंगोली और तुंगस, जो क्रमशः तुर्की, मंगोलिया और मंगोलिया के पूर्व में बोली जाती हैं।

यूराल-अल्टाइक परिवार के यूराली वर्ग की भाषाओं पर भारोपीय परिवार की भाषाओं का विशेष प्रभाव पड़ा है। इनके शब्दकोश में भारोपीय परिवार के अनेक शब्द मिल जायेंगे। फिनिश और मगियार भाषाओं पर जर्मन भाषाओं का प्रभाव स्पष्टतः दिखाई देता है। उधर अल्टाई वर्ग की तुर्की भाषा पर इस्लाम के कारण अरबी और फारसी का विशेष प्रभाव रहा है। बीसवीं शताब्दी में मुस्तफा कमाल पाशा के नेतृत्व में तुर्की भाषा पर से अरबी प्रभावों को दूर किया गया। अरबी लिपि के स्थान पर भी रोमन लिपि स्वीकृत हुई।

यूराल-अल्टाइक परिवार के भाषाभाषियों की कुल संख्या लगभग ८ करोड़ ५० लाख है, जिसमें से लगभग ७० लाख व्यक्ति फिनिश, १ करोड़ ३० लाख व्यक्ति हंगेरियन, लगभग २ करोड़ ७० लाख व्यक्ति तुर्की, २० लाख व्यक्ति मंगोली और लगभग १० लाख व्यक्ति तुंगुस भाषाएँ बोलते हैं। ध्वनि और शब्दसमूह की दृष्टि से यूराली तथा अल्टाई वर्ग की भाषाओं में परस्पर बहुत अधिक भिन्नता है। लेकिन व्याकरण की दृष्टि से उनमें इतनी अधिक समानता है कि उन्हें अलग-अलग परिवार की न कहकर एक ही परिवार के दो वर्ग कहा जाता है।

प्रमुख विशेषताएँ—

(१) भाषाएँ अश्लिष्ट अन्त योगात्मक हैं। रूप-रचना के लिए धातु में प्रत्यय जोड़े जाते हैं। एक रूप या पद बनाने में एक से अधिक प्रत्यय भी जुड़ते जाते हैं। फिर भी उन्हें धातु से अलग पहचाना जाता है। क्योंकि रूपरचना की प्रक्रिया में धातुएँ विकृत नहीं होतीं और बड़े से बड़े पद में भी वे आसानी से पहचान ली जाती हैं। जैसे तुर्की भाषा में—

एव	=	घर
एवलेर	=	कई घर
एवलेर इम	=	मेरे घर

(२) संज्ञाओं के साथ प्रत्यय के रूप में प्रायः सम्बन्धवाचक सर्वनामों को जोड़ा जाता है।

(३) मूल धातु के साथ जुड़ने वाले प्रत्ययों के स्वर मूल धातु के स्वर के अनुकूल कर लिये जाते हैं। उदाहरण के लिए तुर्की भाषा में ' –लर' बहुवचन की विभक्ति है। अत् (घोड़ा) के साथ मिलकर पद बनता है अत्लर (घोड़े)। लेकिन यही विभक्ति जब एव (घर) के साथ जुड़ती है तो पद एवलर न होकर एवलेर हो जाता है। प्रत्यय के स्वर द्वारा धातु के स्वर की अनुरूपता ग्रहण करने की यह प्रवृत्ति स्वर-अनुरूपता (Vowel harmony) कही जाती है। यूराल-अल्टाइक परिवार की भाषाओं में इस प्रवृत्ति का विकास अभी हाल ही में हुआ है।

५. **चीनी-तिब्बती**—भारोपीय परिवार की भाषाओं के बाद संसार में चीनी तिब्बती परिवार की भाषाएँ ही सबसे अधिक जनसंख्या द्वारा बोली जाती हैं। चीन, स्याम या थाईदेश, तिब्बत, बर्मा आदि प्रदेशों में यह भाषा-परिवार फैला हुआ है। चीनी भाषा में लगभग ४००० साल पुराना साहित्य उपलब्ध है। तिब्बती भाषा का साहित्य भी समृद्ध है और उसमें ईसा की छठी शताब्दी से संस्कृत तथा पालि ग्रन्थों के अनुवाद भी उपलब्ध होते हैं।

चीनी तिब्बती परिवार की भाषाएँ जिस भौगोलिक खण्ड में बोली जाती हैं उसमें सदैव से आदान-प्रदान के साधनों का अभाव रहा है। फलस्वरूप इस खण्ड में अनेकानेक बोलियाँ पनपी हैं। इन बोलियों में पारस्परिक सम्पर्क के अभाव के कारण अपनी निजी भाषातात्विक विशेषताएँ उत्पन्न होती गयी हैं। अन्य भाषापरिवारों के प्रभावों ने इन्हें इनके मौलिक स्वरूप से और भी दूर कर दिया है। यही कारण है कि आज अनेक भाषाविज्ञानी इन्हें एक ही भाषापरिवार की कहने में संकोच करते हैं। तिब्बती, बर्मी और थाई या स्यामी भाषा की विभिन्न बोलियों पर भारतीय आर्य भाषाओं तथा मुण्डा भाषाओं का प्रभाव पड़ा है। तिब्बती और बर्मी लिपियाँ भी भारतीय लिपियों से निकली हैं।

चीन की राजधानी पेकिंग के आसपास बोली जाने वाली भाषा मन्दारी चीनी-

तिब्बती परिवार के अन्तर्गत चीनी समूह की मुख्य भाषा है। यही चीन की राजभाषा भी है और इसी में प्रचुर साहित्य भी उपलब्ध है। केण्टनी तथा फुकिनी इस समुदाय की अन्य प्रमुख भाषाएँ हैं। इधर तिब्बती भाषा को मन्दारी भाषा के राजनीतिक प्रभुत्व में रहना पड़ रहा है। बर्मी तथा स्यामी क्रमशः बर्मा और स्याम की भाषाएँ हैं। चीनी-तिब्बती परिवार के भाषाभाषियों की कुल संख्या लगभग ७५ करोड़ है जिसमें से लगभग ५१ करोड़ ५० लाख व्यक्ति मंदारी, ५ करोड़ ५० लाख व्यक्ति कैन्टनी, २ करोड़ ५० लाख व्यक्ति स्यामी, २ करोड़ व्यक्ति बर्मी और लगभग ७० लाख व्यक्ति तिब्बती भाषा बोलते हैं।

प्रमुख विशेषताएँ—

(१) भाषाएँ स्थानप्रधान या अयोगात्मक हैं। अर्थात् शब्द वाक्य में अपने स्थान के द्वारा ही सम्बन्धतत्व से युक्त होता है। उदाहरण के लिए 'न्गो त नि' का अर्थ है 'मैं तुम्हें मारता हूँ।' लेकिन 'तू मुझे मारता है' यह अर्थ सूचित करने के लिए हिन्दी भाषा की तरह शब्दों में कोई आन्तरिक परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं होती। शब्दों के स्थान-परिवर्तन मात्र से ही यह भिन्न अर्थ सूचित किया जा सकता है। 'नि त न्गो' का अर्थ होगा 'तू मुझे मारता है।' एक ही शब्द अपने प्रयोग अर्थात् स्थान तथा प्रकरण के अनुसार कभी संज्ञा, कभी विशेषण, कभी क्रिया का कार्य करता है। उदाहरण के लिए 'त' शब्द का अर्थ बड़ाई, बड़ा, बड़ा होना आदि हो सकता है। यह स्थिति यहाँ तक है कि किसी एक प्रयोग में अर्थतत्व का वाचक शब्द किसी अन्य प्रयोग में मात्र सम्बन्धतत्व का वाचक रह जाता है। 'छिह' शब्द का अर्थ कुछ प्रयोगों में जहाँ जाना, वह, सम्बन्ध, रखना आदि है, वहीं मन्दारी के अब अप्रचलित हो गये एक प्रयोग 'मु छिह त्जु' (माता का पुत्र) में वह केवल सम्बन्ध कारक की विभक्ति का अर्थ भर सूचित करता है।

(२) प्रत्येक शब्द एक अक्षर (Syllable) का और एक प्रकार से अव्यय की तरह होता है। वह न घटता-बढ़ता है और न विकृत होता है। शब्दों के एक-अक्षरात्मक होने के कारण ही चीनी-तिब्बती परिवार को कभी-कभी एकाक्षर परिवार भी कहा जाता है। मन्दारी भाषा में ऐसे एकाक्षर शब्दों की संख्या लगभग ४२५ है।

(३) शब्दों की संख्या कम होने के बावजूद उनसे अनेकानेक अर्थ प्रकट कर लिये

जाते हैं। उदाहरण के लिए मन्दारी भाषा अपने लगभग ४२५ शब्दों की सहायता से लगभग ४२०० विभिन्न अर्थों को प्रकट करती है। इसके लिए ये भाषाएँ सुर या तान (Tone) की सहायता लेती हैं। इसीलिए इन भाषाओं को तान भाषाएँ भी कहा जाता है। मन्दारी भाषा में पाँच सुर हैं और एक शब्द विभिन्न सुरों में विभिन्न अर्थ देता है। उदाहरणस्वरूप 'मा' शब्द का एक सुर में अर्थ माता है। लेकिन दूसरे सुर में बोले जाने पर इसी शब्द का अर्थ घोड़ा हो जाता है।

(४) सुर के अतिरिक्त एक अन्य पद्धति से भी इन भाषाओं में अर्थगत स्पष्टता को प्राप्त किया जाता है। प्रायः दो पर्यायवाची शब्दों को साथ-साथ रख दिया जाता है। इससे उनके अन्य अर्थों की ओर ध्यान न जाकर केवल उसी अर्थ की ओर ध्यान जाता है जो दोनों में समान है। उदाहरण के लिए 'ताओ' शब्द के अर्थ हैं सड़क, झंडा, ढक्कन, अनाज आदि। इसी प्रकार 'लू' शब्द के अर्थ हैं सड़क, घुमाव, रत्न, ओस आदि। अब यदि सड़क का अर्थ सूचित करने के लिए इन दोनों शब्दों का प्रयोग साथ-साथ किया जाय तो श्रोता का ध्यान केवल उस अर्थ की ओर जायेगा जो दोनों में समान है और 'ताओलू' कहने से निर्भ्रान्त रूप से अर्थ निकलेगा सड़क।

६. **द्राविड़**--विवेचन के लिए देखें परिशेष—१।

७. **मलयपॉलीनेशियन**--हिन्दमहासागर में अफ्रीका महाद्वीप के दक्षिणपूर्व की ओर स्थित मेडागास्कर द्वीप, एशिया के दक्षिणपूर्व में स्थित मलय प्रायद्वीप, इन्डोनेशिया के विभिन्न द्वीपों, प्रशान्त महासागर में कर्क रेखा से लेकर पैंतालीस दक्षिणी अक्षांश के मध्य स्थित अनेक द्वीपों तथा पूर्व में दक्षिण अमरीका महाद्वीप के चिली देश के पश्चिम में स्थित ईस्टर द्वीप तक छोटे-बड़े अनेक द्वीपों में मलयपॉलीनेशियायी परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। इस परिवार के अन्तर्गत अनेक भाषाएँ हैं जिनकी अपनी अनेकानेक बोलियाँ हैं। इन भाषाओं और बोलियों का नामकरण प्रायः इनके भौगोलिक खण्डों के आधार पर ही कर दिया गया है। इनमें से अधिकांश में अपना कोई साहित्य नहीं है और धीरे-धीरे अन्य भाषापरिवारों की विकसित भाषाएँ इनका स्थान लेती जा रही हैं।

इस परिवार की भाषाओं को पाँच प्रमुख समुदायों में वर्गीकृत किया जाता है—

(क) इण्डोनेशियन या मलायन

(ख) मलेनेशियन

(ग) पालिनेशियन
(घ) पापुआ
(ङ) आस्ट्रेलियन

इन पाँचों को कभी-कभी स्वतंत्र परिवार भी माना जाता है और कभी-कभी केवल प्रथम तीन के लिए ही मलयपॉलीनेशियन परिवार इस संज्ञा का प्रयोग किया जाता है। वास्तव में इन पाँचों को एक ही परिवार के पाँच वर्ग या समुदाय मानना अधिक उपयुक्त है।

(क) इडोनेशियन या मलायन समुदाय के अन्तर्गत मलय (मलय और सुमात्रा में), जावी (जावा के तीन चौथाई भाग में), सुन्दियन (जावा के शेष भाग में), दयक (बोर्नियो में), टगल (फिलीपाइन में), फारमोसी (फारमोसा में), मलगसी या होवा (मैडागास्कर में) आदि भाषाएँ हैं।

(ख) मलेनेशियन समुदाय की भाषाएँ प्रशान्त महासागर के फीजी द्वीप-समूहों में बोली जाती हैं। इनमें फीजी द्वीप की फीजियन भाषा ही मुख्य है जो अपनी गठन में मलय भाषा से मिलती है। केलीडोनी, ल्वायल्ती, हेब्रिडी, सीलोमोनी आदि इस समुदाय की अन्य भाषाएँ हैं।

(ग) पॉलीनेशियन समुदाय की भाषाओं का क्षेत्र मलेनेशियन समुदाय की भाषाओं के दक्षिणपूर्व में है। न्यूजीलैण्ड, टोंगा, समोआ, हवाई, ताहिती तथा मारक्वीसन द्वीपों की भाषाएँ क्रमशः माओरी, टोंगी, समोअयी, ताहिती तथा मारक्वीसीज पॉलीनेशियन समुदाय की प्रमुख भाषाएँ हैं।

(घ) पापुआ समुदाय की भाषाएँ मलायन और पॉलीनेशियन समुदाय के भाषा-क्षेत्रों के मध्य स्थित न्यूगिनी आदि छोटे-छोटे द्वीपों में बोली जाती हैं। इस समुदाय की प्रधान भाषा मफोर है जो न्यूगिनी की भाषा है। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से अब तक केवल इसी भाषा का समुचित अध्ययन हुआ है।

(ङ) आस्ट्रेलियन समुदाय के अन्तर्गत आस्ट्रेलिया तथा तस्मानिया द्वीपों के मूलनिवासियों द्वारा बोली जाने वाली भाषाएँ हैं। प्रधान भाषा मैक्वारी है जो इसी नाम की नदी के आसपास दक्षिणपूर्वी आस्ट्रेलिया में बोली जाती है। भारोपीय परिवार की भाषा अंग्रेजी के कारण, जो अंग्रेजी उपनिवेश-स्थापना के साथ इन प्रदेशों

में पहुँची, मलयपॉलीनेशियन परिवार के इस आस्ट्रेलियन समुदाय की भाषाएँ समाप्त सी हो रही हैं। तस्मानिया से ये भाषाएँ समाप्त हो चुकी हैं और आस्ट्रेलिया में यह प्रक्रिया चल रही है। समूचे आस्ट्रेलिया महाद्वीप की जनसंख्या ९० लाख है जिसमें आस्ट्रेलियन समुदाय की भाषाओं को बोलने वालों की संख्या केवल ५०–६० हजार रह गयी है।

मलयपॉलीनेशियन परिवार के भाषाभाषियों की कुल संख्या १३ करोड़ ५० लाख है, जिसमें लगभग २ करोड़ व्यक्ति मलय, ४ करोड़ ५० लाख व्यक्ति जावी और ५० लाख व्यक्ति सुन्दियन भाषा बोलते हैं।

प्रमुख विशेषताएँ--

(१) लगभग सभी भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं। लेकिन उनमें वियोगात्मकता की प्रवृत्ति बढ़ रही है। मलायन तथा आस्ट्रेलियन समुदाय की भाषाएँ स्पष्टतः अश्लिष्ट योगात्मक हैं। मलेनेशियन समुदाय की भाषाओं में योगात्मक अवस्था का ह्रास हो रहा है। पॉलीनेशियन समुदाय की भाषाओं को अब योगात्मक कहना कठिन है। वे वियोगात्मक अवस्था में हैं और पापुआ समुदाय की भाषाओं में भी यही स्थिति घटित हो रही है।

(२) धातुएँ प्रायः दो अक्षर की हैं और प्रथम अक्षर पर प्रायः बलाघात होता है।

(३) अधिकांश भाषाओं में शब्द की पुनरावृत्ति के माध्यम से कुछ भिन्न अर्थ प्रकट किया जाता है। यह भिन्न अर्थ कभी बहुवचन के रूप में होता है और कभी केवल बल देने के रूप में। जैसे मलय भाषा में रज शब्द का अर्थ है राजा, लेकिन रज-रज का अर्थ बहुत से राजा है। पॉलीनेशियन समुदाय की हवाई भाषा में हुलि का अर्थ ढूँढ़ना है, लेकिन हुलि-हुलि का अर्थ अच्छी तरह ढूँढ़ना होता है।

(४) शब्द के आदि, मध्य या अन्त में प्रत्यय जोड़ कर पद या रूपों की रचना होती है। जैसे—

मलायन परिवार की टगल भाषा में—

सुलत् = लिखना

सुनुलत् = लिखना (तुमन्त रूप)
सुंगमुलत् = लिखा

पापुआ परिवार की मफ़ोर भाषा में—

म्नफ़ = सुनना
ज-म्नफ़ = मैं सुनता हूँ
ज-म्नफ़–उ = मैं तेरी बात सुनता हूँ
सी-म्नफ़ = वे सुनते हैं

(५) कुछ भाषाओं, विशेष कर मलेनेशियन समुदाय की भाषाओं में एकवचन, द्विवचन और बहुवचन के अतिरिक्त त्रिवचन भी पाया जाता है।

८. **बंटू**—इस परिवार की प्रायः सभी भाषाओं में साधारण ध्वन्यन्तरों के साथ बंटू शब्द का प्रयोग होता है जो आदमी का अर्थबोध कराता है। इसी शब्द के आधार पर इस भाषा-परिवार का नाम बंटू रख दिया गया है। बंटू परिवार की भाषाएँ अफ्रीका महाद्वीप में भूमध्यरेखा के दक्षिण में पश्चिमी तट से पूर्वी तट तक, अर्थात् लगभग १० पूर्वी देशान्तर से ४० पूर्वी देशान्तर तक बोली जाती हैं। उनके दक्षिण पश्चिम में होटेन्टोट और बुशमैन परिवार की भाषाओं तथा उत्तर में सूडानी परिवार की भाषाओं का क्षेत्र है। बुशमैन तथा होटेन्टोट के उत्तर में बंटू परिवार का भाषाक्षेत्र अफ्रीका के पश्चिमी तट तक फैला हुआ है। इस प्रकार बंटू परिवार की भाषाओं के क्षेत्र के पूर्व में हिन्दमहासागर और पश्चिम में अटलांटिक महासागर है। पूर्वी तट पर स्थित जंजीवार द्वीप की स्वाहिली भाषा भी इसी परिवार की भाषा है।

बंटू परिवार में लगभग १५० भाषाएँ हैं जिन्हें तीन समूहों में बाँटा जाता है—

पूर्वी—प्रधान भाषाएँ काफिर तथा जुलू
मध्यवर्ती—प्रधान भाषा सेसुतो
पश्चिमी—प्रधान भाषा काँगो

एक स्वाहिली को छोड़कर इस परिवार की अन्य किसी भी भाषा में साहित्य उपलब्ध नहीं होता। स्वाहिली में अवश्य अरबी लिपि में लिखे हुए कुछ लेख मिलते हैं। वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के आधुनिक अध्येताओं का ध्यान इस परिवार की, विशेषकर इसकी स्वाहिली भाषा की ओर आकर्षित हुआ है। लगभग ७ करोड़ ५० लाख व्यक्ति बंटू परिवार की भाषाएँ बोलते हैं, जिनमें से लगभग १ करोड़ व्यक्तियों की भाषा

स्वाहिली है। शेष ६ करोड़ ५० लाख व्यक्ति अन्य भाषाएँ जिनमें रुआण्डा, जुलू, खोसा, गण्डा, काँगो आदि मुख्य हैं, बोलते हैं।

प्रमुख विशेषताएँ—

(१) भाषाएँ अश्लिष्ट पूर्वयोगात्मक हैं। अर्थात् शब्द से रूप बनाने के लिए इनमें उपसर्गों को जोड़ा जाता है। जैसे जुलू भाषा में—

न्तु	=	आदमी
उमुन्तु	=	एक आदमी
अबन्तु	=	कई आदमी
न्गाउमुन्तु	=	आदमी से
न्गाअबन्तु	=	आदमियों से

शब्द के अन्त में प्रत्यय जोड़कर भी रूप बनाये जाते हैं। जैसे काफिर भाषा में—

तन्द्–अ	=	प्यार
तन्द्–इस	=	प्यार करना
तन्द्–अन	=	परस्पर प्यार करना
तन्द्–इसन	=	परस्पर प्यार कराना

लेकिन उपसर्ग जोड़कर रूप बनाने की तुलना में यह प्रवृत्ति इन भाषाओं में अत्यन्त कम मात्रा में ही मिलती है। इसलिए प्रधान प्रवृत्ति उपसर्ग जोड़कर पद बनाने की ही कही जा सकती है।

(२) भाषाओं में लिंग-विचार का अभाव है।

(३) भाषाएँ श्रुतिमधुर हैं। क्योंकि सभी शब्द स्वरान्त होते हैं और संयुक्त व्यंजनों का अभाव सा है। अन्य भाषाओं से लिये गये शब्द भी इन भाषाओं में इनकी अपनी ध्वनि-प्रकृति के अनुकूल ढल जाते हैं। जैसे (अंग्रेजी) क्राइस्ट > (बंटू) किरिसित।

(४) इन भाषाओं में भी यूराल-अल्टाइक परिवार की भाषाओं की तरह ध्वनि-अनुरूपता पायी जाती है। लेकिन यूराल-अल्टाइक परिवार की भाषाओं में जहाँ केवल स्वर-अनुरूपता है वहाँ इन भाषाओं में ध्वनि मात्र की अनुरूपता होती है। एक दूसरा अन्तर यह है कि यूराल-अल्टाइक परिवार की भाषाओं में मूल धातु

के साथ जुड़ने वाले प्रत्ययों के स्वरों को मूल धातु के स्वरों के अनुकूल किया जाता है। लेकिन इसके विपरीत इन भाषाओं में उपसर्ग के अनुसार ही पद में ध्वनि-अनुरूपता उत्पन्न की जाती है। इस प्रकार यूराल-अल्टाइक परिवार में जहाँ मूल धातु की ध्वनियाँ अनुरूपता के लिए आदर्श प्रस्तुत करती हैं, वहाँ इन भाषाओं में यह आदर्श उपसर्ग की ध्वनियों के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।

९. **बुशमैन**—दक्षिण अफ्रीका में उत्तर में नगामी झील या लगभग बीस दक्षिणी अक्षांश से दक्षिण में ऑरेन्ज नदी और पूर्व में लगभग पच्चीस देशान्तर से पश्चिम में अटलांटिक महासागर के तट तक बुशमैन भाषापरिवार का क्षेत्र है। इस क्षेत्र में बसने वाले मूल निवासियों की संज्ञा बुशमैन है, इसलिए इनकी भाषाओं का परिवार भी बुशमैन कहलाता है। बुशमैन भाषाएँ दक्षिण अफ्रीका की प्राचीनतम भाषाएँ हैं। लेकिन साहित्य के नाम पर इनमें लोकगीत और कथाओं के रूप में केवल मौखिक साहित्य ही है। डॉ० ब्लीक तथा कुमारी ल्वायड ने बुशमैन भाषाओं का विशेष अध्ययन किया है।

बुशमैन परिवार की प्रमुख भाषाएँ स्वयं बुशमैन तथा होटेन्टोट हैं। होटेन्टोट भाषा बुशमैन भाषाओं के पश्चिम में बोली जाती है। इन दो प्रमुख भाषाओं के अतिरिक्त अन्य अनेक छोटी छोटी बोलियाँ और भाषाएँ भी बुशमैन परिवार में सम्मिलित हैं। बुशमैन परिवार की भाषाओं ने अपने समीपवर्ती भाषापरिवारों की भाषाओं को प्रभावित किया है और स्वयं भी उनसे प्रभावित हुई हैं। उदाहरण के लिए, बंटू परिवार की जुलू भाषा के ध्वनि-समूह पर इन भाषाओं का और इस परिवार की होटेन्टोट भाषाओं पर हैमिटिक परिवार की भाषाओं का प्रभाव देखा जा सकता है।

बुशमैन परिवार के भाषाभाषियों की कुल संख्या लगभग ३ लाख है, जिसमें से लगभग २ लाख ५० हजार व्यक्ति होटेन्टोट भाषा और ५० हजार व्यक्ति बुशमैन भाषा बोलते हैं। उपनिवेशों की स्थापना और बाद में स्थापित हुए गोरे प्रवासियों के शासन और शासननीति के कारण अफ्रीका के अन्य भाषाभाषियों की तरह ही बुशमैन परिवार के भाषाभाषियों की संख्या भी दिन प्रति दिन कम होती जा रही है।

प्रमुख विशेषताएँ—

(१) भाषाएँ अश्लिष्ट अन्तर्योगात्मक हैं। लेकिन वे क्रमशः वियोगात्मकता की ओर उन्मुख हो रही हैं।

(२) दन्त्य, मूर्धन्य, पार्श्विक, तालव्य, ओष्ठ्य आदि क्लिक ध्वनियों का प्रयोग भी इन भाषाओं में भाषाध्वनि के रूप में होता है ।

(३) लिंग-भेद पुरुषत्व और स्त्रीत्व पर आधारित न होकर सजीवत्व और निर्जीवत्व पर आधारित है ।

(४) बहुवचन बनाने की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं, जिनमें पुनरावृत्ति या अभ्यास की पद्धति प्रमुख है । अर्थात् बहुवचन का बोध कराने के लिए एकवचन संज्ञा की पुनरुक्ति कर दी जाती है ।

१०. **सूडानी**—अफ्रीका महाद्वीप में भूमध्यरेखा के उत्तर और सैमिटिक भाषा-परिवारों के दक्षिण में पूर्व से पश्चिम तक सूडानी परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं । इस परिवार में लगभग ४३५ भाषाएँ हैं । लेकिन पाँच-छह भाषाओं को छोड़कर अन्य कोई भी भाषा लिपिबद्ध नहीं है । इस परिवार की भाषाओं को चार प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जाता है—सेनेगल, ईव, मध्यवर्ती और नीलोत्तरी । प्रथम वर्ग की बोलोफ़, द्वितीय वर्ग की ईव, तृतीय वर्ग की हौसा तथा चतुर्थ वर्ग की बारी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । सूडानी परिवार के भाषाभाषियों की कुल संख्या लगभग १० करोड़ है, जिसमें १ करोड़ ५० लाख व्यक्ति हौसा तथा शेष इबो, ईव, एफिक आदि भाषाएँ बोलते हैं ।

प्रमुख विशेषताएँ—

(१) भाषाएँ चीनी भाषा की भाँति मुख्यतः अयोगात्मक हैं ।

(२) चीनी भाषा की तरह ही एकाक्षर धातुओं का प्रयोग होता है और उनमें उपसर्ग तथा प्रत्यय नहीं जोड़े जाते । उपसर्ग तथा प्रत्यय के अभाव के कारण ये भाषाएँ एक ही वाक्य के द्वारा मिश्रित भावों तथा क्रियाओं का बोध नहीं करा पातीं । फलस्वरूप मिश्रित भाव या क्रियाबोध कराने के लिए इनमें अनेक छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग होता है । उदाहरण के लिए 'वह बाजार से घर आया' इस अर्थ का बोध कराने के लिए इन भाषाओं में तीन छोटे वाक्यों का प्रयोग किया जायेगा—उसने बाजार छोड़ा । वह चला । वह घर आया ।

(३) शब्द स्वयं लिंग-भेद के आधार पर निर्मित नहीं हैं । लेकिन लिंग भेद

दिखाने के लिए नर और मादा बोधक शब्दों को अलग से जोड़कर लिंग-भेद सूचित किया जाता है।

(४) बहुवचन का बोध कराने के लिए भी शब्दों में अपनी कोई आन्तरिक व्यवस्था नहीं है। कभी-कभी अन्यपुरुष वाचक सर्वनाम को संज्ञा के साथ रखकर बहुवचन का बोध कराया जाता है।

(५) भाषाओं में सुर या तान का प्रयोग करके अर्थपरिवर्तन किया जाता है।

(६) इन भाषाओं में क्रियाविशेषणों के अत्यन्त सूक्ष्म और चित्रात्मक प्रयोग हैं, जिनसे रूप, गति, भाव और अवस्था के सूक्ष्म से सूक्ष्म अन्तरों को सूचित किया जाता है। जैसे—

ज़ो क क	=	सीधे चलना
ज़ो त्य त्य	=	जल्दी जल्दी चलना
ज़ो सिस	=	छोटे छोटे कदम रखकर चलना
ज़ो त्यो त्यो	=	लम्बे आदमी की चाल चलना
ज़ो लुमो लुमो	=	चूहे आदि छोटे जानवरों की तरह चलना

११. **रेडइण्डियन**—उत्तर तथा दक्षिण अमरीका महाद्वीपों के मूल निवासियों की भाषाएँ रेडइण्डियन परिवार की भाषाएँ कहलाती हैं। ईसा की १५वीं शताब्दी के अन्त में भारतवर्ष की खोज करता हुआ कोलम्बस का जहाज अमरीका जा पहुँचा था। इण्डिया के भ्रम में यहाँ के मूलनिवासियों का नाम इण्डियन पड़ गया जो भ्रमनिवारण के उपरान्त भी ज्यों का त्यों बना रहा। हाँ, भारतवर्ष के निवासियों से भिन्नता सूचित करने के लिए इण्डियन शब्द के पूर्व रेड शब्द अवश्य जोड़ दिया गया। इनके इस नाम पर ही इनके भाषापरिवार का नाम रेडइण्डियन पड़ा।

आरम्भ में स्पेन निवासियों ने फ्लोरिडा और वेस्टइण्डीज में अपने उपनिवेश बनाये थे। उनकी देखा-देखी फ्रांस, हालैण्ड और स्वीडन के लोग भी पहुँचे। १६०४ ईसवी में इंग्लैण्ड के जेम्स प्रथम ने अंग्रेजों के उपनिवेश बसाने के अधिकार की माँग की और उन्हें अमरीका के ऐसे भागों में जाकर बसने की अनुमति दे दी जिनमें अन्य देशों के निवासी न हों। धीरे-धीरे इन यूरोपवासियों की प्रमुखता बढ़ती गयी। उनका विस्तार होता गया और मूल निवासी, जिनकी संख्या कोलम्बस के समय में

४–५ करोड़ रही होगी, घटती गयी। आज इस परिवार के भाषाभाषियों की कुल संख्या लगभग १ करोड़ २० लाख है।

रेडइण्डियन परिवार में लगभग ४०० भाषाएँ और बोलियाँ हैं। लेकिन इनमें से अधिकांश अत्यन्त अल्प प्रचलित हैं। उनकी न तो कोई लिपि है और न कोई साहित्य ही। केवल नहुअत्ल और मय भाषाओं के पास अपनी लिपि है। नहुअत्ल में यूरोपीय सम्पर्क के पूर्व ही लेखन कला का विकास हो चुका था। इस परिवार की कुछ भाषाओं को ईसाई धर्म-प्रचार का माध्यम भी बनाया गया है। दक्षिण अमरीका में मूल निवासियों के इंका नाम के साम्राज्य की राजभाषा कुई चुआ थी। स्पेनी विजेताओं ने इसी के माध्यम से यहाँ धर्म प्रचार किया।

रेडइण्डियन भाषाओं को भौगोलिक आधार पर उत्तर और दक्षिण अमरीकी वर्गों में वर्गीकृत किया गया है। ग्रीनलैण्ड तथा लेब्रोडोर की एस्किमो, उत्तर-पश्चिम कनाडा की अथबस्कन, हडसन की खाड़ी के आसपास अर्थात् उत्तर-पूर्वी कनाडा की अल्गोनकिन और मैक्सिको की प्राचीन नहुअत्ल तथा आधुनिक अजतेक और मय उत्तर अमरीकी वर्ग की प्रमुख भाषाएँ हैं। भूमध्यरेखा के दोनों ओर उत्तरपूर्वी महाद्वीप (दक्षिण अमरीका) की करीब और अरोवक, दक्षिण पीरू और उत्तर चिली की कुई चुआ तथा अपमारा, चिली की विभिन्न बोलियाँ, लगभग ५ दक्षिणी अक्षांश से २५ दक्षिणी अक्षांश के बीच मध्य भाग की तुपी गुअर्नी और सुदूर दक्षिणपूर्व के कोने की टेराडेल फ्यूगो भाषाएँ दक्षिण अमरीकी वर्ग में हैं। इन भाषाओं की, जैसा कि कहा जा चुका है, विभिन्न बोलियाँ हैं और इनके आसपास सर्वत्र भारोपीय परिवार की भाषाओं का प्रभुत्व है।

प्रमुख विशेषताएँ—

(१) भाषाएँ प्रश्लिष्ट योगात्मक हैं।

(२) वाक्य बनाने के लिए प्रत्येक शब्द की एक-एक प्रधान ध्वनि या अक्षर को लेकर एक साथ मिला दिया जाता है और सम्पूर्ण वाक्य एक लम्बे शब्द के रूप में प्रतीत होता है। दक्षिण अमरीका की चेरोकी भाषा से उदाहरण लिया जा सकता है—

नतेन् = लाओ
अमोखोल् = नाव
निन् = हमको

यह सूचित करने के लिए कि हमारे लिए नाव लाओ, उक्त तीनों शब्दों के अंशों को जोड़कर वाक्य बनता है—नधोलिनिन् ।

(३) भाषाओं में स्वतंत्र शब्दों का प्रयोग नहीं के बराबर है ।

१२. **काकेशी**—यूरोप में पूर्व में केस्पीयन सागर तथा पश्चिम में काले सागर और लगभग ४० उत्तरी अक्षांश से ४५ उत्तरी अक्षांश के मध्यवर्ती काकेशस पर्वत के भूभाग की भाषाएँ इसी पर्वत के नाम पर काकेशी परिवार की भाषाएँ कहलाती हैं । इन भाषाओं का प्रदेश यूराल-अल्टाइक तथा भारोपीय परिवार की भाषाओं के भूभागों से घिरा हुआ है । सैमिटिक परिवार की भाषाओं का क्षेत्र भी इसके दक्षिण-पश्चिम पड़ोस में स्थित है। इन शक्तिशाली भाषापरिवारों से घिरे होने पर भी काकेशी परिवार की भाषाओं की निजी विशेषताएँ निरन्तर बनी रहीं। यही कारण है कि उसे उक्त तीनों परिवारों के अन्तर्गत समाहित नहीं किया जा सका है।

पहाड़ी प्रदेश का भाषापरिवार होने के कारण इस परिवार के अन्तर्गत सीमित भूभाग और सीमित भाषाभाषियों के बावजूद अनेकानेक बोलियों का होना स्वाभाविक है । लेकिन मुख्य भेद उत्तर और दक्षिण की भाषाओं के मध्य है जिन्हें उत्तर और दक्षिण काकेशी कहा जाता है । दक्षिण काकेशी के अन्तर्गत जार्जियन भाषा काकेशी परिवार की सबसे अधिक महत्व की भाषा है । उसकी अपनी लिपि है और उसमें पर्याप्त साहित्य भी है। उत्तर काकेशी वर्ग की किसी भाषा के पास अपनी लिपि और साहित्य नहीं है । दक्षिण काकेशी वर्ग की भाषाओं में उत्तर काकेशी वर्ग की भाषाओं की अपेक्षा पारस्परिक सम्पर्क भी अधिक है। लगभग ५० लाख व्यक्ति काकेशी परिवार की भाषाएँ बोलते हैं ।

प्रमुख विशेषताएँ—

(१) भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं। शब्दों से रूप बनाने के लिए उनमें उपसर्ग और प्रत्यय दोनों का ही प्रयोग किया जाता है । लेकिन इनका योग इस प्रकार होता है कि कभी-कभी मूल शब्द या धातु को ढूँढ़ पाना सरल नहीं होता । उदाहरण के लिए, खसीकुमुक बोली में 'अइ' (बनाना) धातु से उन्द, अन्द, आ, अइसर आदि रूप बनते हैं । लेकिन इन सभी में अइ धातु को खोज पाना सरल कार्य नहीं है ।

(२) कुछ बोलियों (जैसे चेचेन) में छह लिंग माने जाते हैं ।

(३) अवर जैसी कुछ बोलियाँ संज्ञा की तीस विभक्तियों का प्रयोग करती

हैं । स्पष्ट है कि विभक्तियों और लिंगों की अधिक संख्या के कारण इस परिवार की भाषा में पद-रचना की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल है ।

(४) उत्तर काकेशी वर्ग की भाषाओं में व्यंजनों की अधिकता और स्वरों की कमी है ।

१३. **जापानी-कोरियायी**--विभिन्न भाषातात्विक समानताओं के आधार पर संसार की भाषाओं को विभिन्न भाषापरिवारों में वर्गीकृत करने के बावजूद अनेक भाषाएँ ऐसी हैं जिन्हें किसी एक परिवार से सम्बद्ध करना सम्भव नहीं हो सका है। कोरिया और जापान की भाषाएँ आरम्भ में इसी प्रकार की भाषाएँ मानी जाती थीं। इन भाषाओं को यूराल-अल्टाइक परिवार और कभी-कभी भारोपीय परिवार से भी जोड़ने का प्रयत्न हुआ है । इधर जापानी-कोरियायी नाम से एक स्वतंत्र परिवार मानने की प्रवृत्ति बढ़ रही है । पहले जापानी और कोरियायी को परस्पर असम्बद्ध समझा जाता था । लेकिन अब दोनों के पारस्परिक सम्बद्धता-सूत्र स्पष्ट हो चुके हैं ।

जापानी और कोरियायी दोनों ही समृद्ध भाषाएँ हैं और दोनों की ही अपनी लिपियाँ हैं । कोरियायी की वर्तमान लिपि ब्राह्मी से विकसित हुई है और जापानी लिपि का मूल चीनी लिपि है, जिसे किसी संस्कृत भाषा के विद्वान् ने जापानी भाषा के अनुकूल ढाला था । इन भाषाओं के अन्तर्गत कई बोलियाँ हैं । लेकिन राजधानियों के आस-पास बोली जाने वाली भाषाओं में ही साहित्य-सर्जन का विशेष कार्य हुआ है। लगभग १३ करोड़ व्यक्ति जापानी कोरियायी भाषाएँ बोलते हैं । इनमें से जापानी भाषाभाषियों की संख्या ९ करोड़ ५० लाख तथा कोरियायी भाषाभाषियों की संख्या ३ करोड़ ५० लाख है ।

प्रमुख विशेषताएँ—

(१) भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं और रूप बनाने के लिए मुख्य रूप से शब्द के अन्त में प्रत्ययों का योग किया जाता है ।

(२) संज्ञा शब्दों का सम्बन्ध स्पष्ट करने के लिए परसर्गों का प्रयोग किया जाता है । उदाहरण के लिए जापानी भाषा में दे (द्वारा), नि (में), नो (का), उए (पर) आदि परसर्गों का प्रयोग होता है ।

(३) बहुवचन का बोध कराने के लिए पुनरुक्ति या अभ्यास का प्रचलन है। जैसे जापानी भाषा में—

यामा = पहाड़
यामा यामा = कई पहाड़

१४. **मोनख्मेर**---वियतनाम, कम्बोडिया और लाओस की भाषाएँ तथा भारत के कुछ छोटे भूप्रदेशों की मुण्डा भाषाएँ मोनख्मेर भाषापरिवार के अन्तर्गत आती हैं। बर्मा की मर्तबान खाड़ी के आसपास के निवासी मान तथा बर्मा और स्याम के सीमा-प्रदेश पर रहने वाले ख्मेर कहलाते हैं। इन दो जातियों के आधार पर ही इस भाषापरिवार का नाम मोनख्मेर है। लगभग ४ करोड़ ५० लाख व्यक्ति मोनख्मेर परिवार की भाषाएँ बोलते हैं। इस भाषापरिवार की प्रमुख विशेषताओं पर परिशेष--१ में विचार किया गया है।

उपर्युक्त भाषापरिवारों में संसार की अधिकांश भाषाएँ समाहित हैं। फिर भी कुछ प्राचीन और कुछ अर्वाचीन ऐसी भाषाएँ हैं जो किसी भी भाषापरिवार से सम्बद्ध नहीं की जा सकी हैं। ऐसी प्राचीन भाषाओं में रोमन साम्राज्य की स्थापना के पूर्व इटली के मध्य और उत्तरी प्रदेश में बोली जाने वाली एत्रुस्कन, बेबीलोन के साम्राज्य की भाषा सुमेरी, जिसमें ४ हजार ईसापूर्व तक की लिपिबद्ध सामग्री सुरक्षित है, मुख्य हैं। अर्वाचीन भाषाओं में जापान के उत्तरी टापुओं में बोली जाने वाली भाषा एनु, फ्रान्स और स्पेन की सीमा पर पेरीनीज पर्वत के पश्चिमी भाग में बोली जाने वाली बास्क, साइबेरिया के उत्तर-पूर्वी प्रदेश तथा समीप के कुछ द्वीपों में बोली जाने वाली हाइपरबोरी, अण्डमन द्वीप की अण्डमनी और रंगून के पूर्व में बोली जाने वाली करेनी मुख्य हैं।

भारोपीय परिवार

पूर्व में बंगाल से लेकर पश्चिम में यूरोप के आयरलैण्ड द्वीप तक की, तुर्की और हंगरी के भूभागों की भाषाओं को, जो यूराल-अल्टाई परिवार में हैं, छोड़कर, सम्पूर्ण भाषाएँ एक ही परिवार की भाषाएँ हैं। मुख्य रूप से भारत और यूरोप में बोले जाने के कारण इन भाषाओं के परिवार को भारोपीय परिवार कहा गया है। भारत और यूरोप के अतिरिक्त संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड आदि में गोरी आबादी द्वारा बोली जाने वाली भाषाएँ भी भारोपीय परिवार की ही हैं। लेकिन इन भूभागों में यूरोप के निवासी ही जाकर बसे हैं। इसलिए भाषा-परिवार के नामकरण में इन्हें महत्व नहीं दिया गया है।

आबादी, भौगोलिक क्षेत्रफल और साहित्यिक तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों की दृष्टि से अन्य भाषा-परिवारों की तुलना में यह सबसे अधिक समृद्ध परिवार है। इस परिवार की भाषाओं का सर्वाधिक अध्ययन किया गया है और भाषाविज्ञान के अध्ययन की ऐतिहासिक, तुलनात्मक तथा वर्णनात्मक तीनों ही पद्धतियों का जन्म और विकास मूलतः इसी परिवार की भाषाओं के सन्दर्भ में हुआ है। इस प्रकार यह एक महत्वपूर्ण परिवार है।

इस परिवार का नामकरण आरम्भ से ही विवादास्पद रहा है। इण्डो-जर्मनिक, इण्डोकैल्टिक, आर्य, संस्कृत, जफेटिक आदि इसके विभिन्न नाम विभिन्न या एक समय में प्रचलित रहे हैं। इण्डोजर्मनिक और इण्डोकैल्टिक नामों का आधार भौगोलिक है। इण्डोजर्मनिक नाम से भारत से लेकर इंग्लैण्ड (जर्मनिक नाम जर्मन भाषा के लिए नहीं, जर्मनिक वर्ग की भाषाओं के लिए प्रयुक्त होता है जिसमें जर्मन, अंग्रेजी, डच, स्वेडिश, डैनिश आदि भाषाएँ हैं) तक की और इण्डोकैल्टिक नाम से भारत से लेकर आयरलैण्ड तक की भाषाओं का द्योतन होता है। मात्र भौगोलिक आधार को ही महत्व देना है तो इण्डोजर्मनिक की तुलना में इण्डोकैल्टिक नाम अधिक उपयुक्त है। क्योंकि वह इस परिवार की धुर पश्चिम सीमा तक का भी बोध कराता है। भारोपीय परिवार की भाषाओं के तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन का महत्वपूर्ण कार्य सर्वप्रथम जर्मन विद्वानों के द्वारा ही हुआ था। उन्होंने ही इसे इण्डो-जर्मनिक नाम दिया। इस प्रकार यह नाम सबसे अधिक प्राचीन नाम है और जर्मनी

में अब भी प्रचलित है । लेकिन अन्य देशों में न तो इण्डोजर्मनिक नाम का ही प्रचार है और न इण्डोकैल्टिक नाम का ही ।

आर्य नामकरण के पीछे जातीय आधार है । मैक्समूलर और येस्पर्सन आदि भाषाविज्ञानी इसी नाम के समर्थक रहे । लेकिन एक तो यह धारणा भ्रामक सिद्ध हुई है कि इस परिवार के प्राचीन भाषाभाषी आर्य जाति के ही थे । दूसरे, आर्य शब्द का प्रयोग इस परिवार की एक शाखा भारत और ईरान (ईरान की व्युत्पत्ति ही आर्याणाम् से है, आर्याणाम् > अइराण > ईरान) की भाषाओं—भारत-ईरानी के लिए रूढ है । इन दो कारणों से आर्य नाम की उपयुक्तता सदैव विवादास्पद रही है ।

संस्कृत या सास्कृतिक नाम के पीछे इस परिवार में संस्कृत के महत्व का आधार है । लेकिन किसी एक भाषा के आधार पर नामकरण करना उचित नहीं है। दूसरे, यह धारणा भी मिथ्या है कि इस परिवार में अन्य भाषाओं की तुलना में संस्कृत भाषा का विशेष महत्व है। तालव्य नियम की खोज के उपरान्त तो यह स्पष्टत: सिद्ध हो गया है कि संस्कृत भाषा ग्रीक तथा लैटिन भाषाओं की तुलना में मूल भारोपीय के अधिक निकट नहीं है ।

सेमिटिक और हैमिटिक के वजन और हजरत नौह के तीसरे पुत्र जेफ के नाम पर रखे गये जफेटिक नाम का आधार भी जातीय ही है। लेकिन कितने ही जफेटिक कहलाने वाले व्यक्ति भारोपीय परिवार की भाषाओं से भिन्न भाषाओं को बोलते हैं। इसलिए यह नाम बहुत वैज्ञानिक नहीं है।

वास्तव में इस परिवार के लिए भारोपीय नाम पर्याप्त प्रचलित और स्वीकृत नाम है। यह भारत तथा यूरोप इन दो विस्तृत भूखण्डों के नामों के आधार पर बना है जिनमें इस परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। एक बार कोई नाम प्रचलित हो जाता है तो वह पर्याप्त अर्थवत्ता ग्रहण कर लेता है और नाम में कुछ दोष होने पर भी उससे संकेतित वस्तु का स्पष्ट बोध होने लगता है। इसलिए इस परिवार का नाम भारोपीय परिवार ही रहा आये तो इसमें कोई हानि नहीं है ।

भाषाविज्ञानियों ने भारोपीय भाषा की पूर्ववर्ती भाषा को भी पुनर्निर्मित करने का यत्न किया है। उसके जिन शब्दों का पुनर्निर्माण किया गया है उनमें एक शब्द है *विरोस् (*Wiros) । संस्कृत वीर, लैटिन उईर, जर्मन वेर, प्राचीन आइरी फेर आदि शब्द उक्त *विरोस् शब्द के ही परवर्ती विकसित रूप माने गये हैं। भारोपीय

की पूर्ववर्ती भाषा बोलने वालों को भी विरोस् ही कहा गया है। इसी आधार पर उक्त भाषा के लिए विरोस् नाम सुझाया गया है। उसके लिए एक दूसरा सुझाव भारोपीय-हित्ती नाम का है। एशिया माइनर के बोगाजकुई नामक स्थान की खुदाई में सबसे पहले १८९३ ईसवी में ह्यूगो विंकलर को प्राप्त कुछ कीलाक्षर लेखों से हित्ती भाषा का अस्तित्व प्रकाश में आया। परवर्ती खोजों ने इस पर और भी प्रकाश डाला और यह सिद्ध हुआ कि हित्ती भाषा भारोपीय भाषा की पुत्री नहीं, बहिन है। भारोपीय तथा हित्ती इन दोनों भाषाओं के मातृत्व को वहन करने वाली भाषा का नाम इन दोनों के मिले-जुले नाम पर रखा जाना उचित ही है। इस प्रकार विरोस् या भारोपीय-हित्ती से दो भाषाओं का विकास हुआ—हित्ती और भारोपीय। फिर भारोपीय से केंतुम् तथा शतम् वर्ग के नाम से विख्यात अनेक भाषाओं का विकास हुआ।

हित्ती भाषा—एशिया माइनर का बोगाज़कुई नामक स्थान १७०० ई० पू० से १२०० ई० पू० तक हित्ती साम्राज्य की राजधानी था। हित्ती भाषा इसी साम्राज्य की भाषा थी। यहाँ १८९३ ईसवी के उपरान्त १९०५ से १९०७ ईसवी तक और फिर १९३१ से १९३९ ईसवी तक निरन्तर खुदाई के फलस्वरूप प्रभूत मात्रा में सन्धिपत्र, राजघोषणाएँ, गाथाएँ, प्रार्थनाएँ, जादू टोनों के विवरण, पौराणिक कथाएँ, अश्वप्रशिक्षण सम्बन्धी साहित्य और सुमेरी, अक्कादी तथा हित्ती शब्दों का एक त्रिभाषीय शब्दकोश प्राप्त हुआ है। यह सम्पूर्ण सामग्री मुख्य रूप से बेबीलोनियन क्यूनीफार्म लिपि में अंकित है।

हित्ती भाषा-क्षेत्र सैमिटिक भाषा-क्षेत्र के निकट है। इसलिए हित्ती भाषा पर सैमिटिक भाषाओं का प्रभाव होना स्वाभाविक है। सम्भवतः इस प्रभाव को देखते हुए ही सईस आदि भाषाविज्ञानी इसे सैमिटिक परिवार की मानते थे। लेकिन वास्तव में केवल हित्ती शब्द-समूह पर ही सैमिटिक प्रभाव है। अन्य सभी बातों में वह भारोपीय के निकट है। १९१७ ईसवी में ज़ेक भाषाविज्ञानी बी० ह्राज़्नी (Hrozny) ने इसका सम्बन्ध निर्विवाद रूप से भारोपीय परिवार से सिद्ध किया।

हित्ती भाषा की प्रमुख भाषावैज्ञानिक विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(१) कुल १९ ध्वनिग्रामों का प्रयोग मिलता है, जिनमें ३ स्वर और १६ व्यंजन हैं। स्वरों के ह्रस्व और दीर्घ प्रयोग हैं। लेकिन मात्रा की ध्वनिग्रामिक सत्ता नहीं है। हित्ती भाषा का ध्वनि-समूह लैटिन भाषा के ध्वनि-समूह से मिलता-जुलता है। यही कारण है कि इसे केंतुम वर्ग की भाषा स्वीकार किया गया है।

(२) छह कारक, दो लिंग (पुंल्लिग और नपुंसक लिंग), तीन वचन और दो काल (वर्तमान और भूत) हैं। अधिकरण कारक नहीं है। द्विवचन का प्रयोग कम है। कालों के अन्य भेद सहायक क्रियाओं द्वारा बने हुए मिलते हैं।

(३) भाषा योगात्मक है। लेकिन अयोगात्मकता के लक्षण भी उसमें देखने को मिलते हैं। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि हित्ती भाषा अपने परिवार की अन्य समकालीन भाषाओं की तुलना में अधिक विकसित रही होगी।

हित्ती भाषा का काल लगभग दो हजार ईसा पूर्व से बारह सौ ईसा पूर्व तक माना जाता है।

भारोपीय भाषा—भारोपीय-हित्ती या विरोस् भाषा से लगभग २४०० ईसा पूर्व में भारोपीय भाषा विकसित हो गयी। इसका काल २४०० ईसा पूर्व से १९०० ईसा पूर्व तक माना जाता है। वस्तुतः भारोपीय भाषा में कोई सामग्री उपलब्ध नहीं हुई है। इस परिवार की विभिन्न भाषाओं,—संस्कृत, फारसी, ग्रीक, लैटिन आदि के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर भारोपीय भाषा को पुर्ननिर्मित किया गया है। भारोपीय भाषा की प्रमुख भाषावैज्ञानिक विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) **ध्वनि**

(अ) **स्वर**—

मूल अति ह्रस्व स्वर—ə

मूल ह्रस्व स्वर—अ, एँ, ओँ

मूल दीर्घ स्वर—आ, ए, ओ

संयुक्त स्वर—इनकी कुल संख्या ३६ थी—

अइ	अऋ	अऌ	अउ	अन्	अम्
ऍइ	ऍऋ	ऍऌ	ऍउ	ऍन्	ऍम्
ऑइ	ऑऋ	ऑऌ	ऑउ	ऑन्	ऑम्
आइ	आऋ	आऌ	आउ	आन्	आम्
एइ	एऋ	एऌ	एउ	एन्	एम्
ओइ	ओऋ	ओऌ	ओउ	ओन्	ओम्

अर्धस्वर—अपने स्वभावानुसार ये ध्वनियाँ कभी स्वर रूप में और कभी व्यंजन रूप में उच्चरित होती थीं। आगे इन्हें स्वर रूप में दिया गया है। लेकिन कोष्ठक में इनका व्यंजन रूप भी दिखाया गया है—

इ (य्)	उ (व्)	ऌ (ल्)
ऋ (र्)	न् (न्)	म् (म्)

(आ) **व्यंजन**

(क) स्पर्श व्यंजन—

कवर्ग —	(i)	क्,	ख्,	ग्,	घ्
	(ii)	क़्,	ख़्,	ग़्,	घ़्
	(iii)	क्व्,	ख्व्,	ग्व्,	घ्व्
तवर्ग—		त्,	थ्,	द्,	ध्
पवर्ग—		प्,	फ्,	ब्,	भ्

(ख) संघर्षी व्यंजन— स्

उक्त तीन प्रकार के कवर्गों में प्रथम क वर्ग का उच्चारण सम्भवतः तालु की गौण सहायता से क्य्, ख्य्, ग्य्, घ्य् रूप में होता था। डॉ० चटर्जी इसे तालु की गौण सहायता से उच्चरित न मानकर पुरः कण्ठ (Advanced Velum) की सहायता से उच्चरित मानते हैं। द्वितीय क वर्ग कण्ठ्य था जो संस्कृत कवर्ग की तुलना में कुछ और पीछे से उच्चरित होता था। डॉ० चटर्जी के अनुसार ये पश्च-कण्ठ्य (Back Velar) या अलिजिह्वीय (Uvular) ध्वनियाँ थीं। तृतीय क वर्ग के उच्चारण में होठों की भी गौण सहायता ली जाती थी।

तवर्ग का उच्चारण-स्थान दन्त, दन्तमूल या वर्त्स कहा गया है। इस प्रकार इसके उच्चारण-स्थान के सम्बन्ध में मतभेद है।

संघर्षी ध्वनि स् सघोष ध्वनियों के परिवेश में ज़् रूप में उच्चरित होती थी।

ध्वनिसंयोग—भारोपीय भाषा में मूल स्वरों का संयोग नहीं होता था। लेकिन व्यंजन-संयोग होता था और दो या दो से अधिक व्यंजनों का संयोग सम्भव था।

ध्वनिगुण—मात्रा का प्रयोग निश्चित रूप से होता था और उसकी ध्वनि-ग्रामिक सत्ता भी थी। लेकिन इस सम्बन्ध में विवाद है कि बलाघात तथा सुराघात का प्रयोग होता था या नहीं। सम्भवतः आरम्भिक काल में बलाघात का प्रयोग होता था। लेकिन परवर्ती काल में सुराघात का भी प्रयोग हुआ। अनुमान है कि बलाघात और सुराघात से ही भारोपीय भाषा में क्रमशः मात्रिक तथा गुणीय अपश्रुति (Ablant) की प्रवृत्ति विकसित हुई ।

२. रूप

(क) भाषा श्लिष्ट योगात्मक थी।

(ख) रूपों की संख्या अधिक थी। संस्कृत भाषा की तरह ही आठ विभक्तियों और तीन लिंगों में रूप चलते थे। नपुंसक लिंग और पुंल्लिग में केवल प्रथमा, द्वितीया एवं सम्बोधन के रूपों में ही अन्तर था। अन्य विभक्तियों में दोनों के रूप एक से थे। आरम्भ में अपवादों की संख्या भी अधिक रही होगी। धीरे-धीरे अपवाद कम होते गये और रूपों में एकरूपता आने लगी।

(ग) आठ कारक, तीन लिंग—पुंल्लिग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग तथा तीन वचन—एकवचन, द्विवचन और बहुवचन थे।

(घ) क्रिया में तीन वचन, तीन पुरुष और दो पदों—आत्मनेपद और परस्मैपद के आधार पर भेद होता था। आरम्भ में केवल कर्तृवाच्य था। कर्मवाच्य का विकास बाद में हुआ। काल केवल दो थे—वर्तमान और भूत। भविष्य के लिए सम्भावनार्थ का प्रयोग होता था।

कुछ ऐसे स्वतंत्र शब्दों का भी प्रयोग होता था जो क्रिया की विशेषता प्रकट करते थे। ये क्रिया के पहले या बाद में प्रयुक्त होते थे। कभी-कभी इनके और क्रिया के बीच में दूसरे शब्द भी आ जाते थे। यह प्रवृत्ति हमें वैदिक संस्कृत तक देखने को मिलती है। धीरे-धीरे ये धातु के पूर्व ही जुड़ने लगे। इनकी स्वतंत्र सत्ता का भी लोप हो गया। आधुनिक भाषा में यही उपसर्ग हैं।

केंतुम तथा सतम् वर्ग—विरोस् लोगों के वंशज भारोपीय भाषाभाषियों का मूल स्थान चाहे भारत में रहा हो, या भारत के बाहर एशिया में किसी स्थान पर, या यूरोप में, या यूरोप और एशिया के सन्धि-प्रदेश में; लेकिन धीरे-धीरे जब उनकी जनसंख्या बढ़ी होगी तो जीवन-रक्षा के उपायों की खोज ने उन्हें समूहों में बाँट दिया होगा। ये समूह विभिन्न दिशाओं की ओर बढ़े होंगे और इनमें परस्पर सम्पर्क का सूत्र टूट चला होगा। रास्ते की नदियों, पहाड़ों और आवागमन की कठिनाइयों ने सम्पर्क-सूत्रों को फिर जुड़ने नहीं दिया होगा। इस प्रकार विभिन्न बोलियों के विकास के लिए बीजारोपण हुआ होगा। भारोपीय-हित्ती या विरोस् परिवार की दो शाखाओं—हित्ती और भारोपीय के रूप में विभिन्न बोलियों के विकास के लिए थोड़ी सी भूमि पहले ही

तैयार हो चुकी थी । अब भाषाभाषियों में जो क्षेत्रीयता विकसित हुई उससे विभिन्न बोलियों का और अधिक विकास होना स्वाभाविक ही था ।

यह स्थिति लगभग १५०० ईसा पूर्व में घटित हुई । लेकिन इसके बीज बहुत पहले से ही विद्यमान थे । पुनर्निर्माण की पद्धति से भाषाविज्ञानी भारोपीय भाषा के जिस रूप तक पहुँच सके हैं स्वयं उसमें ही एकरूपता का अभाव है । इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि भाषागत अन्तर विद्यमान थे। सम्भवत: यही अन्तर आगे चलकर कुछ महत्वपूर्ण बन गये और भाषाओं के दो मुख्य वर्ग से निर्मित हुए, जिन्हें भाषाविज्ञानियों ने केंतुम् तथा सतम् नाम दिया है ।

सबसे पहले अस्कोली ने १८७० ईसवी में यह लक्षित किया कि भारोपीय भाषा का प्रथम कवर्ग का क् (अर्थात् कण्ठ-तालव्य क्य्) व्यंजन दो रूपों में विकसित हुआ है । कुछ भाषाओं में तो वह क् ही रहा, लेकिन कुछ में संघर्षी ध्वनि श् या स् में परिवर्तित हो गया । उदाहरण के लिए, भारोपीय भाषा में सौ का वाचक *क्यम्तोम् (kmtom) शब्द लैटिन में केंतुम्, ग्रीक में हे -कतोन, पुरानी आयरी में केत्, तोखारी में कन्ध, इतालवी में केंतो के रूप में विकसित हुआ । लेकिन इसके विपरीत यही शब्द अवेस्ता में सतम्, संस्कृत में शतम्, फारसी में सद, लिथुआनियन में शितस्, रूसी में स्तो और बल्गेरियन में सुतो के रूप में विद्यमान है । यानी उक्त भारोपीय क् व्यंजन ध्वनि अवेस्ता, संस्कृत आदि भाषाओं में संघर्षी ध्वनि श् या स् में परिवर्तित हुई है । इसी आधार पर वान ब्रैडके ने भारोपीय भाषा के विकास की कल्पना दो शाखाओं के रूप में की और लैटिन तथा अवेस्ता के सौ के वाचक शब्द केंतुम् तथा सतम् के नाम पर इन दोनों शाखाओं का नामकरण क्रमश: केंतुम् तथा सतम् किया ।

भारोपीय भाषा की तृतीय कवर्ग व्यंजन-ध्वनियों (क्व्, ग्व् आदि) का विकास भी इन दोनों शाखाओं में भिन्न-भिन्न है । केंतुम् शाखा में उनका गौण ओष्ठत्व सुरक्षित है । लेकिन सतम् शाखा में वह समाप्त हो गया है। उदाहरण के लिए—

भारोपीय* kwo > लैटिन quo, लेकिन संस्कृत क: ।

आरम्भ में यह धारणा थी कि पश्चिम में पायी जाने वाली भाषाएँ केंतुम् और पूर्व में पायी जाने वाली भाषाएँ सतम् शाखा की हैं। हर्ट ने तो यहाँ तक अनुमान लगाया था कि उक्त दोनों शाखाओं के बीच पोलैण्ड की विस्चुला नदी विभाजक रेखा थी । विस्चुला नदी या मोटे रूप में २० अंश पूर्वी देशान्तर के पश्चिम में केंतुम् शाखा

और उसके पूर्व में सतम् शाखा विद्यमान थी। लेकिन परवर्ती खोजों से यह धारणा गलत सिद्ध हुई। हित्ती भाषा, जिसमें कंतुम् शाखा की प्रवृत्तियाँ हैं, विस्चुला नदी के पूर्व में एशिया माइनर में उपलब्ध हुई है। इसी प्रकार कंतुम् शाखा की तोखारी भाषा भी उक्त नदी के पूर्व में ही उपलब्ध हुई है। फिर भी यह सही है कि कंतुम् शाखा की अधिकांश भाषाएँ विस्चुला नदी के पश्चिम में तथा सतम् शाखा की सभी भाषाएँ इस नदी के पूर्व में विद्यमान हैं।

भारोपीय भाषा के कंतुम् तथा सतम् शाखाओं में विभाजन के पीछे कोई व्यापक और मौलिक रूपरचनात्मक आधार नहीं है। यह केवल कुछ ध्वन्यात्मक अन्तरों पर आधारित है, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इन ध्वन्यात्मक अन्तरों के बावजूद कंतुम् और सतम् शाखा की कुछ भाषाओं में अपनी ही शाखा की अन्य भाषाओं की तुलना में परस्पर अधिक समानताएँ हैं। उदाहरण के लिए कंतुम् वर्गीय ग्रीक भाषा की सतम् वर्गीय संस्कृत भाषा से कई बातों में जितनी समानता है उतनी समानता उसकी कंतुम् वर्गीय अन्य भाषाओं से नहीं है।

कंतुम् वर्ग में केल्टिक, जर्मनिक, इटैलिक, ग्रीक और तोखारी ये पाँच उपवर्ग हैं और सतम् वर्ग में अलबेनियन, आरमेनियन, बाल्टोस्लाविक तथा भारत-ईरानी ये चार उपवर्ग हैं।

जर्मन विद्वान् श्लाइखर ने यह हिसाब लगाने का यत्न किया था कि भारोपीय भाषा से कब, कौन भाषा या भाषा-समूह अलग हुआ। उनका अनुमान था कि सबसे पहले जर्मनिक और स्लाविक भाषाएँ एक ओर और भारत-ईरानी, ग्रीक, इटैलिक, केल्टिक दूसरी ओर अलग हुई होंगी। पहली की फिर दो शाखाएँ हुई और दूसरी से एक ओर ग्रीक आदि भाषाएँ अलग हो गयीं और दूसरी ओर भारत-ईरानी शाखा अलग हो गयी। भारोपीय भाषा के कंतुम् तथा सतम् वर्ग और कंतुम् तथा सतम् वर्गों के उपर्युक्त उपवर्ग हैं। लेकिन इन उपवर्गों के बनने का क्रम क्या है इस सम्बन्ध में कुछ भी कहना कठिन है।

कंतुम् वर्ग

१. **केल्टिक**—इस उपवर्ग की भाषाएँ आयरलैण्ड, स्काटलैण्ड, इंग्लैण्ड के वेल्स तथा कार्नवाल और फ्रान्स के ब्रीटन प्रदेशों में बोली जाती हैं। लगभग दो हजार वर्ष पूर्व इस उपवर्ग की भाषाओं का क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत था। आयरलैण्ड, ग्रेट

ब्रिटेन, फ्रान्स के कुछ भाग, बेल्जियम, स्विटजरलैण्ड, जर्मनी, स्पेन, इटली, ग्रीस आदि इसके भाषा-क्षेत्र में आते थे।

भारोपीय क्व् व्यंजन ध्वनि केल्टिक उपवर्ग की कुछ भाषाओं में प् और कुछ भाषाओं में क् रूप में परिवर्तित हो गयी है। जैसे—

*पेंक्व > वेल्स भाषा में पम्प (पाँच)
> आयरिश भाषा में कोइक

इसी आधार पर केल्टिक उपवर्ग की दो शाखाएँ मान ली गयी हैं—प् शाखा और क् शाखा। वेल्स प्रदेश की वेल्स भाषा प् शाखा और आयरलैण्ड की आयरिश भाषा क् शाखा की प्रमुख भाषा है।

जर्मनिक उपवर्ग की अंग्रेजी भाषा के प्रभाव के कारण केल्टिक भाषाभाषियों का क्षेत्र आयरलैण्ड की स्वतंत्रता के पूर्व अत्यधिक संकुचित हो चला था। लेकिन अब १९४९ में आयरलैण्ड के स्वतंत्र होते ही आयरिश भाषा के प्रति एक नये उत्साह का जन्म हुआ है। आयरिश भाषा में पाँचवीं शताब्दी तक का साहित्य प्राप्त होता है।

भाषावैज्ञानिक विशेषताओं की दृष्टि से केल्टिक और इटैलिक उपवर्ग की भाषाओं में पर्याप्त समानताएँ हैं।

केल्टिक भाषाभाषियों की संख्या लगभग तीस लाख है, जिसमें से लगभग दस लाख व्यक्ति आयरिश, दस लाख वेल्स और दस लाख ब्रेटन भाषा बोलते हैं।

२. **जर्मनिक**—इंग्लैण्ड, हॉलैण्ड, जर्मनी, आइसलैण्ड, नॉर्वे, स्वीडन, डेनमार्क आदि की क्रमशः अंग्रेजी, डच, जर्मन, आइसलैण्डिक, नॉर्वेजियन, स्वेडिश तथा डैनिश भाषा जर्मनिक उपवर्ग की भाषाएँ हैं। कनाडा, संयुक्त राज्य अमरीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड आदि देशों में मुख्य रूप से गोरी आबादी द्वारा बोली जानेवाली अंग्रेजी भाषा भी जर्मनिक उपवर्ग की ही भाषा है, जो इंग्लैण्ड से उनके प्रवासियों और उपनिवेशवाद के साथ इन प्रदेशों में पहुँची। जर्मन भाषा भी पूर्वी तथा पश्चिमी जर्मनी के अतिरिक्त चैकोस्लोवाकिया, स्विटजरलैण्ड, बेल्जियम आदि देशों में पर्याप्त संख्या द्वारा बोली जाती है।

जर्मनिक उपवर्ग की सबसे प्राचीन भाषा गॉथिक है। गॉथिक की कुछ सामग्री बिशप उल्फिलस (३११-३८१ ईसवी) द्वारा किये गये बाइबिल के आंशिक अनुवाद के रूप में सुरक्षित है। इसका मुख्य क्षेत्र कारपैथियन पर्वत के दक्षिण और दक्षिण-

पूर्व में काले सागर के निकट था, जहाँ यह सम्भवतः नवीं सदी और उसके बाद भी बोली जाती रही।

जर्मनिक उपवर्ग की भाषाओं के पश्चिम में केल्टिक और पूर्व में स्लाविक भाषाएँ हैं। जर्मनी शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ईसा पूर्व पहली सदी में केल्टिक भाषा-भाषियों के द्वारा सम्भवतः पड़ोसियों के अर्थ में हुआ था।

जर्मनिक उपवर्ग के लिए एक अन्य शब्द ट्यूटानिक का भी प्रयोग होता है। ट्यूटन शब्द जर्मन, अंग्रेज आदि जातियों का बोध कराता है।

अंग्रेजी भाषा की प्राचीनतम सामग्री सातवीं, डच की तेरहवीं, जर्मन की आठवीं, आइसलैण्डिक तथा नॉर्वेजियन की बारहवीं, स्वेडिश की दसवीं तथा डैनिश की प्राचीनतम सामग्री लगभग आठवीं शताब्दी से मिलती है।

जर्मनिक उपवर्ग की भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक अवस्था से अयोगात्मक अवस्था की ओर जा रही हैं। लेकिन उनमें मात्रा का अन्तर है। उदाहरण के लिए, आइसलैण्डिक भाषा में श्लिष्ट योगात्मकता अधिक है। जर्मन में वह कम हो गयी है और अंग्रेजी में वह और भी कम हो गयी है।

इस उपवर्ग की प्रायः सभी भाषाओं में बलाघात को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। एक अन्य विशेषता यह है कि इन भाषाओं में भारोपीय भाषा की कुछ ऐसी ध्वनियाँ परिवर्तित हो गयी हैं जो भारोपीय परिवार की अन्य भाषाओं में सुरक्षित हैं। ध्वनि-परिवर्तन की यह प्रक्रिया दो बार घटित हुई। पहली बार ईसा से कुछ शताब्दी पूर्व, जब ऐंग्लो-सैक्सन जाति इंग्लैण्ड में जाकर नहीं बसी थी। इसलिए ध्वनियों का परिवर्तन अंग्रेजी में भी विद्यमान है। दूसरी बार ६०० ईसवी से ८०० ईसवी तक। इस समय तक ऐंग्लो-सैक्सन जाति इंग्लैण्ड में जा बसी थी। इसलिए यह ध्वनिपरिवर्तन अंग्रेजी में घटित नहीं हुआ। ग्रिम नियम के नाम से विख्यात इन ध्वनिपरिवर्तनों का विवेचन अन्यत्र हो चुका है।

संसार में जर्मनिक भाषाभाषियों की कुल संख्या लगभग ५६ करोड़ है, जिसमें से लगभग ४० करोड़ व्यक्ति अंग्रेजी, १२ करोड़ व्यक्ति जर्मन और २ करोड़ व्यक्ति स्कैण्डिनेविन (स्वीडिश, नार्वेजियन, डेनिश, आइसलैण्डिक) भाषाएँ बोलते हैं।

३. **इटैलिक**—इस उपवर्ग की भाषाएँ इटली, रोमानिया, फ्रांस, स्पेन, पुर्तगाल,

इटली तथा फ्रांस, स्पेन, पुर्तगाल आदि के द्वारा अफ्रीका और अमरीका में स्थापित किये गये उपनिवेशों में बोली जाती हैं।

रोमांस उपवर्ग या लैटिन उपवर्ग इटैलिक उपवर्ग के ही अन्य नाम हैं।

सबसे प्राचीन भाषा लैटिन है जिसमें छठी सदी ईसा पूर्व तक की सामग्री मिलती है। लेकिन इसके साथ अन्य भाषाएँ भी बोली जाती रही होंगी, जिनमें से ओक्सी तथा उम्ब्री की प्रचुर सामग्री भी उपलब्ध हुई है। ये भाषाएँ सम्भवतः ईसा की पहली शताब्दी तक वर्तमान थीं। इनमें भारोपीय भाषा की कवर्गीय क्व् व्यंजन ध्वनि आयरिश भाषा की तरह प् में बदल गयी है। इसके विपरीत लैटिन में यह वेल्स भाषा की तरह क् के रूप में है।

रोमन साम्राज्य के साथ-साथ लैटिन भाषा की भी उन्नति हुई। स्वभावतः उसके प्रभाव के सामने ओक्सी तथा उम्ब्री भाषाएँ लुप्त हो गयीं। विशाल रोमन साम्राज्य की भाषा होने के कारण लैटिन की एकरूपता सुरक्षित नहीं रह सकी। भौगोलिक अन्तरों ने भाषावैज्ञानिक अन्तरों को जन्म दिया। साहित्यिक या राजकाज की लैटिन और बोलचाल की लैटिन में आरम्भ से ही अन्तर पड़ने लगा। फिर भी साहित्यिक लैटिन संस्कृत भाषा की तरह ही बोलचाल से दूर पड़ जाने पर भी धार्मिक अनुष्ठानों और साहित्य का माध्यम बनी रही। वह रोमनकैथोलिक सम्प्रदाय की धार्मिक भाषा थी। लेकिन शीघ्र ही उसका रूप अपभ्रष्ट होने लगा। उसके प्रान्तीय रूप उभर आये। धार्मिक क्रान्ति और बर्बरों के आक्रमणों ने प्रान्तीय रूपों के उभार को और प्रोत्साहित किया। ईसा की लगभग आठवीं शताब्दी तक साहित्यिक लैटिन के स्थान पर इटैलियन, रूमानी, फ्रांसीसी, स्पेनी, पुर्तगाली अपने-अपने प्रदेशों में आविर्भूत हो गयीं।

इटैलियन में सातवीं शताब्दी, रूमानी में सोलहवीं शताब्दी, फ्रांसीसी में नवीं शताब्दी, स्पेनी और पुर्तगाली में बारहवीं शताब्दी तक की प्राचीन सामग्री मिलती है। प्राचीन लैटिन की तुलना में इन भाषाओं में वियोगात्मकता अधिक है। नपुंसक लिंग का प्रयोग समाप्त हो गया है और वाक्य में रूप के स्थान का महत्व बढ़ गया है।

इटैलिक उपवर्ग के भाषाभाषियों की कुल संख्या लगभग ४१ करोड़ है, जिसमें से लगभग ६ करोड़ व्यक्ति इटैलियन, २ करोड़ रूमानी, ८ करोड़ फ्रांसीसी, १६ करोड़ स्पेनी और लगभग ९ करोड़ व्यक्ति पुर्तगाली बोलते हैं। फ्रांस के दक्षिणी भाग में जहाँ इटैलियन और फ्रांसीसी भाषा के क्षेत्र मिलते हैं, बोली जाने वाली प्रोवेंशल बोली

तथा स्पन और पुर्तगाल के यहूदियों की सेफार्डी बोली इटैलिक उपवर्ग के अन्तर्गत ही है ।

४. **ग्रीक**—ग्रीक या यूनानी भाषा ग्रीस या यूनान और साइप्रस देशों तथा भूमध्य सागर, एजियन सागर आदि में स्थित अनेक छोटे-छोटे द्वीपों में बोली जाती है। विभिन्न द्वीप-समूहों के कारण प्राचीन काल से ही ग्रीक उपवर्ग में अनेक बोलियों का विकास होता रहा है। केन्द्रीय बोली के आसपास अन्य बोलियाँ, जिनमें ऐटिक और डोरिक प्रमुख हैं, पनप गयी थीं। होमर के महाकाव्यों इलियड और ओडेसी की भाषा अपने मूल रूप में सम्भवतः केन्द्रीय ग्रीक ही रही होगी। इन महाकाव्यों का रचना-काल एक हजार ईसा पूर्व माना जाता है। चौथी शताब्दी ई० पू० में ऐटिक बोली ने विशेष महत्ता प्राप्त कर ली और ईसा की छठी शताब्दी के मध्य तक वही साहित्य तथा शासन की भाषा बनी रही। सुकरात, अफलातून और अरस्तू की भाषा सम्भवतः यही ऐंटिक भाषा रही होगी, जो धीरे-धीरे महत्ता अर्जित करती जा रही थी।

केंतुम् वर्ग की होने पर भी ग्रीक भाषा सतम् वर्ग की भाषाओं, विशेष रूप से भारत-ईरानी तथा आर्मेनियन के अधिक निकट है। उदाहरण के लिए, ग्रीक और संस्कृत में समास, द्विवचन, अव्ययों की अधिकता, परस्मैपद और आत्मनेपद, सुराघात आदि समान रूप से विद्यमान हैं।

ग्रीक भाषाभाषियों की कुल संख्या लगभग एक करोड़ है।

५. **तोखारी**—इस उपवर्ग की भाषाएँ मृत भाषाएँ हैं। वे इस समय कहीं भी बोली नहीं जातीं। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में मध्य एशिया के तुर्फान प्रदेश में अंग्रेज, फ्रांसीसी, जर्मन और रूसी विद्वानों की खोज के फलस्वरूप कुछ ऐसे ग्रन्थ तथा अन्य सामग्री मिली, जो प्राचीन भारतीय लिपि ब्राह्मी या खरोष्ठी में लिखी हुई है। प्रो० सीग (Sieg) ने इस सामग्री की भाषा का विशेष अध्ययन किया और यह निष्कर्ष निकाला कि यह भारतीय केंतुम् वर्ग की भाषा है। सौ के लिए तोखारी शब्द कन्ध है।

तोखारी भाषा का अस्तित्व सम्भवतः सातवीं शताब्दी तक रहा और फिर यह लुप्त हो गयी। महाभारत में जिन तुषार लोगों का उल्लेख है सम्भवतः यह उन्हीं की भाषा है। ईसा पूर्व की दूसरी शताब्दी में मध्य एशिया में इन लोगों ने साम्राज्य की स्थापना की थी।

प्राप्त ग्रन्थों में तोखारी भाषा के दो रूप देखने को मिलते हैं। इनमें से एक रूप तुखारों की भाषा था इसलिए तुखारी, और दूसरा कूचा प्रदेश में प्रयुक्त होने के कारण कूची कहलाता है।

तोखारी में आठ विभक्तियाँ हैं। क्रिया के रूप जटिल हैं। सर्वनाम और संख्या-वाची विशेषण निश्चित रूप से भारोपीय कुल से इसके सम्बन्ध की सूचना देते हैं। सन्धि के नियम संस्कृत की तरह हैं और स्वरों की जटिलता कम है। तोखारी भाषा पर सामीप्य के कारण यूराल-अल्टाइक परिवार की भाषाओं का प्रभाव है।

इस भाषा की खोज से यह धारणा मिथ्या हो गयी कि केंतुम् वर्ग की भाषाएँ केवल पोलैण्ड की विस्चुला नदी के पश्चिम में ही स्थित हैं।

सतम् वर्ग

१. **अल्बेनियन**—यूगोस्लाविया, यूनान और एड्रियाटिक सागर से घिरे हुए पहाड़ी देश अल्बानिया की भाषा अल्बेनियन है। यूनान, सिसली और इटली में भी यह भाषा बोली जाती है। २० पूर्वी देशान्तर और ४० उत्तरी अक्षांश रेखा अल्बेनियन भाषा-भाषी प्रदेश से गुजरती है। अल्बेनियन का प्राचीनतम साहित्य पन्द्रहवीं शताब्दी से उपलब्ध होता है।

तुर्की, यूनानी, इटैलिक तथा स्लाव भाषाभाषी प्रदेशों की निकटता के कारण अल्बेनियन भाषा इनसे प्रभावित होती रही है। लैटिन, तुर्की, यूनानी और स्लाव भाषाओं के अनेकानेक शब्द इसमें विद्यमान हैं। सबसे अधिक शब्द लैटिन के हैं। वास्तव में विभिन्न बाह्य प्रभावों के फलस्वरूप ध्वनि, रूप और शब्द तीनों ही क्षेत्रों में अल्बेनियन भाषा में परिवर्तन की गति अत्यन्त तेज रही है।

अल्बेनियन भाषाभाषियों की कुल संख्या लगभग ३० लाख है।

२. **आर्मेनियन**—इस उपवर्ग की भाषाएँ बाल्टो-स्लाविक और भारत-ईरानी इन दो बड़े उपवर्गों के भौगोलिक सन्धि-स्थल पर बोली जाती हैं। यहीं ४० उत्तरी अक्षांश और ४५ पूर्वी देशान्तर रेखा मिलती है। आर्मेनियन भाषा के अस्तित्व का पता ईसा पूर्व की सातवीं-आठवीं शताब्दी से चलता है। इसका प्राचीनतम साहित्य धार्मिक विद्वेषों के कारण नष्ट हो गया है। फिर भी इसकी कुछ प्राचीन सामग्री ईसा की चौथी शताब्दी से मिलती है।

आर्मेनिया प्रदेश पर ईरान का प्रभाव रहा है। ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक ईरान का युवराज ही आर्मेनिया का राजा होता था। इस राजनीतिक सम्बन्ध ने

आर्मेनियन भाषा को भी प्रभावित किया और लगभग दो हजार ईरानी शब्द विभिन्न युगों में आर्मेनियन भाषा में पहुँच गये। भाषा-परिवारों के अध्ययन के आरम्भिक दिनों में आर्मेनियन भाषा को ईरानी की ही एक शाखा माना जाता था। लेकिन बाद में इसकी स्वतंत्र स्थिति स्वीकृत हुई। आर्मेनियन भाषा की सबसे अधिक उल्लेखनीय विशेषता व्याकरणिक लिंग का अभाव होना है।

आर्मेनियन उपवर्ग के भाषाभाषियों की कुल संख्या ४० लाख है।

३. **बाल्टोस्लाविक**—बाल्टोस्लाविक उपवर्ग में दो प्रमुख भाषा-समूह हैं—बाल्टिक और स्लाविक। दोनों की पारस्परिक समानताओं के कारण उनका अध्ययन प्रायः एक ही उपवर्ग के रूप में किया जाता है।

बाल्टिक भाषा-समूह में तीन भाषाएँ हैं—(क) प्राचीन प्रशियन, (ख) लिथुआनियन, (ग) लाट्वियन या लेटिश। इनमें से प्राचीन प्रशियन भाषा पश्चिम में विस्चुला नदी और पूर्व में नीमेन नदी के लगभग मध्यवर्ती भाग में सोलहवीं शताब्दी तक बोली जाती थी। मोटे रूप में इसका क्षेत्र ५० उत्तरी अक्षांश रेखा से ५५ उत्तरी अक्षांश रेखा और २० पूर्वी देशान्तर रेखा से २५ पूर्वी देशान्तर रेखा तक फैला हुआ था। तेरहवीं से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक की इसकी लिपिबद्ध सामग्री प्राप्त होती है।

लिथुआनियन लिथूनिया प्रदेश की बोली है जो प्राचीन प्रशियन भाषा-क्षेत्र के उत्तरपूर्व में स्थित है। वर्तमान भारोपीय भाषाओं में लिथुआनियन में भाषावैज्ञानिक परिवर्तन की गति सबसे कम तीव्र रही है। फलस्वरूप ध्वनि तथा रूपरचना के कई प्राचीन तत्व इसमें सुरक्षित हैं। लिथुआनियन का सोलहवीं शताब्दी का रूप भी इतना कम परिवर्तित है कि उसकी तुलना गॉथिक के चौथी शताब्दी के रूप से की जा सकती है। स्पष्ट है कि गॉथिक जैसी भाषा की तुलना में भी लिथुआनियन भाषा लगभग १२०० वर्ष पीछे रह गयी है। लिथुआनियन में सुराघात और द्विवचन के रूप अब भी सुरक्षित हैं। लिथूनिया प्रदेश अब स्वतंत्र राज्य न रहकर सोवियत संघ का अंग है। इसलिए सोवियत संघ की राष्ट्रभाषा रूसी या महारूसी से लिथुआनियन का प्रभावित होना स्वाभाविक ही है।

लाट्वियन या लेटिश भाषा लटविया प्रदेश की भाषा है। लटविया का प्रदेश लिथूनिया के उत्तर और उत्तर-पूर्व में स्थित है। मोटे रूप में लाट्वियन भाषा पश्चिमी

डवीना नदी की तटवर्ती भाषा है। लिथुआनियन की अपेक्षा यह अधिक विकसित है। इसका प्राचीन साहित्य सोलहवीं शताब्दी के पूर्व का नहीं मिलता। लटविया प्रदेश भी सोवियत संघ का एक प्रदेश है।

स्लाविक भाषा-समूह में तीन शाखाएँ हैं—उत्तरी स्लाविक, दक्षिणी स्लाविक और पश्चिमी स्लाविक। उत्तरी स्लाविक में श्वेत रूसी, महारूसी और लघु रूसी ये तीन भाषाएँ हैं। श्वेत रूसी श्वेत रूस अर्थात् पश्चिमी रूस में बोली जाती है। महारूसी का केन्द्र मास्को है। यही भाषा रूस की राष्ट्रभाषा है। रूसी नाम का व्यवहार प्रायः महारूसी के ही लिए किया जाता है। लघु रूसी दक्षिणी रूस (उक्रेन) में बोली जाती है। उत्तरी स्लाविक की किसी भी भाषा में ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व का साहित्य नहीं मिलता।

दक्षिणी स्लाविक शाखा को प्राचीन चर्च, स्लाविक या प्राचीन बल्गेरियन भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत दो मुख्य भाषाएँ हैं—बल्गेरिया की बल्गेरियन भाषा और यूगोस्लाविया की सर्वोक्रोटिअन भाषा। उत्तरी स्लाविक की तुलना में दक्षिणी स्लाविक शाखा का साहित्य अधिक प्राचीन है। इसका प्राचीनतम रूप नवीं शताब्दी से उपलब्ध होता है। प्राचीन बल्गेरियन भाषा में तीनों वचन मिलते हैं। इसकी शब्दावली में समीपवर्ती तुर्की, रोमानिया और यूनान की भाषाओं के अनेकानेक शब्द हैं। सर्वोक्रोटिअन का साहित्य केवल विगत शताब्दी से ही मिलता है।

पश्चिमी स्लाविक भाषा में मुख्य रूप से दो भाषाएँ हैं—चेकोस्लावाकिया की चेक और पोलैण्ड की पोलिश भाषा। पोलिश भाषा के कुछ क्षेत्र में ही सोलहवीं शताब्दी के पूर्व प्रशियन भाषा बोली जाती थी।

बाल्टोस्लाविक भाषाभाषियों की कुल संख्या लगभग ३३ करोड़ है। इनमें से २५ करोड़ व्यक्ति रूसी, ४ करोड़ व्यक्ति लघु रूसी, ३ करोड़ २० लाख व्यक्ति पोलिश, १ करोड़ २० लाख व्यक्ति चेक, १ करोड़ ८० लाख व्यक्ति सर्वोक्रोटिअन, ८० लाख बल्गेरियन, ३० लाख लिथुआनिअन और २० लाख व्यक्ति लाटवियन भाषा बोलते हैं।

४. **भारत-ईरानी**—ईरान, अफगानिस्तान तथा भारतवर्ष के कश्मीर, पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, बंगाल, असम, गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रान्तों और पाकिस्तान के सिन्ध, बलूचिस्तान, पंजाब तथा बंगाल

प्रान्तों एवं नेपाल की प्राचीन अर्वाचीन भाषाएँ भारत-ईरानी उपवर्ग की भाषाएँ हैं।

इस उपवर्ग में भारोपीय परिवार का सबसे प्राचीन साहित्य सुरक्षित है। ऋग्वेद का रचना-काल अनुदारतापूर्वक भी निश्चित किया जाय तो भी वह १५०० ई० पू० का पूर्ववर्ती ही है। इसी प्रकार अवेस्ता का प्राचीन भाग ईसा पूर्व की सातवीं शताब्दी में रचा जा चुका था। इतना प्राचीन साहित्य या तो किसी उपवर्ग में रचा ही नहीं गया या फिर यदि रचा भी गया तो वह नष्ट हो गया।

भारत-ईरानी उपवर्ग को आर्य उपवर्ग भी कहते हैं।

आर्यों का मूल निवास-स्थान क्या है? इस सम्बन्ध में प्राय: पाँच मत प्रचलित हैं—(क) भारत में मध्यदेश, (ख) भारत में ही सप्तसिन्धु प्रदेश, (ग) मध्य एशिया, (घ) यूरोप, (ङ) ध्रुव प्रदेश। प्रथम मत से डॉ० राजबली पाण्डेय, द्वितीय से डॉ० अविनाशचन्द्र दास और डॉ० सम्पूर्णानन्द, तृतीय से जे० जी० ट्रहोड, मैक्समूलर आदि, चतुर्थ से लाथम, जे० स्मिथ, डेलब्रुक आदि और पंचम से बालगंगाधर तिलक सम्बन्धित हैं।

आर्यों का मूलस्थान जो भी रहा हो, इतना अवश्य है कि यूरोपीय उपवर्गों के अलग हो जाने के उपरान्त भारत-ईरानी आर्य भाषाभाषी तीन दलों में बँट गये। एक का निवास-स्थान ईरान हो गया, दूसरे का कश्मीर एवं उसके आसपास का प्रदेश और तीसरे का शेष भारत। धीरे-धीरे इन तीन दलों के द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं में प्रादेशिक भिन्नताएँ पनप गयीं और इस प्रकार भारत-ईरानी उपवर्ग की तीन शाखाएँ बन गयीं—ईरानी, दरद और भारतीय। इन तीन शाखाओं में विभक्त होने की यह घटना घटित होने के पूर्व भारत-ईरानी भाषा सम्भवत: दो हजार वर्ष ई० पू० से लेकर १५०० ई० पू० तक बोली जाती रही। उसकी विशेषताएँ ईरानी, दरद और भारतीय तीनों शाखाओं में समान रूप से सुरक्षित हैं। उदाहरण के लिए—

भारोपीय भाषा का मूल अति ह्रस्व स्वर ꭒ (ə) इ में परिवर्तित हो गया।

भारोपीय भाषा के तीन मूल स्वरों—अ, एँ ओँ के स्थान पर भारत-ईरानी में केवल एक ही स्वर 'अ' रह गया। ग्रीक और लैटिन में उक्त तीनों स्वर सुरक्षित हैं।

दीर्घ स्वर आ, ए, ओ ग्रीक तथा लैटिन में इसी रूप में रहे। लेकिन भारत-ईरानी में 'आ' में बदल गये।

भारोपीय भाषा की प्रथम कवर्गीय ध्वनियाँ, अर्थात् वे कवर्गीय ध्वनियाँ जो तालु की गौण सहायता से उच्चरित होती थीं, संघर्षी ध्वनियों में परिवर्तित हो गयीं—

क् > श् या स्
ख् > श्ह्, स्ह्
ग् > ज्
घ् > ज़्ह्

शेष दो कवर्ग यदि भारोपीय भाषा में इ, ए स्वरों के पूर्व प्रयुक्त थे तो भारत-ईरानी में च्, छ्, ज्, झ् में अन्यथा सामान्य क्, ख्, ग्, घ् में परिवर्तित हो गये।

सुराघात का प्रयोग होता था।

तीन वचन, तीन लिंग और आठ कारक प्रयोग में थे। लेकिन सम्प्रदान कारक के रूपों के स्थान पर सम्बन्ध कारक के रूपों का प्रयोग करने की प्रवृत्ति थी। आगे चलकर प्राचीन फारसी में सम्प्रदान कारक का पूर्ण लोप हो गया। भारत-ईरानी की भारतीय शाखा में यह कार्य कुछ विलम्ब से हुआ।

ईरानी—भारोपीय परिवार के भारत-ईरानी उपवर्ग की ईरानी शाखा के तीन ऐतिहासिक क्रम हैं—प्राचीन ईरानी, मध्यकालीन ईरानी और आधुनिक ईरानी। प्राचीन ईरानी में मुख्यतः दो बोलियाँ हैं—प्राचीन फारसी और अवेस्ता।

प्राचीन फारसी मूलतः दक्षिण-पश्चिम ईरान की बोली थी जिसे पारस या फ़ार्स कहा जाता था। ईरान के हख़्मानी वंशीय राजा दारय वहु (दारा) (५२१-४८५ ई० पू०) के बेहिस्तून, नक्शेरुस्तम और हमदान के कीलाक्षर लिपि में उत्कीर्ण लेखों में प्राचीन फारसी के प्राचीनतम नमूने मिलते हैं। इस बोली में कदाचित् पर्याप्त सामग्री थी। लेकिन ३२३ ई० पू० में सिकन्दर द्वारा ईरानी सम्राट दारा तृतीय की राजधानी पर्सीपोलिस को जला दिये जाने और फिर ६५१ ई० में अरब आक्रमणों में सम्भवतः वह नष्ट हो गयी। प्राचीन फारसी का काल दूसरी सदी ई० पू० तक है। भारतीय शाखा की भाषा संस्कृत और प्राचीन फारसी में अनेक भाषावैज्ञानिक समानताएँ हैं।

अवेस्ता भाषा के क्षेत्र के सम्बन्ध में मतभेद हैं। साधारणतः इसका क्षेत्र पूर्वी ईरान माना जाता है। पर कदाचित् यह पश्चिमोत्तर ईरान की भाषा थी। अवेस्ता भाषा के दो विकास-क्रम हैं—गाथा और परवर्ती अवेस्ता। गाथा में जरथुस्त के उपदेश हैं, जिन्हें गाथा कहे जाने के कारण ही इस भाषा का नाम गाथा पड़ गया है।

अवेस्ता के गाथा अंश की रचना सातवीं शताब्दी ई० पू० की मानी जाती है। परवर्ती अवेस्ता में अपेक्षाकृत अधिक सामग्री सुलभ है। गाथा से परवर्ती अवेस्ता का विकास वैसा ही है जैसा वैदिक संस्कृत से संस्कृत का।

मध्यकालीन ईरानी भाषा का काल ईसा पूर्व की तीसरी शताब्दी से लेकर ईसा की नवीं शताब्दी तक है। इसे पहलवी (प्रा० फारसी पर्थव > फारसी पहलव = योद्धा) भी कहते हैं। मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की तरह ही इसमें भी क्षेत्रीय विशेषताएँ विकसित हो गयीं। फलस्वरूप पहलवी के अन्तर्गत कई बोलियाँ मिलती हैं जिनमें चार प्रमुख हैं—(अ) उत्तर-पश्चिमी पहलवी—यह ईरान के उत्तर-पश्चिम प्रदेश की बोली थी। अरसैडिक राजाओं के काल में इसकी विशेष उन्नति हुई। इसे पार्थियन या कैल्डियन पहलवी भी कहते हैं। (आ) दक्षिणी-पश्चिमी पहलवी—ईरान के दक्षिण-पश्चिम प्रदेश में बोली जाने वाली यह बोली सम्भवतः प्राचीन फारसी से विकसित हुई होगी। ससैनी राजाओं के काल में इसकी उन्नति होने के कारण इसे ससैनी-पहलवी भी कहते हैं। इस बोली का प्रदेश अरबी भाषाभाषी प्रदेश के निकट है, इसलिए अरब आक्रमणों और धर्म-विजय के साथ इसमें अरबी शब्दों की संख्या बढ़ती गयी। इसका व्याकरण भी अरबी व्याकरण से प्रभावित हुआ। (इ) पूर्वी ईरानी—तुरफान में प्राप्त पाण्डुलिपियों से जिन बोलियों का पता चला है उन्हें सामूहिक रूप से पूर्वी-ईरानी कह सकते हैं। इन बोलियों पर अरबी भाषा का प्रभाव नहीं है। शक या सोग्दियन प्रमुख भाषा है। इसमें अनेक बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद हुआ था। (ई) किताबी पहलवी—उपर्युक्त उत्तर-पश्चिमी तथा दक्षिण-पश्चिमी पहलवी बोलियाँ ही किताबी पहलवी के मूल में हैं। यह बोली भारतीय तथा ईरानी जरथ्रुस्त अनुयायियों की धार्मिक तथा कुछ धार्मिकेतर पुस्तकों में सुरक्षित है। इसके भारतीय भाषाभाषियों ने गुजराती भाषा को भी प्रभावित किया है।

आधुनिक ईरानी की प्रमुख भाषा फारसी है। इसका आरम्भ ईसा की नवीं शताब्दी से माना जाता है। फिरदौसी (दसवीं शताब्दी) का शाहनामा इसी भाषा की रचना है। फारसी पर सैमिटिक कुल की भाषा अरबी का अत्यधिक प्रभाव है। फारसी का परिनिष्ठित साहित्यिक रूप शीराज कहलाता है। अफगानिस्तान की भाषा पश्तो, बलूचिस्तान की बलूची, पश्चिमी ईरान तथा समीप के तुर्की क्षेत्र की कुर्दिश और कैस्पियन सागर के दक्षिण-पश्चिम की कैस्पियन बोलियाँ, मध्य ईरानी भाषा सोग्दियन से विकसित उत्तर-पूर्वी ईरान की बोली यग्नोबी और ताजिकिस्तान की भाषा ताजिक

आधुनिक ईरानी की ही विभिन्न भाषाएँ तथा बोलियाँ हैं। ईरानी भाषाभाषियों की कुल संख्या लगभग ५ करोड़ है, जिसमें से लगभग १ करोड़ ५० लाख व्यक्ति फारसी और लगभग इतने ही व्यक्ति पश्तो भाषा बोलते हैं।

दरद—संस्कृत भाषा का पर्वतार्थी शब्द दरद कश्मीर तथा हिन्दूकुश पर्वत के मध्यवर्ती प्रदेश का प्राचीन नाम है। दरद भाषाएँ इसी प्रदेश में बोली जाती हैं। मराठी, सिन्धी, पंजाबी आदि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं पर दरद–प्रभाव विद्यमान है। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि दरद भाषाएँ किसी समय सम्भवतः अधिक विस्तृत भभाग में बोली जाती थीं।

प्राचीन भारतीय अध्ययनों में दरद भाषाओं को भारतीय आर्य भाषा ही माना गया है और पैशाची प्राकृत के नाम से उनका विवेचन हुआ है। आधुनिक मान्यता है कि वे भारोपीय कुल के भारत-ईरानी उपवर्ग की ठीक वैसे ही एक शाखा हैं जैसे ईरानी या भारतीय।

खोवार या चित्राली, कलाशा, अश्कुन्द, गिलगिती, कश्मीरी आदि दरद शाखा की प्रमुख भाषाएँ हैं। कश्मीरी में साहित्य-रचना का क्रम १३वीं शताब्दी से अब तक बराबर बना हुआ है। इसके प्राचीन साहित्य में शारदा और आधुनिक साहित्य में देवनागरी तथा मुख्यतः फारसी लिपि का प्रयोग है। कश्मीरी भाषाभाषियों की कुल संख्या लगभग १५ लाख है।

भारतीय—विवेचन के लिए अगला अध्याय देखें।

भारतीय आर्य भाषाएँ

सम्भवत: १५०० ई० पू० के लगभग भारतीय आर्य ईरानियों एवं दरद लोगों से अलग होकर पश्चिमी तथा पश्चिमोत्तरी सीमा से भारतवर्ष में प्रविष्ट हुए। निश्चय ही वे एक से अधिक खेपों में आये होंगे। लेकिन कितनी खेपों में आये यह कहना कठिन है। हार्नले ने इस सम्बन्ध में दो आक्रमणों वाला सिद्धान्त प्रस्तुत करते हुए कहा है कि वे दो खेपों में आये[1] और दूसरी खेप में आये हुए आर्यों के आक्रमण तथा दबाव के फलस्वरूप पहली खेप में आये हुए आर्य पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण की ओर बिखर गये। ये बिखरे हुए आर्य बाहरी शाखा हैं और दूसरी खेप में आकर भीतर जम जाने वाले आर्य भीतरी शाखा। ग्रियर्सन ने इन दोनों शाखाओं की भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि बाहरी शाखा की भाषाओं में भाषावैज्ञानिक समानताएँ हैं और वे भीतरी शाखा से भिन्न हैं। इस प्रकार से ग्रियर्सन ने प्रकारान्तर से हार्नले के मत का समर्थन ही किया है। जो भी हो, आर्य शीघ्र ही पंजाब से लेकर बंगाल तक उत्तर भारत में फैल गये। यहाँ उनकी भाषा का पर्याप्त विकास हुआ। जातीय मिश्रण, भौगोलिक दूरियों और कालक्रम ने उनकी भाषा को एकरूप नहीं रहने दिया। एक स्थान की भाषा दूसरे स्थान की भाषा से और एक काल की भाषा दूसरे काल की भाषा से भिन्न होती गयी। पंजाब से बंगाल तक और हिमालय से विन्ध्याचल के भी दक्षिण तक के भौगोलिक विस्तार में १५०० ई० पू० से अब तक लगभग साढ़े तीन हजार वर्ष की यात्रा भारतीय आर्य भाषा की एक बहुत लम्बी यात्रा है। भाषावैज्ञानिक अन्तरों के आधार पर इस लम्बी यात्रा को तीन कालों में विभाजित किया गया है—

१. प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल (प्रा० भा० आ०) १५०० ई० पू०—५०० ई० पू०।

अ. वैदिक संस्कृत उपकाल—१५०० ई० पू०—१००० ई० पू०।

१. Comparative Grammar of the Gaudian Languages—Page xxxi.

History of India — Hoernle तथा Stark, पृष्ठ १२–१३।

आ. लौकिक संस्कृत उपकाल—१००० ई० पू०—५०० ई० पू० ।

२. मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल (म० भा० आ०) ५०० ई० पू०—१००० ई० ।

अ. पालि उपकाल—५०० ई० पू०—१ ईसवी ।

आ. प्राकृत उपकाल—१ ईसवी—५०० ईसवी ।

इ. अपभ्रंश उपकाल—५०० ईसवी—१००० ईसवी ।

३. आधुनिक भारतीय आर्यभाषा काल (आ० भा० आ०) १००० ईसवी— ।

वस्तुतः किसी भाषा की यात्रा का कालखण्डों में विभाजन इतना सरल नहीं है जितना ऊपर दिया गया है। एक कालखण्ड की भाषा की विशेषताएँ दूसरे कालखण्ड में भी चली आती हैं और दूसरे कालखण्ड की भाषा की विशेषताएँ पहले कालखण्ड की भाषा के उत्कर्ष के क्षणों में भी सिर उठाती हुई दीख जाती हैं। फिर भी सुविधा और सरलता की दृष्टि से उक्त विभाजन की उपयोगिता अस्वीकृत नहीं की जा सकती।

१. प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल

इस काल के प्रथम ५०० वर्षों में वैदिक और बाद के ५०० वर्षों में लौकिक संस्कृत भाषा बोलचाल तथा साहित्य का माध्यम रही। इन भाषाओं की बोलचाल का रूप उपलब्ध नहीं है। जो रूप उपलब्ध है वह साहित्यिक रूप है।

अ. वैदिक संस्कृत उपकाल

वैदिक भाषा—वैदिकी, छन्दस्, प्राचीन संस्कृत, वैदिक संस्कृत आदि इसी के अन्य नाम हैं। इसका प्राचीनतम रूप ऋग्वेद के दूसरे मण्डल से लेकर नवें मण्डल तक की भाषा में है। ऋग्वेद के पहले और दसवें मण्डल की भाषा उक्त मण्डलों की भाषा की तुलना में परवर्ती भाषा है। ऋग्वेद के उपरान्त यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद; फिर ऐतरेय, शतपथ, गोपथ, ताण्ड्य आदि ब्राह्मण ग्रन्थों; ब्राह्मणों के अन्तिम भाग आरण्यकों और फिर वैदिक साहित्य के अन्तिम स्तर ईश, केन, कठ, तैत्तिरीय, छान्दोग्य आदि उपनिषदों में, कुछेक अपवादों को छोड़कर, वैदिक भाषा का क्रमशः विकसित होता हुआ रूप देखने को मिलता है। ऋग्वेद के २—९ मण्डलों की भाषा जहाँ अवेस्ता की भाषा के निकट है वहाँ उपनिषदों की भाषा लौकिक संस्कृत के निकट है। सूत्र-साहित्य (श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र) की भाषा वैदिक भाषा का अपेक्षाकृत और अधिक विकसित रूप है। यहाँ लौकिक संस्कृत से उसकी समीपता और बढ़ गयी है। विकासक्रम के साधारण

अन्तरों के बावजूद इस सम्पूर्ण साहित्य में एक ही वैदिक भाषा है, जिसकी सामान्य भाषावैज्ञानिक विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

ध्वनि :

भारोपीय भाषा का अति ह्रस्व मूल स्वर ə लुप्त हो गया। मूल स्वरों में ह्रस्व और दीर्घ ये ही दो भेद रह गये—

मूल : ह्रस्व स्वर—अ, इ, उ, ऋ, ऌ। ऌ केवल क्लृप् धातु में प्रयुक्त होता था, इस प्रकार उसका प्रयोग अत्यन्त सीमित था।

मूल : दीर्घ स्वर—आ, ई, ऊ, ॠ।

भारोपीय भाषा में संयुक्त स्वरों की संख्या लगभग ३६ थी। वैदिक भाषा में यह संख्या केवल ४ रह गयी—ए (अ+इ), ओ (अ+उ), ऐ (आ+इ), औ (आ+उ)। डॉ० चटर्जी तो ए और ओ को भी मूल स्वर ही मानने के पक्ष में हैं। उल्लेखनीय है कि प्राचीन फारसी में भी संयुक्त स्वरों की संख्या ४ ही है और उनका उच्चारण भी यही है।

भारोपीय के तीन कवर्गों के स्थान पर केवल एक ही कवर्गीय व्यंजन-ध्वनियाँ रह गयीं।

चवर्ग और टवर्ग के रूप में दो नये वर्गों का प्रयोग हुआ। इनमें से च वर्ग की च्, ज् ध्वनियाँ उन कण्ठ्य या कण्ठोष्ठ्य भारोपीय क्, ग् से विकसित हुई जिनके बाद अग्रस्वर प्रयुक्त थे। उदाहरण के लिए--

भारोपीय * kwe > लैटिन que, वैदिक संस्कृत च।
भारोपीय * kekore > वैदिक संस्कृत चकार।
भारोपीय * gwiwos > वैदिक संस्कृत जीव।
भारोपीय * augas > लैटिन ogas वैदिक संस्कृत ओजस्।

भारोपीय क्, ग् से वैदिक संस्कृत च्, ज् के विकास के कारण ही कई शब्दों में एक ध्वनि दूसरी के स्थान पर आ जाती है। जैसे वाच्—वाक्, युज—युग। वैदिक संस्कृत शुच् (शक्) धातु से शुक्र तथा शुचि दोनों शब्द निष्पन्न होते हैं। वैदिक छ् ध्वनि अग्र स्वर के पूर्व आने वाले भारोपीय *स्ख्य (ग्रीक Skia, वैदिक संस्कृत छाया) से विकसित हुई है। झ् ध्वनि वैदिक संस्कृत के शुद्ध भारोपीय मूल के शब्दों में नहीं

मिलती। वह सम्भवतः मुण्डा और द्राविड़ भाषा से आये हुए शब्दों या अनुकरणात्मक शब्दों के साथ ही वैदिक भाषा में चली आयी है।

टवर्ग ध्वनियाँ (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्) द्राविड़ भाषाओं के सम्पर्क की देन हैं। जैसे-जैसे द्रविड़-सम्पर्क बढ़ता चला गया, इन ध्वनियों का प्रयोग भी बढ़ता चला गया। ऋग्वेद के २—९ मण्डल तथा अन्य प्राचीन ऋचाओं की भाषा में टवर्ग का प्रयोग कम है। परवर्ती वैदिक संस्कृत में यह प्रयोग बढ़ गया है।

मूल भारोपीय भाषा में आरम्भ में बलाघात का प्रयोग होता था। इसी से उसमें मात्रिक अपश्रुति (Quantitatine Ablant) का विकास हुआ। किन्तु बाद में सुराघात का भी प्रयोग होने लगा और इसके फलस्वरूप गुणीय अपश्रुति Qualitatine Ablant) विकसित हुई। मूल भारोपीय में सुराघात केवल उदात्त और स्वरित था। लेकिन भारत-ईरानी भाषा के काल में अनुदात्त का भी विकास हो गया। फलस्वरूप भारत-ईरानी से अलग होने वाली भारतीय आर्य उपवर्ग की भाषा वैदिक संस्कृत को भी रिक्थ के रूप में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीन प्रकार के सुराघात (pitch accent) प्राप्त हुए। सुराघात की दृष्टि से वैदिक संस्कृत की तुलना में ग्रीक भाषा मूल भारोपीय के अधिक निकट है।

वैदिक भाषा में सुराघात का अर्थ-परिवर्तनकारी महत्व भी है। 'इन्द्र-शत्रु' में अन्तिम अक्षर उदात्त सुर के साथ बोला जाय तो इसका अर्थ तत्पुरुष या कर्मधारय[1] समास के अनुसार होगा। लेकिन यदि प्रथम अक्षर उदात्त सुर के साथ बोला जाय तो इसका अर्थ बहुव्रीहि समास[2] के अनुसार किया जायेगा। पौराणिक कथा है कि दैत्यों ने 'इन्द्र-शत्रु' शब्द में अस्थाने उदात्त सुर प्रयुक्त कर दिया था। फलस्वरूप अर्थ उलट गया था और इन्द्र का विनाश चाहने वाले वे स्वयं विनष्ट हो गये थे।

वैदिक साहित्य में सुराघात को चिह्नित करने की अनेक पद्धतियाँ हैं। ऋग्वेदीय पद्धति में अनुदात्त सुर वाले अक्षर के नीचे एक पड़ी रेखा (–), स्वरित सुर वाले अक्षर के ऊपर एक खड़ी रेखा (।) अंकित की जाती है। उदात्त सुर वाले अक्षर को अनंकित छोड़ दिया जाता है। उदाहरण के लिए—

१. इन्द्र रूपी शत्रु।
२. इन्द्र है शत्रु जिसका, वह।

अ॒ग्निना॑

अ—अनुदात्त,—ग्नि—उदात्त (फलस्वरूप अनंकित) और—ना—स्वरित सुर-यक्त अक्षर है ।

रूप—रूप-रचना के क्षेत्र में वैदिक संस्कृत मूल भारोपीय और भारत-ईरानी भाषा की परम्पराओं का ही निर्वाह करती है । भारोपीय की तरह ही तीन लिंगों (पुंल्लिग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग), तीन वचनों (एक, द्वि, बहु) और आठ कारकों (कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण और सम्बोधन) का प्रयोग वैदिक संस्कृत में मिलता है । वैदिक संस्कृत के अधिकांश विभक्ति-रूप भी सीधे भारोपीय से विकसित हैं ।

भारोपीय की तरह ही क्रिया में भी तीन वचन, तीन पुरुष और दो पद (आत्मने, परस्मै) थे । काल तथा क्रियार्थ मिलाकर क्रिया के कुल दस या ग्यारह प्रकार के रूपों का प्रयोग था । भारोपीय में शुद्ध काल केवल दो ही थे—वर्तमान और भूत । भविष्य की स्वतंत्र स्थिति नहीं थी । उसके लिए सम्भावनार्थ (Subjunctive) का प्रयोग किया जाता था । वैदिक संस्कृत में भी भविष्य के लिए सम्भावनार्थ या निश्चयार्थ (Indicative) के प्रयोग मुख्य रूप से होते रहे । लेकिन उनके साथ ही उसके स्वतंत्र रूप भी विकसित हो गये ।

वैदिक संस्कृत में अपवादों की बहुलता है । स्वभावतः यह भारोपीय की तुलना में तो कम है, लेकिन परवर्ती भाषा लौकिक की अपेक्षा अधिक है । एक ही अर्थ में एक से अधिक धातु और शब्द-रूप प्रचलित मिलते हैं । उदाहरण के लिए लौकिक संस्कृत में जहाँ केवल शृणु का प्रयोग मिलता है वहाँ वैदिक संस्कृत में श्रुधि, शृणुहि, शृणुधि ये तीन धातुरूप मिलते हैं । प्रथमा बहुवचन में मर्त्याः के अतिरिक्त मर्त्यासः; देवाः के अतिरिक्त देवासः; तृतीया बहुवचन में देवैः के अतिरिक्त देवेभिः; सप्तमी एकवचन में अग्नौ के अतिरिक्त अग्ना रूप भी प्रचलन में थे । कर्ता बहुवचन के साथ एकवचन की क्रिया भी प्रयुक्त मिल जाती है । विशेषण और विशेष्य के प्रयोगों में भी लौकिक संस्कृत की तरह सर्वत्र एकरूपता नहीं है । वाक्य में शब्द का स्थान निश्चित न होना तो लौकिक संस्कृत में भी है, लेकिन वैदिक संस्कृत में तो यह भी आवश्यक नहीं है कि उपसर्ग और क्रिया एक ही स्थान पर हों । वे वाक्य में कहीं भी प्रयुक्त हो सकते हैं । लौकिक संस्कृत में उनका प्रयोग क्रिया के ठीक पूर्व मिलता है ।

समास-रचना की प्रवृत्ति भारोपीय परिवार की उल्लेखनीय विशेषता है। भारोपीय भाषा में भी यह प्रवृत्ति थी। उससे ग्रीक, लैटिन, भारत-ईरानी, अवेस्ता, संस्कृत आदि भाषाओं को यह उत्तराधिकार रूप में मिली। वैदिक संस्कृत में केवल चार समासों—तत्पुरुष, कर्मधारय, बहुव्रीहि और द्वन्द्व का प्रयोग मिलता है। द्विगु तथा अव्ययी भाव इन दो समासों का विकास परवर्ती है।

शब्द—भारतवर्ष में आर्येतर भाषाभाषियों के सम्पर्क ने भारतीय आर्यभाषा वैदिक संस्कृत को न केवल ध्वनियों में प्रभावित किया; शब्द-समूह में भी प्रभावित किया। द्राविड़ तथा आस्ट्रिक भाषाओं से अनेक शब्द वैदिक संस्कृत में गृहीत हुए। उदाहरण के लिए अणु, कपि, काल, गण, पुष्कर, पुष्प, मयूर, अटवी, तंडुल, मर्कट आदि शब्द द्राविड़ भाषाओं से और बाण तथा प्रदेशवाचक अंग, कोसल आदि शब्द आस्ट्रिक भाषाओं से ग्रहण किये गये।

वैदिक संस्कृत भाषा का स्वरूप श्लिष्ट योगात्मक है।

आ. लौकिक संस्कृत उपकाल

बदला हुआ और नये प्रदेशों की विजय के साथ नित्य बदलता हुआ भूगोल, सदैव परिवर्तित होने वाला ऐतिहासिक परिवेश, आर्येतर जातियों का सम्पर्क और उनके द्वारा भारतीय आर्यभाषा को सीखने का यत्न, आर्यों द्वारा भी उनकी भाषा को समझने की चेष्टा—इस सबसे वैदिक संस्कृत का बोलचाल का रूप दूर तक प्रभावित हुआ। इसकी छाया उसके साहित्यिक रूप पर भी पड़ी। आर्य पश्चिमी प्रदेशों में ही मुख्य रूप से बसे हुए थे और वहाँ से पूर्व की ओर फैलने का यत्न कर रहे थे। पूर्वी प्रदेशों में आर्यों की संख्या कम और आर्येतर जातियों की संख्या अधिक थी। इसलिए पूर्वी प्रदेशों में भाषा के परिवर्तन की प्रक्रिया का भी अधिक तीव्र होना स्वाभाविक है। मध्य के प्रदेशों में यह प्रक्रिया अपेक्षाकृत कम और पश्चिमोत्तर प्रदेशों में सबसे कम रही होगी। इसके कारण वैदिक संस्कृत काल में ही बोलचाल की भाषा के तीन रूप निर्मित हो गये होंगे—पूर्वी, मध्यदेशीय और पश्चिमोत्तरी। भाषा अब भी संस्कृत ही थी। लेकिन तीन बोलियों के विकास की भूमिका प्रस्तुत हो चुकी थी। पश्चिमोत्तरी प्रदेशों में साहित्य और बोलचाल की भाषा में अधिक अन्तर नहीं था। इस प्रदेश के आर्य भाषागत शुद्धता के सम्बन्ध में चिन्तित भी थे। ताण्ड्य ब्राह्मण में कहा गया है कि लोग ऐसे वाक्य का उच्चारण भी कठिन बताते हैं जिसका उच्चारण अत्यन्त सरल है।[1] इसी पश्चिमोत्तर प्रदेश में जन्मे महान्

१. अदुरुक्तवाक्यं दुरुक्तमाहुः।—१७।४।

भाषाशास्त्री पाणिनि (डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार पाणिनि का काल ५वीं सदी ई० पू० का मध्य भाग है) ने अपने प्रदेश की बोली पर आधारित साहित्यिक भाषा को कुछ वैकल्पिक प्रयोगों की छूट देते हुए नियमबद्धता प्रदान की और उसे प्रायः सदा के लिए बाँध दिया।

लौकिक संस्कृत भाषा—पाणिनि द्वारा नियमबद्ध की गयी उपर्युक्त भाषा ही लौकिक संस्कृत, क्लैसिकल संस्कृत या संस्कृत कहलाती है। पूर्वी तथा मध्यदेशीय प्रदेशों में यह भले ही अधिक समय तक बोलचाल में न रही हो, लेकिन पश्चिमोत्तरी प्रदेशों में लगभग ५०० वर्ष तक बोलचाल का माध्यम बनी रही। साहित्यिक भाषा के रूप में तो इसकी मान्यता पण्डितराज जगन्नाथ के समय अर्थात् शाहजहाँ के समय तक रही है। आज भी इसमें साहित्य-सर्जन का प्रचुर कार्य हो रहा है। भारतीय संविधान में हिन्दी, गुजराती, बंगला, तमिल, मलयालम आदि १५ स्वीकृत भाषाओं में इसे भी स्थान दिया गया है।

ध्वनि—वैदिक संस्कृत में ए (अ+इ), ओ (अ+उ) संयुक्त स्वर थे। लौकिक संस्कृत में वे मूल स्वर बन गये। ऐ (आ+इ), औ (आ+उ) संयुक्त स्वरों का उच्चारण बदलकर क्रमशः अ+इ, अ+उ हो गया।

ॡ, ऋ और ॠ लेखन में तो प्रचलित रहे, लेकिन उनका उच्चारण कदाचित् ल्रि, रि और री हो गया।

आर्येतर भाषाभाषियों की उच्चारण-प्रवृत्ति के कारण अनेक शब्दों में र के स्थान पर ल् का प्रयोग होने लगा। पतंजलि ने स्वयं उनकी इस प्रवृत्ति की ओर इंगित किया है—'तेऽसुरा हेलयो हेलय इतिकुर्वन्तः पराबभूवुः' (वे असुर, हे अरयः के स्थान पर, हेलयः हेलयः कहते हुए पराजित हुए)। र् के ल् में इस परिवर्तन के कारण ही पाणिनि को प्रत्याहार सूत्रों में कहना पड़ा था कि उनके व्याकरण में र् से र् का ही नहीं ल् का भी ग्रहण होता है। 'रलयोरभेदः' (र् और ल् के अभेद) में भी उक्त परिवर्तन की ओर ही संकेत है।

कई ध्वनियों के उच्चारण-स्थान परिवर्तित हो गये। वैदिक तवर्ग ध्वनियाँ दन्तमूलीय थीं, लौकिक संस्कृत में दन्त्य हो गयीं। र् ध्वनि भी दन्तमूलीय न रहकर प्रायः मूर्धन्य हो गयी।

ळ्, ळह् ध्वनियाँ लेखन में समाप्त हो गयीं। उनके स्थान पर ड्, ढ् का ही लेखन होने लगा।

सुराघात का अर्थ-परिवर्तनकारी महत्व समाप्त हो गया। उसके स्थान पर बलाघात का विकास हो चला।

रूप—लौकिक संस्कृत में धातु तथा शब्द-रूपों की जटिलता और बहुलता बहुत कुछ कम हो गयी। उदाहरण के लिए वैदिक श्रुधि, शृणुहि, शृणुधि के स्थान पर केवल शृणु; इमसि और इमः के स्थान पर केवल इमः; ईष्टयं, ईष्टे, ईशे, ईशते इन चार एकार्थी वैदिक रूपों के स्थान पर केवल ईष्टे; मर्त्याः और मर्त्यासः, देवाः और देवासः, देवैः और देवेभिः के स्थानों पर क्रमशः केवल मर्त्याः, देवाः और देवैः रूप प्रयोग में रह गये। अग्नौ और अग्ना में से केवल अग्नौ ही सप्तमी एकवचन के रूप में प्रचलित रहा। विभिन्न सर्वनामों के अनेक वैकल्पिक रूप भी, जैसे अस्मे, त्वे, युष्मे, त्वा आदि प्रचलन से हट गये।

वैदिक संस्कृत में लेट् लकार (Subjunctive mood) का पर्याप्त प्रयोग है। विधिलिङ (Optative) की तुलना में वह लगभग चार गुना अधिक प्रयुक्त हुआ है। लेकिन लौकिक संस्कृत में वह पूर्णतः समाप्त हो गया। वैदिक संस्कृत में लिट् लकार का प्रयोग वर्तमान के अर्थ में हुआ है। लेकिन लौकिक संस्कृत में वह परोक्षभूत के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। क्रियारूपों में अन्य जितने भी परिवर्तन हुए हैं वे सब अपवाद-समाप्ति की दिशा में हुए अनजान प्रयत्नों के फल हैं। उदाहरण के लिए, वैदिक संस्कृत में सामान्यभूत लुङ (Aorist) लकार अन्यपुरुष एकवचन के दो रूप अगमत् और गमत् मिलते हैं। लेकिन लौकिक संस्कृत में अन्य धातु-रूपों की तरह अट्-आगम (Augment) अ—से युक्त रूप अगमत् ही प्रचलित हुआ और गमत् रूप प्रचलन से हट गया। आत्मनेपद लट् लकार अन्यपुरुष एकवचन में वैदिक संस्कृत में –ते और –ए दोनों ही प्रचलित हैं, जैसे शेते, शेये। लेकिन लौकिक संस्कृत में केवल –ते ही प्रयोग में रह गया। फलस्वरूप शेते रूप ही प्रचलित रहा और शेये रूप प्रचलन से हट गया।

अपवादों तथा वैकल्पिक रूपों के अनावश्यक बोझ को हटा देने की प्रवृत्ति लौकिक संस्कृत के प्रत्ययों में भी परिलक्षित होती है। उदाहरण के लिए, वैदिक संस्कृत में पूर्वकालिक कृदन्त के अनेक प्रत्यय हैं, जैसे—त्वा, त्वाय, त्वीन, त्वीय। किन्तु

लौकिक संस्कृत में केवल –त्वा (क्त्वा) तथा –य (ल्यप्) का ही प्रयोग रह गया। —त्वा अनुपसर्ग धातु के साथ और –य सोपसर्ग धातु के साथ जड़ता है। यदि –य ह्रस्व स्वर के उपरान्त आता है तो इसके पूर्व त् जुड़कर इसका रूप –त्य हो जाता है। जैसे—जित्वा (√जि), नीत्वा (√नी), पतित्वा (√पत्)। लेकिन निर्जित्य, आनीय, निपत्य आदि।

वैदिक संस्कृत में केवल चार ही समासों का प्रयोग है। लौकिक संस्कृत में द्विगु तथा अव्ययीभाव इन दो समासों का विकास और हो गया। इस प्रकार कुल संख्या छह हो गयी। द्विगु वास्तव में एक प्रकार का कर्मधारय समास ही है जिसमें पहला पद अन्य किसी विशेषण के स्थान पर संख्यावाचक विशेषण होता है, जैसे नवग्रही, त्रिलोकी, त्रिभुवन आदि। सम्भवतः कर्मधारय समास से ही द्विगु समास विकसित हो गया। अव्ययीभाव समास (परोक्षम्, यथाशक्ति, उपकृष्णम् आदि) भी कदाचित् कर्मधारय या बहुव्रीहि समास से विकसित हुआ।

वैदिक संस्कृत में प्रायः दो शब्दों के ही समास मिलते हैं। किन्तु लौकिक संस्कृत में अधिक शब्दों के समासों का मिलना साधारण बात है। लौकिक संस्कृत ज्यों-ज्यों बोलचाल से हटकर साहित्य मात्र में सीमित होती गयी त्यों-त्यों उसमें लम्बे-लम्बे समस्त पदों की योजना होती गयी।

उपसर्ग का प्रयोग अनिवार्य रूप से क्रिया के पूर्व होने लगा। भारोपीय या वैदिक भाषा की तरह उसे वाक्य-रचना में कहीं भी प्रयुक्त होने की छूट नहीं रही। रूपरचना के अन्य अधिकांश सन्दर्भों में लौकिक संस्कृत वैदिक संस्कृत की ही परम्पराओं का निर्वाह करती है। तीन लिंग, तीन वचन, आठ कारक आदि की परम्पराएँ लौकिक संस्कृत में ज्यों की त्यों हैं। विशेष्य और विशेषण के सामंजस्यपूर्ण प्रयोग में वैदिक संस्कृत की तुलना में लौकिक संस्कृत अधिक सतर्क है।

शब्द—आर्येतर भाषाओं से शब्द ग्रहण करने की प्रवृत्ति वैदिक संस्कृत में ही आरम्भ हो गयी थी। स्वभावतः लौकिक संस्कृत में उसका विकास हुआ और आस्ट्रिक, द्राविड़ आदि भाषाओं से अनेकानेक शब्द ग्रहण किये गये। अनुमान है कि आस्ट्रिक भाषाओं से लगभग सौ और द्राविड़ भाषाओं से लगभग एक हजार शब्द लौकिक संस्कृत में गृहीत हुए। प्रो० प्रजी लुस्की (Przy luski), ब्लॉख, सिलवाँलेवी तथा डॉ० सुनीतिकमार चटर्जी ने ऐसे अनेक संस्कृत शब्दों की ओर संकेत

किया है जो मूलतः आस्ट्रिक या द्राविड़ भाषाओं से आये हैं।[1] उदाहरण के लिए वैदिक संस्कृत की परम्परा से प्राप्त आस्ट्रिक शब्दों के अतिरिक्त पिनाक, ताम्बूल, कपोल, नारिकेल, कपोत, काक, हलाहल, शृंगार, कबरी, कवल (कौर), कदम्ब, निम्ब, जम्बु, अलाबु, उत्कल, पुलिंद आदि शब्द मूलतः आस्ट्रिक भाषाओं से ही संस्कृत में गृहीत हुए हैं। इसी प्रकार अनल, उलूखल, कज्जल, कटु, कानन, कुटी, कुटिल, कुन्तल, कुवलय, चन्दन, चुम्बन, चूडा, नीर, पण्डित, मीन, मुकुल, वलय, शव, हेरम्ब (भैंसा) आदि शब्द मूलतः द्राविड़ भाषाओं से ग्रहण किये गये हैं।

कुछेक वैदिक शब्द लौकिक संस्कृत में लुप्त हो गये। जैसे—दृशीक, दर्शत, अमीवा, तूप आदि जिनका अर्थ क्रमशः सुन्दर, रमणीय, रोग और घी था।[2] कुछ वैदिक शब्दों का अर्थ परिवर्तित हो गया। जैसे[3]—

शब्द	**वैदिक अर्थ**	**लौकिक अर्थ**
वध	कोई भयंकर शस्त्र	मार डालना
न	इव	नहीं
अरि	ईश्वर, निवासस्थान	शत्रु
क्षिति	गृह, मनुष्य	पृथ्वी
मृडीक	अनुग्रह	शिव का नाम

इतना सब होने पर भी लौकिक संस्कृत की मूलभूत संरचना वही है जो वैदिक संस्कृत की है। दोनों में विभिन्नताओं की अपेक्षा समानताएँ कहीं अधिक हैं। फिर जो विभिन्नताएँ हैं भी वे सतही और बाह्य हैं। इसके विपरीत समानताएँ मौलिक तथा संरचनागत हैं। यही कारण है कि लौकिक संस्कृत वैदिक संस्कृत से अपनी इतनी विभिन्नताओं के बावजूद प्रा० भा० आ० के अन्तर्गत ही, जिसकी एक भाषा वैदिक संस्कृत है, विवेचित होती है।

२. मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल—

पाणिनि द्वारा नियमबद्ध लौकिक संस्कृत का प्रयोग साहित्य में होता रहा। उच्च वर्ग और विशेषकर पश्चिमोत्तरी प्रदेशों के उच्च वर्ग में बोलचाल का माध्यम भी कदाचित् वही रही। लेकिन वैदिक संस्कृतकाल के उपरान्त उसके समानान्तर

१. **देखिए पी० सी० बागची द्वारा सम्पादित पुस्तक** 'Pre–Aryan and Pre–Dravidian.'

२. **सामान्यभाषाविज्ञान—बाबूराम सक्सेना, पृष्ठ ३५३।**

३. **वही, पृष्ठ ३५४।**

जनभाषा की एक सजीव परम्परा भी विकसित हो रही थी। पश्चिमोत्तरी प्रदेशों में उसके विकास की गति भले ही अधिक तीव्र न रही हो, लेकिन पूर्वी प्रदेशों में उसका विकास और प्रसार अत्यन्त तीव्र गति से हो रहा था। छठी शताब्दी ईसा पूर्व में ही इस जनभाषा को कितना व्यापक प्रसार और महत्व प्राप्त हो गया था, इसका आकलन एक इसी बात से हो सकता है कि महावीर (जन्म ६०० ई० पू० के लगभग) और बुद्ध (जन्म ५६३ ई० पू०) ने अपना सम्पूर्ण धर्मप्रचार लौकिक संस्कृत में न करके इसी जनभाषा में किया। मौर्य शासकों ने भी, जिनकी राजधानी पूर्वी प्रदेश के पाटलिपुत्र नगर में थी, इसी जनभाषा को प्रश्रय दिया।

जैन तथा बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों, अशोक के शिलालेखों और ललित साहित्य में म० भा० आर्यभाषा का जो रूप सुरक्षित है वह तत्कालीन जनभाषा का ज्यों का त्यों रूप है, यह कहना कठिन है। वस्तुतः तत्कालीन जनभाषा के रूप और इस सुरक्षित रूप में अन्तर होना चाहिए। अशोक के शिलालेखों की भाषा का रूप अवश्य जनभाषा के अपेक्षाकृत अधिक निकट रहा होगा। क्योंकि एक तो वह प्रदेशगत भाषिक विशेषताओं में ढला हुआ है और दूसरे, उसमें प्रक्षेपों और तथाकथित शुद्धीकरण की कोई सम्भावना नहीं रही है। उपर्युक्त अन्य सामग्री में म० भा० आ० काल की जनभाषा अपनी परिपूर्ण प्रगतिशीलता के साथ अंकित हो सकी होगी, इसमें सन्देह है। भाषा का मानक स्वरूप प्रायः पचास या इससे भी अधिक वर्ष पीछे की बोलचाल की भाषा पर आधारित होता है। यों इससे म० भा० आ० और प्रा० भा० आ० भाषाओं के उपलब्ध रूपों में समय के व्यवधान में कोई अन्तर नहीं पड़ता। क्योंकि वैदिक भाषा और आरम्भिक ग्रन्थों की लौकिक संस्कृत का रूप भी इसी प्रकार पचास वर्ष पीछे की बोलचाल की भाषा पर आधारित होना चाहिए।

म० भा० आ० काल को प्राकृत काल भी कहा जाता है। प्राकृतों के अतिरिक्त पालि और अपभ्रंश भाषाओं को भी प्राकृत संज्ञा दी जाती है। प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति प्रकृति से है। प्रकृति का अर्थ है बीज या मूल तत्व। जिससे दूसरे पदार्थों की उत्पत्ति हो वह प्रकृति है—प्रक्रियते यया सा प्रकृतिः। प्राकृत भाषा की प्रकृति क्या है? अर्थात् प्राकृत भाषाएँ कहाँ से उत्पन्न हुई हैं? इस सम्बन्ध में दो मत हैं। भारतीय वैयाकरणों का मत है कि प्राकृत भाषाओं की प्रकृति संस्कृत है। यानी उनकी उत्पत्ति संस्कृत से हुई है—

प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं, तत आगतं वा प्राकृतम्। (हेमचन्द्र ८।१)

(मार्कण्डेय, प्राकृतसर्वस्व, प्रथम पाद, प्रथम सूत्र)
(मूल संस्कृत है। उससे जन्मी भाषा प्राकृत है।)

प्रकृतिः संस्कृतं, तत्र भवं प्राकृतमुच्यते ।

(मूल संस्कृत है, उससे उत्पन्न भाषा को प्राकृत कहते हैं।)
प्राकृतस्य सर्वमेव संस्कृतं योनिः । (कर्पूरमंजरी के टीकाकार वासुदेव)
(प्राकृत की जननी संस्कृत है।)

प्राकृतप्रकाश के लेखक वररुचि, दशरूपक के टीकाकार धनिक, षड्भाषाचन्द्रिका के लेखक लक्ष्मीधर और आधुनिक विद्वानों में डॉ० रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर तथा चिन्तामणि विनायक वैद्य का भी यही मत है।

इसके विपरीत दूसरा मत है कि प्राकृत प्राकृत अर्थात् स्वाभाविक भाषा है। वह पहले निर्मित हुई। इसीलिए उसकी व्युत्पत्ति प्राक्+कृत है। उसी का संस्कार किया हुआ रूप संस्कृत है। इस सम्बन्ध में प्रायः काव्यालंकार की टीका से नमिसाधु और गउडबहो से वाक्पतिराज का मत उद्धृत किया जाता है। नमिसाधु का वचन है कि सहज वचन-व्यापार ही प्रकृति है और प्रकृति से उत्पन्न भाषा प्राकृत है।[1] वाक्पतिराज का कथन है कि जैसे जल सागर से निकलता और सागर में ही प्रवेश करता है, उसी प्रकार सब भाषाएँ प्राकृत से निकलतीं और प्राकृत में ही प्रवेश करती हैं।[2] ग्रियर्सन ने भी 'प्राइमरी प्राकृत' कहकर सम्भवतः इसी ओर इंगित किया है। पिशल का मत भी यही है।[3]

वस्तुतः नमिसाधु और वाक्पतिराज ने प्राकृत शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में किया है, विशिष्ट और रूढ अर्थ में नहीं। उनका आशय जनभाषा से है, म० भा० आ० काल की विशिष्ट रूढ भाषा या भाषाओं से नहीं। ग्रियर्सन और पिशल का भी

१. सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः तत्र भवं सैव वा प्राकृतम् ।
२. सयलाओ इमं वाया, विसंति एत्तो य णेंति वायाओ ।
एंति समुद्दं चिह णेंति, सायराओ च्चिय जलाइं ॥
३. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण—अनुवादक डॉ० हेमचन्द्र जोशी, १९५८, पृष्ठ ८–९।

आशय यही है। दूसरे मत का मूल मन्तव्य केवल यह है कि जनभाषा महत्वपूर्ण और स्वाभाविक होती है। यह मन्तव्य पहले मत के विरोध में कहाँ है ? पहले मत में जनभाषा की महत्वपूर्णता या स्वाभाविकता को नकारा कहाँ गया है ? उसमें प्राकृत शब्द का प्रयोग विशिष्ट और रूढ अर्थ में हुआ है और इस प्रकार केवल यह कहा गया है कि म० भा० आ० काल की प्राकृत भाषा संस्कृत से विकसित हुई है। आज भी जो व्यक्ति पहले मत के विरोध में सोचते हैं वे शायद यह मान बैठते हैं कि पहले मत के अनुसार प्राकृत का विकास उस संस्कृत से माना गया है जो रामायण, महाभारत, भास, कालिदास आदि में सुरक्षित है। वास्तव में इस संस्कृत से प्राकृत के विकास का प्रश्न ही नहीं है। प्राकृत का विकास प्रा० भा० आं० काल की जनभाषा से, जिसका नाम आरम्भ में वैदिकी या वैदिक संस्कृत और बाद में संस्कृत रहा होगा, हुआ। साहित्य में सुरक्षित भाषा का नाम भी संस्कृत है और १००० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक बोली जाने वाली भाषा का नाम भी संस्कृत था। स्वभावतः दोनों में अन्तर रहा होगा। लेकिन दोनों का नाम ठीक वैसे ही एक रहा होगा जैसे आज बोलचाल की हिन्दी और साहित्य की हिन्दी में अन्तर होते हुए भी दोनों का एक ही नाम हिन्दी है। संस्कृत बोलचाल की भाषा भी थी। या यों कहें कि उसका एक रूप बोलचाल का भी था। उसे लोक में व्यवहृत होने के कारण ही लौकिक कहा गया है और पाणिनि ने दूर से बुलाने, प्रणाम, प्रश्नोत्तर आदि के लिए स्वर-सम्बन्धी जो नियम बतलाये हैं उनसे भी यह बात सिद्ध होती है। संस्कृत के इसी बोलचाल के रूप से, जिसे संस्कृत ही कहना होगा, प्राकृत भाषाओं का विकास हुआ। इसलिए हेमचन्द्र, मार्कण्डेय, वररुचि, वासुदेव आदि का मत कि प्राकृत का जन्म संस्कृत से हुआ सर्वथा उचित है।

अ. पालि उपकाल––

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल के इस उपकाल के अन्तर्गत दो भाषाएँ हैं––पालि और अशोक की शिलालेखीय प्राकृत। प्राकृत वैयाकरणों ने न तो पालि भाषा का विवेचन किया है और न शिलालेखीय प्राकृत का। यह कहना कि वे इन दोनों से परिचित नहीं थे या परिचित हो नहीं सकते थे, गलत है। यह कहना भी गलत है कि वे साहित्य की भाषा का ही अध्ययन करना चाहते थे। यदि ऐसा होता तो जैन धार्मिक ग्रन्थों की भाषा अर्धमागधी का विवेचन वे नहीं करते। ऐसा प्रतीत होता है कि देश में बौद्ध धर्म का प्रायः लोप हो जाने और फलस्वरूप उसकी भाषाओं के भी प्रचलन से हट जाने के कारण सम्भवतः उन्होंने पालि तथा शिलालेखीय प्राकृत का अध्ययन

आवश्यक नहीं समझा। जो भी हो, इन भाषाओं का अध्ययन आधुनिक काल में यूरोपीय तथा भारतीय विद्वानों द्वारा सम्पन्न हुआ।

पालि—पालि शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में गम्भीर मतभेद हैं। पंडित विधुशेखर भट्टाचार्य के अनुसार पङ्क्ति, मैक्सवालेसर के अनुसार पाटलि, भिक्षु जगदीश काश्यप के अनुसार परियाय = बुद्धवचन (सं० पर्याय) > पलियाय > पालियाय > पालि[1], कोसम्बी नामक बौद्ध विद्वान् के अनुसार पाल् (रक्षा करना) तथा भिक्षु सिद्धार्थ के अनुसार सं० पाठ से इसकी व्युत्पत्ति हुई है। आचार्य मोग्गल्लान ने पा धातु में उणादि के 'लि' प्रत्यय के योग से उसकी व्युत्पत्ति सिद्ध की है और उसका अर्थ पंक्ति तथा श्रेणी बतलाया है। 'अत्थान् पाति रक्खतीति तस्मा पालि' (अर्थों की रक्षा करती है, इसलिए पालि) इस प्रकार भी पा धातु से पालि की व्युत्पत्ति को सिद्ध किया गया है। पालि पल्लि या गाँव की भाषा होने के कारण पालि कहलायी यह मत भी प्रतिपादित किया गया है।

प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में पालि शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में नहीं है। भाषा के लिए सदैव मागधी शब्द का प्रयोग हुआ है। पालि शब्द का प्रयोग मूल त्रिपिटक[2] के लिए, जो अधिकांशतः बुद्ध-वचनों का संग्रह है और मगध सम्राट अशोक के पुत्र महेन्द्र के द्वारा लंका में बौद्ध धर्म के प्रचार के उपरान्त लंकानरेश वट्टगामणि के संरक्षण में लिपिबद्ध किया गया, हुआ है। मूल त्रिपिटक पर बुद्धघोष के द्वारा अर्थकथा (अट्ठकथा) लिखी गयी। प्रयोग मिलते हैं—नेव पालियं न अट्ठकथायं दिस्सति', अर्थात् न तो पालि में और न अर्थकथा में ही यह देखा जाता है; 'नेव पालियं न अट्ठकथायं आगतं', अर्थात् न यह पालि में है और न अर्थकथा में आया है। इन प्रयोगों से स्पष्ट है कि पालि शब्द का प्रयोग मूल त्रिपिटक-वाचक था। धीरे-धीरे पालि शब्द के अर्थ में परिवर्तन हुआ और वह उस भाषा का वाचक बन गया जिसमें मूल त्रिपिटक या

१. पालि महाव्याकरण—भिक्षु जगदीश काश्यप, पहला खण्ड, पृष्ठ नव—ग्यारह।

२. सुत्तपिटक, विनयपिटक, अभिधम्मपिटक। सुत्तपिटक में बुद्ध का धर्मोपदेश; विनयपिटक में उनके द्वारा संघ-संचालन को नियमित करने के लिए समय-समय पर दी गयी शिक्षाएँ; अभिधम्मपिटक में विज्ञान, संस्कार, वेदना, संज्ञा आदि का बुद्ध के द्वारा किया गया दार्शनिक विवेचन संकलित है। सुत्तपिटक में बुद्ध के प्रधान शिष्य सारिपुत्र, मोग्गल्लान आदि के भी कुछ सूत्र हैं जिनका अनुमोदन बुद्ध ने कर दिया है।

बुद्धवचन लिखे हुए हैं। पालि शब्द के अर्थपरिवर्तन की यह स्थिति उसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में भिक्षु जगदीश काश्यप के मत की प्रामाणिकता की ओर भी संकेत करती है।

पालि : मूलस्थान—पालि भाषा के नाम तथा धातुरूपों में सर्वत्र एकरूपता नहीं है। सम्भवत: विभिन्न प्रदेशों के भिक्षुओं के कारण विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं और बोलियों के तत्व उसमें प्रवेश कर गये। यही कारण है कि पालि के मूल स्थान के निर्धारण में कठिनाइयाँ हैं और किसी एक प्रादेशिक बोली के तत्वों को आधार बनाकर पालि को झट से उसी प्रदेश की सिद्ध कर देने की चेष्टाएँ होती रही हैं। इस प्रकार उसे मगध, उज्जयिनी, विन्ध्य प्रदेश, कलिंग, कोसल, अर्धमगध, शूरसेन आदि प्रदेशों से सम्बद्ध किया गया है। पालि ग्रन्थों में मूल भाषा के लिए मागधी शब्द का ही प्रयोग हुआ है और यह स्वाभाविक ही है कि भगवान् बुद्ध ने अपने प्रदेश की बोली में ही उपदेश दिये हों। किन्तु त्रिपिटक की भाषा पालि में मागधी के प्रमख लक्षणों का अभाव सा है। उदाहरण के लिए, मागधी में र् के स्थान पर ल् और ष्, स् के स्थान पर भी श् ध्वनि प्रयुक्त होती है। लेकिन पालि में र् और ल् दोनों ही ध्वनियों तथा श्, ष् के स्थान पर भी स् ध्वनि का प्रयोग है। जैसे—

र् > ल् ;	परिष्वजते	>	पलिस्सजति
ल् > र् ;	आलम्बन	>	आरम्मण
र् > र्, ल् ;	तरुण	>	तरुण, तलुण
श् > स् ;	शकुन	>	सकुण
ष् > स् ;	आयुष्मान्	>	आवुसा
स् > स् ;	स्वादते	>	सायति

मागधी में पुंल्लिग-नपुंसकलिंग अकारान्त शब्दों के कर्ता एकवचन के रूप एकारान्त होते हैं। जैसे धम्मे, एशे पुलिशे (< एष पुरुष:)। लेकिन पालि में एकारान्त रूप बहुत ही कम हैं। अधिकांश रूप मध्यदेश की प्राचीन भाषा शौरसेनी की तरह ओकारान्त हैं। जैसे धम्मो, समणो झायति (श्रमण ध्यान लगाता है।) दारको गेहे चरिस्सति, सो भूपालो भविस्सति, कुमारी अत्तनो पोत्थकं विक्किणाति। ऊपर पालि की जिन ध्वनिगत विशेषताओं की ओर संकेत किया गया है वे भी उसे मध्यदेश की बोली ही सिद्ध करती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्धवचनों का मल मागधी से मध्यदेश की भाषा (शौरसेनी प्राकृत की पूर्ववर्ती) में, जो मथुरा से उज्जैन तक प्रचलित थी, अनुवाद हुआ होगा। राजकुमार महेन्द्र ने, जिनकी मातृभाषा मध्यदेश की

भाषा ही थी[1], इसी अनूदित त्रिपिटक का अध्ययन किया होगा और जब वे धर्मप्रचारार्थ लंका गये तो स्वभावतः इसी अनुवाद को अपने साथ ले गये। इसकी भाषा में जो मागधी तत्व हैं उनका समाधान सिलवाँलेवी तथा लूडर्स यह कहकर करते हैं कि वे अनुवादकों की असावधानी तथा छन्दनिर्वाह के आग्रह से आ गये हैं।

बौद्ध ग्रन्थों में पालि का क्रमशः विकसित होता हुआ रूप मिलता है। त्रिपिटक के पद्य भाग की भाषा प्राचीनतम है। वह वैदिक संस्कृत की अनेक परम्पराओं का निर्वाह करती है। गद्य भाग की भाषा कुछ विकसित है। इसमें अपेक्षाकृत अधिक एकरूपता है। मिलिन्दपञ्हो और अटठकथा की भाषा पालि की और भी विकसित भाषा-स्थिति की द्योतक है। इसके उपरान्त स्थविर महानाम के ग्रन्थ महावंस की भाषा, जिसमें लंका का पद्यमय इतिहास है, पालि का सहज विकास न होकर बौद्ध साहित्य में संस्कृतीकरण की प्रक्रिया से प्रभावित है। यह भाषा लौकिक संस्कृत के अधिक निकट है।

ध्वनि—वैदिक संस्कृत में ५५ और लौकिक संस्कृत में ५२ ध्वनिग्रामों का प्रयोग हुआ है। पालि में पालि-वैयाकरण मोग्गल्लान के अनुसार यह संख्या ४३ 'अआदयो तितालीस वण्णा' रह गयी। ४३ ध्वनिग्रामों में अनुस्वार भी सम्मिलित है। पालि-वैयाकरणों ने इसे निग्गहीत नाम से अभिहित किया है।

मोग्गल्लान ने 'दसादो सरा' कहकर स्वरों की कुल संख्या दस बतायी है। ये स्वर हैं—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऍ, ए, ओॅ, ओ। स्पष्ट है कि ऐ, औ, ऋ, ॠ, लृ का लोप तथा ऍ और ओॅ इन दो ह्रस्व स्वरों का विकास हो गया। मोग्गल्लान का कथन है'—'संयुक्त अक्षर के पूर्व आने वाले ए तथा ओ ह्रस्व होते हैं।' संयुक्त या द्वित्व व्यंजन पर बलाघात होता है। फलस्वरूप उसके पूर्ववर्ती स्वर का ह्रस्व हो जाना स्वाभाविक ही है। ऋ का परिवर्तन कहीं अ, कहीं इ और कहीं उ में हो गया है। जैसे—

१. अशोक १८ वर्ष का ही था कि बिन्दुसार ने उसे अवन्ति राष्ट्र का प्रमुख बनाकर उज्जयिनी भेजा था। उज्जयिनी उस समय 'अवन्ति राष्ट्र' की राजधानी थी। वहीं पर अशोक ने महादेवी नामक कन्या से विवाह कर लिया। महेन्द्र और संघमित्रा महादेवी की ही सन्तान थीं।

—प्राचीन भारत का इतिहास—वी० डी० महाजन, १९६७, पृष्ठ २४१।

तृतीया > ततिया , हृदय > हदय
मृग > मिग , ऋण > इण
ऋजु > उजु , पृच्छति > पुच्छति

वैदिक कालीन ळ, ळह् व्यंजन ध्वनियाँ, जो लौकिक संस्कृत में लुप्त हो गयी थीं, पालि में सुरक्षित हैं। वैदिक तथा लौकिक संस्कृत की श्, ष् तथा स् ध्वनियों के स्थान पर, जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, केवल स् ध्वनि मिलती है।

ध्वनिपरिवर्तन की प्रक्रिया के अन्तर्गत अनेक प्रवृत्तियाँ, जो म० भा० आ० के परवर्ती दो उपकालों में और अधिक विकसित हुईं, पालि में स्पष्टतः विद्यमान हैं। जैसे—

(१) समीकरण—यह प्रवृत्ति पालि में पूर्णतया प्रतिष्ठित है : दुर्लभ > दुल्लभ, आर्य > अय्य, कुर्वन्ति > कुब्बन्ति, सप्त > सत्त, कर्क > कक्क, स्वप्न > सोप्प, शुक्ल > सुक्क, अश्व > अस्स।

(२) घोषीकरण—शाकल > सागल, उताहो > उदाहु।

(३) अघोषीकरण—म० भा० आ० के प्राकृत उपकाल में पैशाची प्राकृत की यह महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है। पालि में सम्भवतः पैशाची प्राकृत की पूर्ववर्ती भाषा के प्रभाव से ही कहीं-कहीं अघोषीकृत ध्वनियाँ विद्यमान हैं : कुसीद > कुसीत, पाजेति > पाचेति, मृदंग > मुतिंग।

(४) महाप्राणीकरण—कील > खील, परशु > फरसु।

(५) अल्पप्राणीकरण—भगिनी > बहिणी।

(६) सघोष महाप्राण का ह् में परिवर्तन—म० भा० आ० के प्राकृत उपकाल में महाराष्ट्री प्राकृत की यह प्रमुख प्रवृत्ति है। पालि में या तो इस प्रवृत्ति का बीजारोपण हो चुका था या फिर यह भी सम्भव है कि परवर्ती काल से ये विकसित रूप में पालि में पहुँच गये हों : लघु > लहु, रुधिर > रुहिर, भवति > होति।

(७) अन्त्य व्यंजन लोप—विद्युत् > विज्जु, सुमेधस् > सुमेध। कभी-कभी अन्त्य स्वरागम भी हुआ है : शरत् > सरद, सुमेधस् > सुमेधस।

पालि में सुराघात लुप्त हो चला। उसके स्थान पर बलाघात का प्रयोग होने लगा। इसी बलाघात के कारण ए, ओ दीर्घ ध्वनियों के ह्रस्व रूप ऍं, ओॅ विकसित हुए

और कभी-कभी इसी के कारण स्वरलोप भी, जैसे अलंकार > लंकार भी सम्भव हुआ ।

रूप—अन्त्य व्यंजनलोप और अन्त्य स्वरागम के कारण व्यंजनान्त प्रातिपदिकों का प्रायः अभाव हो गया । प्रायः सभी प्रातिपदिक स्वरान्त हो गये । फलस्वरूप विभिन्न शब्दों के रूप एक से चलने लगे । स्वरान्त शब्दों में भी अकारान्त शब्दों की प्रमुखता होने के कारण अन्य स्वरों से अन्त होने वाले शब्दों के रूप भी सादृश्य के आधार पर अकारान्त रूपों की तरह ढलने लगे। उदाहरण के लिए, इकारान्त शब्द अग्गि और उकारान्त शब्द सत्थु (शास्ता, बुद्ध) के सम्प्रदान तथा सम्बन्ध कारक में अग्गिस्स, सत्थुस्स जैसे रूप मिलते हैं ।

वैदिक संस्कृत की तरह रूपों में अपवादों की प्रचुर संख्या है । उदाहरण के लिए बुद्ध शब्द के सप्तमी एकवचन में बुद्धे, बुद्धम्हि तथा बुद्धस्मिं ये तीन रूप हैं। पितु शब्द के तृतीया तथा पंचमी बहुवचन में पितरेहि, पितरेभि, पितूहि, पितूभि ये चार रूप हैं । षष्ठी एकवचन में पितु, पितुनो, पितुस्स और बहुवचन में पितरानं, पितानं, पितूनं ये तीन तीन रूप हैं । उत्तम पुरुष सर्वनाम अम्ह (मैं) के कर्ताकारक बहुवचन में चार रूप हैं—मयं, अस्मा, अम्हे, नो । सम्प्रदान एवं सम्बन्ध कारक एकवचन में मम, मय्हं, अम्हं, ममं, मे तथा बहुवचन में अस्माकं, अम्हाकं, अम्हं, अम्हे, नो रूप मिलते हैं ।

लिंग तीन हैं। लेकिन वचन केवल दो रह गये हैं—एकवचन और बहुवचन। द्विवचन का प्रायः लोप हो गया। इसके परिणामस्वरूप शब्द के कुल रूपों की संख्या में कमी हो गयो।

क्रियारूपों में तीन पुरुष, दो वचन (एक वचन और बहुवचन) और एक पद केवल परस्मै (आत्मनेपद का प्रायः लोप हो गया) मिलता है। लकारों की संख्या वैदिकी में ११ और लौकिक संस्कृत में १० है। लौकिक संस्कृत में लेट् लकार समाप्त हो गया था। पालि में लिट् (परोक्षभूत) तथा लुट् (अनद्यतन भविष्य) लकार भी प्रायः समाप्त हो गये। इस प्रकार लकारों की संख्या केवल ८ (लट्, लङ, लुङ, लृट्, लोट्, विधिलिङ, आशीर्लिङ और लृङ) रह गयी। प्रा० भा० आ० काल के १० गणों–भ्वादि, अदादि, जुहोत्यादि, दिवादि, स्वादि, तुदादि, रुधादि, तनादि, क्यादि, चुरादि के स्थान पर केवल ९ गण रह गये। अदादि गण का लोप हो गया। रुधादि, दिवादि और

तुदादि गण भी अपवाद स्वरूप ही रह गये। इन्हें भी छोड़ दिया जाय तो पालि में वस्तुतः गणसंख्या केवल ६ रह गयी। प्रा० भा० आ० काल की भाषाओं में ३ वाच्य हैं—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य। म० भा० आ० काल के पालि उपकाल में ही भाववाच्य का प्रायः लोप हो गया और वाच्य केवल दो—कर्तृ और कर्म रह गये।

शब्द—तद्भव शब्दों की संख्या अधिक है। प्रा० भा० आ० काल में गृहीत द्राविड़ तथा आस्ट्रिक भाषाओं के अधिकांश शब्द पालि में भी सुरक्षित हैं।

अभिलेखीय प्राकृत—२७२ ई० पू० में अशोक का राज्यारोहण और २६८ ई० पू० में राज्याभिषेक हुआ। राज्यारोहण के लगभग १३ वर्ष बाद उसने बौद्ध धर्म अंगीकार किया। अपने शासनकाल के विभिन्न समयों में उसने अपने धर्म और शासन सम्बन्धी सिद्धान्तों तथा नैतिक नियमों को 'अभिषेक से ८ वर्ष बाद, ९ वर्ष बाद' आदि शब्दों में स्पष्ट तिथियाँ देते हुए देश के विभिन्न भागों में शिला, स्तम्भ और गुहालेखों के रूप में उत्कीर्ण कराया। उसके चौदह बृहत् शिलालेख, सात स्तम्भलेख, कुछ गुहालेख और कई एक फुटकर लेख प्राप्त तथा प्रकाशित हैं। इनमें से पेशावर से ४० मील उत्तर-पूर्व शाहबाजगढ़ी में और पंजाब के हजारा जिले में ऐबटाबाद के पास मनसेरा नामक स्थान से एक मील पश्चिम की ओर पहाड़ों पर खुदे हुए शिलालेखों की लिपि खरोष्ठी है। अन्य सभी लेख ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण हैं।

म० भा० आ० काल की भाषा के विकसित होते हुए रूप और उसमें पनपती हुई प्रादेशिक विशेषताओं के अध्ययन की दृष्टि से अशोक के अभिलेखों का अत्यधिक महत्व है। इन अभिलेखों के आधार पर निकाले गये निष्कर्षों की परीक्षा करने के लिए ई० पू० की अन्तिम तीन शताब्दियों में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा उत्कीर्ण कराये गये कुछ अन्य अभिलेख भी हैं, जिनमें मिर्जापुर जिले के रामगढ़ पर्वत की जोगीमारा गुफा का लेख, जैन मतावलम्बी कलिंगराज खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख और यवन राजदूत हेलियोदोरस का विदिशा म० प्र० के निकट स्थित वेसनगर अभिलेख उल्लेखनीय है।

अशोक के अभिलेखों से, पालि के उपरान्त लेकिन परवर्ती प्राकृतों के पूर्व, उत्तर भारत में कम से कम तीन बोलियों का होना प्रमाणित होता है—

(१) पश्चिमोत्तरी बोली, जो शाहबाजगढ़ी और मनसेरा के अभिलेखों में प्रयुक्त हुई है। (२) दक्षिण-पश्चिमी बोली, जिसमें गिरनार, कालसी आदि के अभिलेख हैं। (३) पूर्वी बोली, जो उड़ीसा के धौली, जौगड़ आदि पूर्वी अंचल के प्रधान अभिलेखों की बोली है। जोगीमारा का परवर्ती अभिलेख भी इसी पूर्वी बोली के उदाहरण प्रस्तुत करता है।

पश्चिमोत्तरी बोली—मनसेरा शिलालेख की अपेक्षा शाहबाजगढ़ी शिलालेख की बोली पश्चिमोत्तरी बोली का अधिक सही प्रतिनिधित्व करती है। मनसेरा शिलालेख की बोली पर पूर्वी प्रभाव है। पश्चिमोत्तरी बोली की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) ऐ > ए, औ > ओ : —तवै (प्रत्यय)—तवे, पौत्र > पोत।

(२) ऋ > रु, रि, र : मृग > म्रुग, म्रिग, वृद्धि > व्रधि।

(३) र् ध्वनि ल् में परिवर्तित नहीं हुई।

(४) ञ् और ण् ध्वनि विद्यमान है : रञो, हञति; प्रणशतसहस्रनि, कलाण (< कल्याण)।

(५) श्, ष्, स् तीनों ही ध्वनियाँ हैं :

प्रियदर्शी > प्रियद्रशि, वर्षेषु, > वषेषु,—स्मिन् (सप्तमी एकवचन की विभक्ति) > —स्पि। लेकिन श्, ष् को स् में परिवर्तित करने की प्रवृत्ति भी है : द्वादश > दुवडस, हापयिष्यति > हापेसदि।

(६) पैशाची प्राकृत की अघोषीकरण की प्रवृत्ति के बीज भी पश्चिमोत्तरी बोली के इन अभिलेखों में परिलक्षित होते हैं : मग > मक, बाढम् > पढम्।

(७) अकारान्त शब्दों के प्रथमा एकवचन में—ओ का प्रयोग : जनो; और सप्तमी एकवचन में –ए,– स्पि या कहीं-कहीं –सि का प्रयोग है : ध्रमे, ओरोधनस्पि, उढनसि।

(८) पालि की अन्य विशेषताएँ द्विवचन का लोप, आत्मनेपद का लोप आदि सुरक्षित हैं। गणों की संख्या और कम होकर दो (भ्वादिगण और चुरादिगण) रह गयी है। प्रा० भा० आ० के अन्य गणों की धातुओं के रूप मुख्यत: भ्वादिगण की धातुओं के अनुसार चलने लगे हैं।

दक्षिण-पश्चिमी बोली—

(१) ऐ > ए, औ > ओ : —तवै (प्रत्यय)> —तवे, पौत्र > पोत।
(२) ऋ > अ : कृत > कत, मृग > मग।
(३) र् ध्वनि ल् में परिवर्तित नहीं हुई।
(४) ञ् और ण् ध्वनि विद्यमान है : राञा, अञ। प्राणसतसहस्रानि, दसण (दर्शन)। लेकिन कहीं-कहीं ण् ध्वनि न् में भी परिवर्तित हो गयी है। जैसे— 'इयं धंमलिपि देवानं प्रियेन प्रियदसिना राञा लेखापिता'[1] में प्रियेण > प्रियेन।

(५) श्, ष् > स् ; स् सुरक्षित है।

द्वादश > द्वादस, यादृश > यारिस
औषध > ओसुढ, शुश्रूषा > सुसंसा
स्वर्ग > स्वग, संख्या > सछाय

(६) स्वरमध्यग द् तथा व् का लोप : तादृश > तारिस, स्थविर > थइर।
(७) अनादि महाप्राण घोष व्यंजन — ह् : लघु > लहु, बहुभिः> बहूहि।
(८) अकारान्त शब्दों के प्रथमा एकवचन में—ओ : देवानं पियो। और सप्तमी एकवचन में –ए तथा –म्हि का प्रयोग है : प्रकरणे, अप्रकरणम्हि, तम्हि।

(९) क्रियारूपों में पश्चिमोत्तरी भाषा की तुलना में सरलीकरण कम है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि दक्षिण-पश्चिमी बोली संस्कृत के केन्द्रीय प्रदेश में व्यवहृत होने के कारण उसके प्रभाव से अपेक्षाकृत कम मुक्त हो सकी। आत्मनेपद सुरक्षित है : करोते (अन्यपुरुष एकवचन), करंते (अन्यपुरुष बहुवचन)।

पूर्वी बोली—

(१) ऐ > ए, औ > ओ : —तवै > —तवे, पौत्र > पोत।
(२) ऋ > इ : मृग > मिग, ईदृश > एदिस।
(३) र् > ल् : राज्ञा > लाजिना, पूर्वम् > पुलुवं, मयूराः> मजुला।
(४) ञ् नहीं है। ण् के स्थान पर न् विद्यमान है :
राज्ञा > रञो (शाहबाजगढ़ी शिलालेख)
> राञा (गिरनार शिलालेख)

१. गिरनार अभिलेख।

> लाजिना (जौगड़ शिलालेख)

प्रियेण > पियेन, पानसतसहसानि (< प्राणशतसहस्राणि)

(५) श्, ष्, > स; स् सुरक्षित है :

प्रियदर्शी > पियदसि, दश > दस

बहुषु > बहूसु, शुश्रूषा > सुसूसा

साधुः > साधू, वसेयुः > वसेयू

ष्, स् के स्थान पर भी श् का प्रयोग पूर्वी बोली की मख्य विशेषता है। लेकिन अशोक के शिलालेखों में सर्वत्र स् का ही प्रयोग हुआ है जो वस्तुतः दक्षिण-पश्चिमी बोली की विशेषता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वी बोली में प्रचलित होने पर भी श् ध्वनि को सम्भवतः पश्चिमोत्तरी और दक्षिण-पश्चिमी उच्चारणों के प्रभाव के कारण शासकीय भाषा में ग्रहण नहीं किया गया था। जो भी हो, पूर्वी बोली की यह महत्वपूर्ण प्रवृत्ति जोगीमारा के अभिलेख की भाषा में देखी जा सकती है—शुतनूक नम देवदशिकि। तं कमयिथ वलनशेये देवदिने नम लपदखे।' (सुतनूका नामक देवदासी—वाराणसी के देवदत्त नामक रूपदक्ष ने उसकी कामना की।) अश्वघोष के नाटकों की प्राचीन मागधी या पूर्वी प्राकृत में भी ऊष्मों में सर्वत्र केवल श् ध्वनि विद्यमान है।

(६) अकारान्त शब्दों के प्रथमा एकवचन में—ए : मृगः > मिगे, एकः > एके, जनः > जने। और सप्तमी एकवचन में —सि का प्रयोग है : अठसि।

(७) क्रियारूपों में सरलीकरण की प्रवृत्ति है। लेकिन कहीं कहीं आत्मनेपद का रूप सुरक्षित है।

आ. प्राकृत उपकाल

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के इस उपकाल (१ ई०—५०० ई०) के अन्तर्गत प्राकृत भाषाओं के दो वर्ग हैं। इन्हें पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती वर्ग कहा जा सकता है।

पूर्ववर्ती वर्ग—अभिलेखीय प्राकृत के उपरान्त और प्राकृत उपकाल की साहित्यिक प्राकृतों के पूर्णतः आरम्भ होने के पूर्व की कुछ प्राकृतों का भाषाविज्ञान के ग्रन्थों में प्राकृत उपकाल के पूर्व अलग से अध्ययन करने की परम्परा है। इन प्राकृतों में अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत (पहली सदी), धम्मपद की प्राकृत (दूसरी सदी), निय प्राकृत (तीसरी सदी) और बौद्ध धर्म की महायान शाखा के कुछ ग्रन्थों की संस्कृत-

प्रभावित प्राकृत भाषा (पहली सदी) है। लेकिन कालक्रम और भाषिक विशेषताओं की दृष्टि से ये प्राकृत–उपकाल की ही भाषाएँ हैं। इस बात को सभी भाषाविज्ञानियों ने स्वीकार किया है। फिर भी उनके ग्रन्थों में इन भाषाओं का अलग से अध्ययन किये जाने का कदाचित् मुख्य कारण यह है कि प्राकृत वैयाकरणों ने (चूंकि वे इनसे परिचित नहीं थे) अपने व्याकरणों में इनकी चर्चा नहीं की है और इनकी खोज बहुत बाद में हुई है। उदाहरण के लिए, अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत का ज्ञान १९११ ईसवी में, मध्य एशिया के तुर्फान नामक स्थान पर प्रोफेसर एच० लूडर्स को ताड़पत्र-पाण्डुलिपियों में अश्वघोष के नाटक शारिपुत्रप्रकरण के कुछ अंश प्राप्त होने पर, हुआ। १८९२ ईसवीं में फ्रांसीसी पर्यटक दुत्रुइलदराँ को खोतान में खरोष्ठी लिपि के कुछ लेख प्राप्त होने पर धम्मपद प्राकृत के सम्बन्ध में हमें पहली जानकारी हुई। १९०० से १९१४ ईसवी के मध्य चीनी तुर्किस्तान के निय नामक प्रदेश में ऑरेल स्टेन को कुछ लेख मिले। खरोष्ठी लिपि में लिखित इन लेखों की भाषा का अध्ययन १९३७ ईसवी में टी–बरो द्वारा सम्पन्न हुआ। उन्होंने इसे प्राकृत भाषा में लिखा बताया। इसी प्रकार बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन भी परवर्ती है। इन खोजों और अध्ययनों के पूर्व भाषाविज्ञानियों के सामने केवल संस्कृत नाटक, प्राकृत साहित्य और व्याकरणों में सुरक्षित सामग्री ही थी। उन्होंने उसी के आधार पर प्राकृत काल या उपकाल की भाषाओं का विवरण दे दिया। लेकिन उक्त खोजों के उपरान्त उन्होंने उपर्युक्त चार प्राकृतों का विवेचन भी आवश्यक समझा। इन प्राकृतों का काल पहले से विवेचित प्राकृतों के काल की अपेक्षा कुछ पूर्ववर्ती देखकर उन्होंने इनका विवेचन प्राकृत काल में ही न करके उसके पूर्व कर दिया। फिर यह गलत परम्परा ग्रन्थ-पर-ग्रन्थ चलती गयी। कभी-कभी इसे ढाँकने के लिए नयी खोजी गयी प्राकृतों को सन्धिकालीन प्राकृत या ऐसा ही कोई अन्य नाम भी दे दिया गया। हम समझते हैं कि इनका अध्ययन प्राकृत उपकाल, या जिसे प्रायः प्राकृत काल कहा जाता है, के अन्तर्गत ही होना उचित है। विवेचन की सुविधा की दृष्टि से हमने इन्हें प्राकृत उपकाल का पूर्ववर्ती वर्ग कहा है।

प्रस्तुत वर्ग की चारों प्राकृतों (अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत, धम्मपद की प्राकृत, निय प्राकृत, महायान शाखा की संस्कृतप्रभावित प्राकृत) में से अन्तिम का अध्ययन ऐतिहासिक विकास-परम्परा के सन्दर्भ में अधिक उपयोगी नहीं है। वह दिव्यावदान, ललितविस्तर आदि की भाषा है। लेकिन वास्तव में वह भाषा का सहज विकास न होकर पुनरुत्थान की प्रवृत्ति-वश संस्कृत की ओर लौटने की एक पुस्तकीय

चेष्टा मात्र है। कीथ और कलिहार्न का मत तो यह है कि ये ग्रन्थ किसी मूल प्राकृत के संस्कृत अनुवाद मात्र हैं और अनुवादक की असावधानी के कारण ही इनमें कुछ प्राकृत तत्व रह गये हैं। शेष तीन में से धम्मपद की प्राकृत और निय प्राकृत में अधिकांश और मूलभूत विशेषताएँ पश्चिमोत्तरी बोली की ही हैं, जिसका विवेचन अभिलेखीय प्राकृत के अन्तर्गत किया जा चुका है। अश्वघोष के नाटकों में तीन प्रकार की प्राकृतों का प्रयोग है, जिनमें से दो (१) विदूषक तथा गणिका द्वारा प्रयुक्त और (२) दुष्ट द्वारा प्रयुक्त बोली—अभिलेखीय प्राकृत की क्रमशः दक्षिण-पश्चिमी तथा पूर्वी बोली का ही विकसित रूप हैं। इन्हें क्रमशः प्राचीन शौरसेनी तथा प्राचीन मागधी कहा जा सकता है। तीसरी—गोभम् द्वारा प्रयुक्त बोली एक ओर उक्त प्राचीन शौरसेनी से भिन्न है तो दूसरी ओर उक्त प्राचीन मागधी से भी। उदाहरण के लिए उसमें—

(अ) र् > ल् : भर्तृदारिके > भट्टिदालके ।

(आ) –ओ > —ए : करोति > कलेति। ये लक्षण प्राचीन मागधी के हैं। लेकिन—

(अ) श् का प्रयोग नहीं है।

(आ) प्रथमा एकवचन –अः > –ओ। ये लक्षण प्राचीन शौरसेनी के हैं।

गोभम् की बोली अर्धमागधी का प्राचीन रूप है जिसके बीज अभिलेखीय प्राकृतों में भी कालसी शिलालेख को आधार मानते हुए मध्यपूर्वी प्राकृत की कल्पना करके ढूँढ़े जा सकते हैं। किन्तु वस्तुतः पूर्वी बोली से उसके अन्तरों के अभाव में वहाँ उसके बीजों को स्वीकार करना कठिन है। हमारा आशय यह नहीं है कि अश्वघोष (रचनाकाल १०० ईसवी) के नाटकों के पूर्व प्राचीन अर्धमागधी का अस्तित्व ही नहीं था। हम तो केवल यह कह रहे हैं कि उसे अशोक के अभिलेखों में ढूंढ़ना कठिन है।

उत्तरवर्ती वर्ग—इस वर्ग में वे भाषाएँ हैं जिनका उल्लेख या विवेचन प्राकृत वैयाकरणों ने किया है। प्राकृत भाषा की तुलना में प्राकृत-व्याकरणों का जन्म काफी परवर्ती है। इन व्याकरणों की रचना प्रायः तब हुई जब प्राकृत भाषाएँ बोलचाल से हट गयी थीं और उनके स्थान पर अपभ्रंश भाषाएँ प्रतिष्ठित होने लगी थीं। सम्भवतः कुछ व्यावहारिक आवश्यकताओं के कारण—जैसे प्राचीन प्राकृत को समझने

के लिए—उक्त व्याकरणों की रचना हुई। प्राकृत के प्रमुख वैयाकरण वररुचि और हेमचन्द्र का काल क्रमशः ६०० ईसवी और ११०० ईसवी है।

वररुचि के अनुसार प्राकृतों की संख्या चार है—महाराष्ट्री, शौरसेनी मागधी और पैशाची। उनके प्राकृतप्रकाश में इन्हीं चार पर विचार किया गया है। हेमचन्द्र ने इन चारों के अतिरिक्त आर्ष, चूलिका-पैशाची और अपभ्रंश को भी प्राकृत के अन्तर्गत मानकर कुल संख्या सात कर दी है। इनमें से आर्ष संज्ञा का प्रयोग हेमचन्द्र ने अर्धमागधी के लिए किया है। जैन ऋषियों ने इसमें शास्त्रों की रचना की है। इसलिए ऋषियों से सम्बन्धित होने के कारण ही उसे आर्ष भी कहा जाता है। चूलिका-पैशाची प्राकृत की ही एक उपबोली है। हेमचन्द्र के समय तक अपभ्रंश भाषा बोलचाल का माध्यम बन चुकी थी और जैसा कि हम इस अध्याय के आरम्भ में ही कह चुके हैं, प्राकृत संज्ञा का प्रयोग सामान्यतः म० भा० आ० काल की समस्त भाषाओं के लिए भी हुआ है। इसलिए हेमचन्द्र प्राकृत भाषाओं के अन्तर्गत अत्यन्त सहज भाव से अपभ्रंश को भी परिगणित कर बैठे। अपभ्रंश का विवेचन म० भा० आ० काल के अपभ्रंश उपकाल का विषय है। अब यदि चूलिका-पैशाची और अपभ्रंश को छोड़ दिया जाय तो प्राकृत उपकाल के उत्तरवर्ती वर्ग के अन्तर्गत वररुचि तथा हेमचन्द्र की सूची के अनुसार पाँच भाषाएँ हैं—पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री, अर्धमागधी और मागधी।

परवर्ती प्राकृत वैयाकरणों ने विभिन्न भौगोलिक या जातीय उपबोलियों को भी परिगणित करके प्राकृतों की संख्या १६ और ५२ तक सूचित की है। उदाहरण के लिए, वररुचि के अनुयायी प्राकृतसर्वस्व के लेखक मार्कण्डेय (१७वीं सदी) प्राकृत के चार प्रधान भेद करते हैं—भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाच। फिर भाषा के पाँच भेद--महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, आवन्ती और मागधी; विभाषा के पाँच भेद—शाकारी, चाण्डाली, शाबरी, आभीरिका और ढक्की; अपभ्रंश के तीन भेद—नागर, व्राचड और उपनागर; पैशाच के तीन भेद—कैकेय, शौरसेन और पाँचाल करते हुए प्राकृतों की कुल संख्या १६ तक पहुँचा देते हैं। एक ही प्राकृत भाषा के लिए एकाधिक नामों का प्रयोग भी हुआ है। उदाहरणार्थ दण्डी ने पैशाची को ही (जाति-विशेष के सूचक पिशाच शब्द का भ्रमवश भूत अर्थ ग्रहण करके) भूत भाषा की संज्ञा दी है। वस्तुतः गिनती गिनाना ही मौलिकता नहीं है। मार्कण्डेय द्वारा प्रस्तुत संख्या को सुविधापूर्वक कम किया जा सकता है। आवन्ती उज्जैन के आसपास बोला जाने वाला, शौरसेनी का ही कदाचित् महाराष्ट्री प्राकृत-प्रभावित रूप था। पूर्वी प्रदेशों में

बोली जाने वाली शौरसेनी को ही सम्भवतः प्राच्या कहा गया है। वास्तव में यह अर्धमागधी का क्षेत्र है। शाकारी, चाण्डाली, शाबरी और ढक्की मागधी के ही अन्तर्गत हैं। आभीरिका शौरसेनी की ही एक उपबोली थी जिसे आभीर जाति बोलती थी। अपभ्रंश और उसके भेद यहाँ विचारणीय नहीं हैं। कैकेय, शौरसेन और पांचाल ये तीनों पैशाच भाषा की ही बोलियाँ हैं, जिनमें एक-दूसरी से प्रदेशगत अनुल्लेखनीय अन्तर मात्र हो सकते हैं। ये तीनों केवल एक को ही—पैशाच भाषा को संकेतित करती हैं। इस प्रकार १६ में से १३ निकल जाने से केवल तीन बचती हैं—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी। इनमें अर्धमागधी और पैशाची को जोड़ देने से वही सूची निर्मित हो जाती है जो वररुचि और हेमचन्द्र के अनुसार निर्मित हुई है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि शूद्रक के मृच्छकटिक में प्रयुक्त जिन अनेक प्राकृतों की चर्चा की जाती है और जिन्हें मृच्छकटिक के टीकाकार लक्ष्मीधर के आधार पर प्रायः इस प्रकार समझाया जाता है—'सूत्रधार (जब वह संस्कृत से प्राकृत बोलने लगता है), नटी, वसन्तसेना, धूता, वसन्तसेना की माँ, कर्णपूरक, निर्णायक, शोधनक, मदनिका और रदनिका द्वारा शौरसेनी; वीरक और चन्दनक द्वारा अवन्तिका; विदूषक द्वारा प्राच्या; संवाहक, स्थावरक, कुंभीलक, वर्धमानक और रोहसेन द्वारा मागधी; शकार द्वारा शकारी; दोनों चण्डालों द्वारा चाण्डाली तथा जुआरियों द्वारा ढक्की प्राकृत बोली जाती है।'[1] —उन्हें कीथ केवल दो प्रमुख प्राकृतों में ही वर्गीकृत करते हैं।[2]

प्राकृत शब्द का प्रयोग कभी-कभी केवल इन्हीं उत्तरवर्ती वर्ग की प्राकृत भाषाओं के लिए और कभी-कभी इनमें से भी केवल महाराष्ट्री प्राकृत के लिए होता है। प्राकृत वैयाकरणों ने महाराष्ट्री को विशेष महत्व दिया है। वररुचि ने नौ अध्यायों में चार सौ चौबीस सूत्रों द्वारा महाराष्ट्री का विवेचन किया है। इसके विपरीत शौरसेनी, मागधी और पैशाची का विवेचन केवल एक-एक अध्याय में क्रमशः १४, १७ और ३२ सूत्रों द्वारा किया है। साहित्यकार और अलंकारशास्त्री दण्डी (६०० ई० के लगभग) ने भी महाराष्ट्री की प्रशंसा की है—'महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।'[3] (महाराष्ट्री भाषा श्रेष्ठ प्राकृत समझी जाती है)। हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत के व्याकरण में महाराष्ट्री के लिए प्राकृत शब्द का ही प्रयोग किया

१. मृच्छकटिक—एम० आर० काले, भूमिका, पृष्ठ ५७।
२. The Sanskrit Drama, Page —142.
३. काव्यादर्श १।३४।

है। अन्य प्राकृतों के लक्षण देते हुए वे कहते हैं—'शेषं प्राकृतवत्,'[1] शेष लक्षण प्राकृत (महाराष्ट्री प्राकृत) के सामान हैं। महाराष्ट्री की इसी महत्ता के कारण मनमोहन घोष का मत है कि यह भाषा केवल महाराष्ट्र (मराठा देश) की भाषा नहीं थी, बल्कि पूरे (महा) राष्ट्र की भाषा थी और इसका विकास शौरसेनी प्राकृत से हुआ था।[2]

सभी संस्कृत नाटकों में प्राकृत भाषाओं का प्रयोग मिलता है। भरत ने नाटकों में स्थानीय बोलियों तक के प्रयोग की आवश्यकता अनुभव की थी।[3] उन्होंने विदूषक के लिए प्राच्या; अन्तःपुर के रक्षकों के लिए मागधी; दासों, राजपुत्रों तथा श्रेष्ठियों के लिए अर्धमागधी; धूर्तों के लिए आवन्ती और नायिका तथा उसके परिकर के लिए शौरसेनी के प्रयोग का निर्देश किया है।[4] भाषा को इस प्रकार स्वाभाविक बनाने की भी एक सीमा है। परवर्ती कालों में एक प्रदेश का निवासी दूसरे प्रदेश की बोली को समझने में कठिनाई अनुभव करने लगा होगा। सम्भवतः इसी कारण संस्कृत नाटकों में मुख्यतः शौरसेनी तथा महाराष्ट्री (जो कदाचित् शौरसेनी का विकसित रूप है) प्राकृत का ही प्रयोग है और उन्हें क्रमशः प्राकृत गद्य तथा प्राकृत पद्य के लिए प्रयुक्त किया गया है। केवल एक ही नाट्यकृति—राजशेखर (दसवीं शताब्दी पूर्वार्ध) का कर्पूरमंजरी सट्टक—सम्पूर्णतः प्राकृत भाषा में है। कोनो का मत है कि इसका गद्यभाग शौरसेनी और पद्यभाग महाराष्ट्री प्राकृत में है। इसी रूप में वह उनके द्वारा सम्पादित है। इसके विपरीत डॉ० मनमोहन घोष का मत है कि वह एकमात्र शौरसेनी की रचना है। कर्पूरमंजरी का उनका सम्पादन भी उनकी इसी मान्यता के अनुसार है। कुछेक काव्यों, कथाओं और अनेक धार्मिक ग्रन्थों की रचना भी प्राकृत भाषाओं में हुई है।

प्राकृत उपकाल के उत्तरवर्ती वर्ग की भाषाएँ (पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री, अर्धमागधी और मागधी) प्रा० भा० आ० काल की भाषाओं से भाषावैज्ञानिक दृष्टि से अपेक्षाकृत बहुत भिन्न हो गयीं। पालि उपकाल की भाषाओं में जिन नवीनताओं या

१. हेम० ४।२८६।

२. कर्पूरमंजरी की भूमिका, १६३६ तथा महाराष्ट्री ए लेटर फेज आॅव शौरसेनी, जरनल आॅव डिपार्टमेंट आॅव लेटर्स, जिल्द २३, कलकत्ता, १६३३।

३. नाट्यशास्त्र १८।३५।

४. वही १८।३७, ३८, ३९।

भिन्नताओं का स्फुरण हुआ था वे अब अधिक विकसित हो गयीं। भाषा की दिशा तो वही रही जिसमें पालि ने चलना आरम्भ किया था, लेकिन उस दिशा में यात्रा दूर तक हो गयी। उदाहरणार्थ—

१. प्रा० भा० आ० काल की भाषाएँ संयोगात्मक हैं। पालि में भी यह विशेषता बनी हुई है। लेकिन प्राकृत भाषाओं में कारक चिह्नों या परसर्गों, कृदन्त रूपों और सहायक क्रियाओं का प्रयोग आरम्भ हो जाने के कारण वियोगात्मकता के तत्व आने लगे। उदिस (के लिए; < उद्दिश्य), किद (के लिए), होन्तउ (से), केलक (का), करको (का), मज्झे (में) आदि मुख्य प्राकृत परसर्ग हैं।

२. ध्वनिपरिवर्तन के फलस्वरूप व्यंजनान्त शब्द प्रायः स्वरान्त शब्दों में बदल गये हैं : चन्द्रमस् > चन्दमो, जन्मन् > जम्मो, भगवत् > भगवन्तो, विद्युत् > विज्जू, सरित् > सरिआ, वाक् > वाआ। स्पष्ट है कि इनके रूप व्यंजनान्त शब्दों की तरह नहीं स्वरान्त शब्दों की तरह चलेंगे। उदाहरण के लिए चन्दमो शब्द के एकवचन रूपों को देव शब्द के एकवचन रूपों के समानान्तर रखकर देखा जा सकता है—

संस्कृत चन्द्रमस्	**प्राकृत चन्दमो**	**प्राकृत अकारान्त देव**
चन्द्रमाः	चन्दमो	देवो
चन्द्रमसम्	चन्दमं	देवं
चन्द्रमसा	चन्दमेण	देवेण, देवेणं
चन्द्रमसे	चन्दमाय, चन्दमस्य	देवाय, देवस्स
चन्द्रमसः	चन्दमत्तो, चन्दमाओ	देवत्तो, देवाओ, देवाउ, देवाहि
चन्द्रमसः	चन्दमस्स	देवस्स
चन्द्रमसि	चन्दमे, चन्दम्मि	देवे, देवम्मि, देवंसि

अकारान्त शब्दों की प्रमुखता होने के कारण अन्य स्वरान्त शब्दों के रूपों में भी अकारान्त शब्दों के समान चलने की प्रवृत्ति है। संस्कृत के ऐकारान्त, औकारान्त शब्द प्राकृत में अकारान्त हो जाते हैं और उनके रूप भी अकारान्त शब्दों के समान चलते हैं।[1] इस सबसे शब्द-रूपों की विविधता में कमी हो गयी और रूप रचना को स्मरण रखना सरल हो गया।

३. प्रा० भा० आ० काल की भाषाओं में धातुओं के दस गण थे। ये पालि

१. प्राकृतप्रबोध—डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, पृष्ठ ३८।

में घटकर छह हो गये थे। अब केवल एक ही गण रह गया—भ्वादिगण। संस्कृत में भी इसी गण की धातुओं की प्रमुखता थी। प्राकृत की सभी धातुओं के रूप भ्वादिगण की धातुओं के समान चलने लगे।

४. अकारान्त धातुओं को छोड़कर शेष सभी धातुओं में आत्मनेपद और परस्मैपद का भेद समाप्त हो गया।

५. तीन पुरुष और तीन लिंग हैं। द्विवचन का लोप पालि में ही हो गया था। प्राकृत में भी वह लुप्त है। इस प्रकार प्राकृत में केवल दो वचन—एकवचन और बहुवचन हैं। प्राकृत उपकाल के पूर्ववर्ती वर्ग की भाषा निय प्राकृत में अवश्य द्विवचन के कुछ रूपों का प्रयोग है।

६. वाच्य दो हैं—कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य। लेकिन धातुओं के कर्मवाच्य रूप भी प्राकृत में प्रायः परस्मैपद में ही मिलते हैं: सं० दीयते > प्रा० दिज्जइ, दिज्जहि; सं० गम्यते > प्रा० गमीअदि, गच्छीअदि। इसलिए दोनों वाच्यों का अन्तर केवल मूल धातु तक ही सीमित रह गया।

७. लकारों की संख्या पालि में ही आठ रह गयी थी। प्राकृतकाल में आशीर्लिङ के रूप नहीं हैं। लङ (अनद्यतनभूत) और लुङ (सामान्यभूत) के रूप मिलकर एक हो गये हैं। फलस्वरूप लकारों की संख्या केवल छह रह गयी है जिन्हें अब लकारों के स्थान पर वर्तमान, भूत, भविष्य, विधि, आज्ञा और क्रियातिपत्ति ये नाम देना ही अधिक उचित है।

८. सुराघात समाप्त सा हो गया। बलाघात को अधिक स्थान प्राप्त होने लगा।

९. शब्दों के क्षेत्र में तद्भवीकरण का कार्य प्राकृतों की उल्लेखनीय विशेषता है। इसने न केवल प्राचीन भारतीय आर्य भाषा से आये शब्दों को प्रभावित किया बल्कि उन आस्ट्रिक तथा द्राविड़ शब्दों को भी प्रभावित किया जो प्रा० भा० आर्यभाषा के माध्यम से प्राकृतों तक पहुँचे थे।

प्राकृत उपकाल के उत्तरवर्ती वर्ग की इन भाषाओं (पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री, अर्धमागधी और मागधी) की विशेष रूप से ध्वनि के क्षेत्र में कुछ निजी विशेषताएँ भी हैं। उनका उल्लेख अलग-अलग किया जा रहा है—

पैशाची—पैशाची प्राकृत का क्षेत्र पश्चिमोत्तरी प्रदेश है । सम्भवतः पश्चिमोत्तरी अभिलेखीय प्राकृत से इसका सम्बन्ध रहा हो । ग्रियर्सन इसे दरद से प्रभावित भाषा मानते हैं ।

पैशाची प्राकृत में कदाचित् पर्याप्त साहित्य था । ईसा की पहली शताब्दी में गुणाढ्य ने शायद लोक-कथाओं का संग्रह करके इसी प्राकृत में बृहत्कथा (बड्ड कहा) की रचना की थी । कहा जाता है कि मूल कृति में एक लाख पद्य थे । यों इस विषय में भी विवाद है कि मूल कृति गद्य में थी या पद्य में । आज बृहत्कथा के तीन संक्षिप्त संस्कृत रूपान्तर मात्र उपलब्ध हैं—(१) नेपाल के बुद्धस्वामी कृत बृहत्कथाश्लोक-संग्रह (८वीं-९वीं शताब्दी), (२) क्षेमेन्द्र कृत बृहत्कथामंजरी (११वीं शताब्दी), (३) सोमदेव कृत कथासरित्सागर (११वीं शताब्दी) । बृहत्कथाश्लोकसंग्रह की भाषा में कहीं-कहीं प्राकृत प्रभाव भी हैं । सम्भव है वे मूल ग्रन्थ से आये हों । पैशाची प्राकृत के अन्य किसी ग्रन्थ का नाम तक सुरक्षित नहीं है । प्राकृत वैयाकरणों द्वारा उसकी विशेषताओं का कथन भी बहुत प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता ।

(१) सघोष स्पर्श व्यंजन > समान अघोष स्पर्श व्यंजन : मेघः > मेखो, राजा > राचा, दशवदनः > दसवत्तनो, माधवः > माथवो । अघोषीकरण की यह प्रवृत्ति पैशाची प्राकृत की सर्वथा निजी, अत्यन्त व्यापक और मुख्य विशेषता है।

(२) स्वरमध्यग स्पर्श व्यंजन सुरक्षित हैं । अन्य प्राकृतों की तरह उनका लोप नहीं हुआ है : गगनम् > गकनं, राजा > राचा।

(३) ऋ > इ : यादृशः > यातिसो, तादृशः > तातिसो, हृदयकम् > हितअकं ।

(४) ल् > ळ : सळिळं > सलिलं, कमलं > कमळं ।

(५) ञ् ध्वनि है : प्राज्ञा > पञ्ञा, सर्वज्ञः > सव्वञ्ञो, कन्यका > कञ्ञका, पुण्यकर्म > पुञ्ञकम्मो ।

शौरसेनी—मूलतः शूरसेन (मथुरा) प्रदेश की भाषा होने के कारण इसका नाम शौरसेनी पड़ा । शौरसेनी का क्षेत्र मध्यदेश है जो संस्कृत का केन्द्र रहा है । संस्कृत के केन्द्रीय स्थान की भाषा होने के कारण शौरसेनी को जहाँ लाभ हुआ वहाँ हानि भी हुई । उसे सम्मान तो मिला लेकिन प्राचीन तत्वों से वैसी मुक्ति नहीं मिल सकी

जैसी मागधी या महाराष्ट्री को प्राप्त हुई। संस्कृत के निरन्तर प्रभाव ने इसके सहज विकास की गति को तीव्र नहीं होने दिया ।

संस्कृत नाटकों का प्राकृत गद्य और डॉ० मनमोहन घोष के मतानुसार सम्पूर्ण कर्पूरमंजरी शौरसेनी की रचना है । अनेक दिगम्बर जैन ग्रन्थों की भाषा भी शौरसेनी प्राकृत ही है, जिसे जैन शौरसेनी या दिगम्बर शौरसेनी की संज्ञा दी गयी है। आवन्ती, आभीरी आदि शौरसेनी की अन्य उपबोलियाँ हैं ।

(१) असंयुक्त और स्वरमध्यगत् > द् : कौतूहलम् > कोदूहलं, मातरम् > मादरं, आगतः > आवदो।

संस्कृत तावत् > ताव, दाव । इन दो रूपों में दाव रूप प्रस्तुत नियम का अपवाद है जिसमें त् के स्वरमध्यग न होने पर भी विकल्प से द् में परिवर्तन हुआ है।

अज्जउत्त, सउन्तले आदि शब्दों में त् ध्वनि स्वरमध्यग भी नहीं है और असंयुक्त भी नहीं है । इसलिए उसका परिवर्तन द् में नहीं हुआ ।

(२) स्वरमध्यग थ् प्रायः ध् में बदल जाता है : नाथः > नाथो > णाधो; राजपथः > राजपथो > राजपधो । णाहो, राजपहो जैसे शौरसेनी रूप परवर्ती विकास हैं।

(३) स्वरमध्यग द्, ध् (विशेष रूप से त्, थ् के परिवर्तित रूप) सुरक्षित हैं : जानाति > जानादि, कीदृशं > कीदिसं, तथा > तधा, अथ > अध ।

मूल स्वरमध्यग ध् का ह् में परिवर्तन विशेष रूप से आरम्भ हो गया है : युधिष्ठिरः > जुहुट्ठिरो, असौ वधूः > अमु वहु, वध्वा > वहुए, मधूकः > महूको ।

(४) क्ष > क्ख, ख : वृक्षः > रुक्खो, इक्षु > इक्खु, क्षीरम् > खीरं, क्षणः > खणो।

(५) संयुक्त व्यंजन में से एक का तिरोभाव करके क्षतिपूरक दीर्घीकरण की प्रवृत्ति अर्धमागधी, महाराष्ट्री आदि की तुलना में कम है : कर्तुम् > कादुं, उत्सव > उस्सव > ऊसव । लेकिन उत्थितः > उत्थिदो, तुण्डम् > तुण्डं, पिण्डम् > पिण्डं, चिह्नम् > चिण्हं ।

(६) ञ् ध्वनि पैशाची की तुलना में कम है : सर्वज्ञः > सव्वण्णो; इंङ्गितज्ञः <

इङ्गिअज्जो, इङ्गिअञ्जो; कन्या > कञ्जा, कण्णा; अभिमन्युः > अहिमण्णू; अब्रह्मण्यम् > अव्वह्मण्णं, अव्वह्म जं, अव्वह्मञ्जं।

(७) विधि के रूप महाराष्ट्री या अर्धमागधी की तरह –एज्ज प्रत्यय लगकर नहीं बनते बल्कि संस्कृत के ही अनुसार बनते हैं : सं० वर्तेत् > शौ० वट्टे, महा० और अ० मा० वट्टेज्ज।

(८) कर्मवाच्य का –य प्रत्यय –ईअ में बदल जाता है : गम्यते > गमीअदि, मन्यते > मनीअदि।

महाराष्ट्री—महाराष्ट्री प्राकृत का क्षेत्र महाराष्ट्र माना गया है। जूल ब्लाक के अनुसार आ० भा० आ० काल की मराठी का विकास महाराष्ट्री प्राकृत के ही बोलचाल के रूप से हुआ। इस दृष्टि से शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत दो अलग-अलग भौगोलिक प्रदेशों की समकालीन भाषाएँ हैं। लेकिन डॉ० मनमोहन घोष के मत में शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतों में प्रदेशगत अन्तर न होकर कालगत अन्तर है। शौरसेनी का विकसित रूप ही महाराष्ट्री प्राकृत है और शौरसेनी की उत्तराधिकारिणी के रूप में वह भी मध्यदेश की ही भाषा थी। सम्भवतः उसका क्षेत्र कुछ अधिक विस्तृत हो गया था। अधिक विस्तृत क्षेत्र की भाषा होने के कारण ही उसे महाराष्ट्री कहा गया। इस मत के अनुसार शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत भाषाएँ समकालीन न होकर समस्थानीय हैं। यदि यह मत सही है तो महाराष्ट्री प्राकृत शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश के मध्य की कड़ी है।

संस्कृत नाटकों के प्राकृत पद्य, हाल कृत गाहासत्तसई (गाथासप्तशती, प्रथम शताब्दी), प्रवरसेन कृत रावणवहो (< रावणवधः, प्रचलित नाम सेतुबन्ध, पाँचवीं शताब्दी का पूर्वार्ध[१]), वाक्पतिराज (> बप्पइ राअ) कृत गउडवहो (< गौड़वधः, ७५० ई०) तथा श्वेताम्बर जैन साधु जयवल्लभ कृत वज्जालग्ग (< व्रज्यालग्न) की रचना महाराष्ट्री प्राकृत में ही हुई है। श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के कुछ धार्मिक ग्रन्थ भी इसी में रचे गये। लेकिन इनकी भाषा पर अर्धमागधी का प्रभाव है। याकोबी ने इनकी भाषा को जैन महाराष्ट्री कहा है।

यह कहा जा चुका है कि महाराष्ट्री को प्राकृतों में बहुत अधिक प्रमुखता

१. Sanskrit & Prakrit Mahakavyas — Ramji Upadhyaya, Page 31.

प्राप्त रही है। प्राकृत संज्ञा का व्यवहार कभी-कभी केवल महाराष्ट्री के लिए ही किया गया है।

(१) (अ) स्वरमध्यग अल्पप्राण स्पर्श व्यंजन प्रायः लुप्त हो गये :

मुकुलम्	>	मउलो ,	भागीरथी	>	भाइरही
शची	>	सई ,	प्रजापति	>	पआवई
जानाति	>	जानाइ ,	यदि	>	जइ
विपुलम्	>	विउलं ,	जीवतु	>	जिअउ

(आ) स्वरमध्यग महाप्राण स्पर्श व्यंजन के स्थान पर केवल प्राणध्वनि ह् शेष है :

कथ्यताम्	>	कहिज्जउ ,	अथ	>	अह
सुभगः	>	सुहवो ,	तथा	>	तहा
क्रोधः	>	कोहो ,	कथा	>	कहा

शौरसेनी में स्वरमध्यग अल्पप्राण स्पर्श व्यंजन और स्वरमध्यग महाप्राण स्पर्श व्यंजन प्रायः सुरक्षित हैं। उनके क्रमशः लोप और ह् में बदलने के उदाहरण अपवाद-स्वरूप हैं और सम्भवतः बहुत परवर्ती विकास से ग्रहण किये गये या प्रक्षिप्त हैं।

शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत में यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण अन्तर है—

संस्कृत		शौरसेनी		महाराष्ट्री
जानाति	>	जानादि	>	जानाइ
रत्न	>	रदन	>	रअण
तथा	>	तधा	>	तहा
अथ	>	अध	>	अह

(२) स्वरमध्यग ऊष्म ध्वनियाँ श्, ष्, स् प्रायः ह् में बदल गयी हैं : दश > दह , पाषाण > पाहाण, दिवस > दिअह ।

(३) क्ष् > च्छ् : इक्षु > उच्छु ।

(४) कर्मवाच्य का –य प्रत्यय –इज्ज में बदल गया है : गम्यते > गमिज्जइ, पृच्छ्यते > पुच्छिज्जइ ।

अर्धमागधी—शौरसेनी और मागधी भाषा-क्षेत्रों के मध्य प्राचीन काशी-कोशल प्रदेशों की भाषा अर्धमागधी थी । इसका भाषाक्षेत्र ही नहीं इसकी भाषिक विशेषताएँ भी उक्त दोनों प्राकृतों की मध्यवर्ती हैं । शौरसेनी और मागधी दोनों की ही प्रवृत्तियाँ इसमें विद्यमान हैं ।

जैन ग्रन्थों में इसे ही आर्ष, आर्षी या आदि भाषा कहा गया है। इसमें पर्याप्त मात्रा में श्वेताम्बर जैन साहित्य उपलब्ध है । इसी आधार पर हरमन जैकोबी ने इसे जैन प्राकृत कहा है । संस्कृत नाटक –साहित्य में इसका प्रयोग कम है । प्राचीनतम प्रयोग अश्वघोष के नाटकों में है। विशाखदत्त के मुद्राराक्षस (छठी शताब्दी उत्तरर्धा) तथा कृष्णमिश्र के प्रबोधचन्द्रोदय नाटक (११०० ई० के लगभग) में भी इसका कुछ प्रयोग है । जैन महाराष्ट्री पर अर्धमागधी का प्रभाव है ।

(१) श्, ष् के स्थान पर प्रायः स् : शकुन > सउण, श्रावक > सावग, प्रावृष > पाउस, भिषग > भिसअ ।

(२) स्वरमध्यग क् प्रायः ग् में परिवर्तित हुआ है : आकाश > आगास, लोक > लोग, प्राकार > पागार, आकर > आगर ।

(३) र् का परिवर्तन कहीं-कहीं ल् में हो गया है और कहीं-कहीं वह सुरक्षित भी है : चरण > चलण, सुकुमार > सुकुमाल, युधिष्ठिर > जुहिट्ठिल, आकर > आगर, दारक > दारग, वाराणसी > वाणारसी ।

(४) य– प्रायः ज– में बदल गया है : युगल > जुयल, याति > जाइ, युग्म > जुग्म ।

किसी उपसर्ग के उपरान्त आनेवाला य् भी आदि ज् ही है : अपयशस् > अवजस संयोग > संजोग ।

(५) मध्यवर्ती न् प्रायः ण् में परिवर्तित हो गया है : स्नान > सिणाण, प्रश्न > पसिण, मदन > मयण, मानयति > माणइ ।

आदिवर्ती न् के सम्बन्ध में विवाद है । जैन वैयाकरण, जैसे हेमचन्द्र उसका ण् में वैकल्पिक परिवर्तन स्वीकार करते हैं । लेकिन जैनेतर वैयाकरण उसका ण् में

अनिवार्य परिवर्तन मानते हैं।[1] नयन > नयण, नग्न > नगिण, नमो > णमो, ननु > णं।

(६) आदिवर्ती असंयुक्त व्यंजन क्, च्, ज्, त्, प्, ब्, ल् आदि साधारणतः सुरक्षित हैं। लेकिन इसके कुछ अपवाद भी हैं, जैसे—

कुब्जा	>	खुज्जा	,	कन्दुक	>	गेन्दुअ
चिकित्सा	>	तिगिच्छा	,	जुगुप्सा	>	दुगुञ्छा
तिष्ठति	>	चिट्ठइ	,	पाटयति	>	फालेइ
ब्राह्मण	>	माहण	,	लाङ्गूल	>	नंगूल

(७) अन्य प्राकृतों में स्वरमध्यग अल्पप्राण स्पर्श व्यंजन का लोप मिलता है। अर्धमागधी में लुप्त हुए व्यंजन के स्थान पर य श्रुति आ जाती है। लेकिन यह तभी होता है जब कि पूर्ववर्ती स्वर अ, इ या ई हो और व्यंजन-लोप के कारण बचा हुआ स्वर इ, ई, उ, ऊ न हो :

तीर्थंकर	>	तित्थयर	,	नगर	>	नयर
प्रजापति	>	पयावई	,	धरणीतल	>	धरणीयल

किन्तु लुप्त व्यंजन के स्थान पर क्रमशः ई, उ, ऊ बचने के कारण निम्नलिखित उदाहरणों में य श्रुति नहीं आ सकी है—

राजीव	>	राईव
प्रचुर	>	पउर
वायु	>	वाऊ

जैन महाराष्ट्री में भी यह प्रवृत्ति है[2] जो सम्भवतः अर्धमागधी का ही प्रभाव है।

(८) अनेक स्थलों पर दन्त्य ध्वनियों के मूर्धन्यीकरण की प्रवृत्ति अन्य प्राकृतों की तुलना में अर्धमागधी में अधिक है :

शिथिल	>	सिढिल, सढिल;	सूत्रकृत	>	सूयगड
पृथ्वी	>	पुढवी ;	दशति	>	डसइ
दम्भ	>	डम्भ ;	यथाप्रतिरूप	>	अहापडिरूव

१. अर्धमागधी ग्रामर, डॉ० पी० एल० वैद्य, १९५०, पृष्ठ १७।
२. अर्धमागधी ग्रामर, डॉ० पी० एल० वैद्य, पृष्ठ १५।

(९) अकारान्त शब्दों में प्रथमा एकवचन के दो रूप हैं—मागधी की तरह –ए जुड़कर और शौरसेनी की तरह –ओ जुड़कर : देवः > देवे, देवो ।

मागधी—मगध की भाषा मागधी प्राकृत थी । भरत का निर्देश है कि अन्तःपुर के रक्षक मागधी बोलें । स्वभावतः इस प्रकार के पात्र नाटकों में सदैव नहीं होते और होते भी हैं तो उनकी कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं होती । शौरसेनी और महाराष्ट्री अधिक महत्व अर्जित कर चुकी थीं । मध्यदेश से ही सम्बन्धित होने के कारण संस्कृत से उनकी भिन्नता भी अधिक नहीं थी । इसलिए संस्कृत नाटकों में उन्हें स्थान देना ही था । उनके अतिरिक्त मागधी को भी लेने से एक भाषा के नाटक का बहुभाषा का नाटक बन जाने की आशंका थी। परवर्ती कालों में प्रादेशिक दूरियों के कारण भाषाओं में भी दूरियाँ बढ़ी होंगी और परवर्ती संस्कृत नाटककार, जो प्रायः मध्यदेश के ही थे, ऐसी भाषा को अपने नाटकों में महत्वपूर्ण स्थान क्यों देते, जिसे उनके प्रदेश में सहजता से समझना कठिन हो चला था। मागधी का प्राचीनतम रूप अश्वघोष के नाटकों में मिलता है । पालि भाषा, जिसे लंका में मागधी ही कहा जाता है, किसी भी प्रकार से मागधी प्राकृत का पूर्ववर्ती रूप नहीं है ।

बाह्लीकी, ढक्की, शाबरी और चाण्डाली मागधी के अन्तर्गत ही जाति-विशेष के बोली-रूप हैं । शाकारी इसकी उपबोली है । मागधी को ही गौड़ी भी कहा जाता है ।

अन्य प्राकृतों की तुलना में मागधी में विकास की गति अत्यन्त तीव्र रही है ।

(१) असंयुक्त ष्, स् > श् : पुरुषः > पुलिशे, एषः > एशे, हंसः > हंशे, सारसः > शारशे ।

किसी अन्य व्यंजन के साथ संयुक्त ष् या स् का परिवर्तन स् में होता है : शुष्कदारु > शुस्कदालुं, कष्टम् > कस्टं, तिष्ठति > चिस्ठदि, बृहस्पतिः > बुहस्पदी, विस्मयः > विस्मये, सुष्ठु > शुस्टु ।

(२) र् > ल् : राजा > लाजा, नरः > नले, परिचयः > पलिचये, राक्षसः > लस्कशे ।

(३) स्थ और र्थ के स्थान पर स्त : उपस्थितः > उवस्तिदे, सुस्थितः > शुस्तिदे, अर्थवती > अस्तवदी, सार्थवाहः > शस्तवाहे ।

(४) ञ् और ण् ध्वनियाँ विद्यमान हैं :

अभिमन्युकुमारः > अहिमञ्ञुकुमाले, अब्रह्मण्यम् > अबम्हञ्ञं । सर्वज्ञः > शव्वञ्ञे, अञ्जलिः > अञ्ञली, निर्झरः > णिज्झिले, दुर्जनः > दुय्यणे । कन्यकावरणम् > कञ्ञकावलणं, धनञ्जयः < धणञ्ञए ।

उल्लेखनीय है कि अभिलेखीय प्राकृत की पूर्वी भाषा में उक्त ध्वनियाँ नहीं हैं। मागधी में इनका आगमन सम्भवतः पश्चिमी प्राकृतों के प्रभाव से हुआ है।

(५) अन्य प्राकृतों की सामान्य प्रवृत्ति आदि य् को ज् में परिवर्तित करने की है। इसके विपरीत मागधी में य् (आदि और अनादि) तो प्रायः सुरक्षित है ही, ज् को भी य् में परिवर्तित करने की प्रवृत्ति है :

याति > यादि, कार्यम् > कय्ये, परिचयः > पलिचये
मद्यं > मय्यं, अद्य > अय्य, विद्या > विय्या
जानाति > याणादि, जनपदः > यणवदे, जायते > यायदे
अर्जुनः > अय्युणे, दुर्जनः > दुय्यणे, गर्जति > गय्यदि, विजलः > वियले ।

(६) अनादिवर्ती छ् > श्च् :
गच्छ > गश्च, उच्छलति > उश्चलदि ।

(७) अकारान्त शब्दों के प्रथमा एकवचन में –ए का प्रयोग :
देवः > देवे, सः > शे
विलासः > विलाशे, शृगालः > शिआले ।

इ. अपभ्रंश उपकाल

प्राकृतों का जो रूप साहित्य में सुरक्षित हो गया था वह अपनी जगह पर रह गया। लेकिन उनका बोलचाल का रूप निरन्तर विकास करता गया। ५०० ई० तक आते-आते उनका बोलचाल का रूप साहित्य में सुरक्षित उनके रूप से बहुत भिन्न हो गया। इतना भिन्न कि प्राकृत वैयाकरणों ने ही उसे एक नयी भाषा की संज्ञा दी। उसके भेदों और विशेषताओं का उल्लेख किया। यह नयी भाषा अपभ्रंश है। स्थापित भाषा के स्थान पर नयी भाषा को ग्रहण करने में साहित्य सहसा साहसी नहीं होता। प्राकृतों का केंचुल छोड़कर, जनभाषा आगे बढ़ गयी। लेकिन साहित्य उसके केंचुल से ही उलझा रहा। ९०० ई० के लगभग राजशेखर ने प्राकृत की प्रशंसा करते हुए लिखा—

परुसा सक्क अबंधा, पाउअबंधो वि होई सुउमारो ।
पुरिसमहिलाणं जेत्तिअ, मिहंतरं तेत्तिअभिमाणं।[1]

और प्राकृत की तुलना में अपभ्रंश को द्वितीय स्थान दिया। साहित्य में मोहभंग होने में समय लगा। १४वीं शताब्दी में विद्यापति ने प्राकृत की जिस स्थिति का उल्लेख किया है—'सक्कइ बाणी बहु न भावइ, पाउअ रस को मम्म न जानइ'[2], वह वस्तुतः उस स्थिति में राजशेखर के पूर्व ही पहुँच चुकी थी।

अपभ्रंश शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग पतंजलि (दूसरी शताब्दी ईसापूर्व) के महाभाष्य में है—'भूयांसोऽपशब्दा अल्पीयांसः शब्दाः। एकस्यैव हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद् यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेत्यादयोऽपभ्रंशाः।' (अपशब्द अधिक और शब्द कम हैं। एक-एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश हैं। जैसे गौ इस शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि।) किन्तु यहाँ अपभ्रंश शब्द का प्रयोग भाषाविशेष के अर्थ में नहीं है। संस्कृतेतर लोकप्रचलित शब्दों को अपभ्रंश कहा गया है। सबसे पहले छठी शताब्दी ई० में भाषाविशेष के अर्थ में अपभ्रंश शब्द के कम से कम तीन प्रामाणिक उल्लेख मिलते हैं—

न लोपोऽपभ्रंशेऽधोरेफस्य।

—चण्ड, प्राकृतलक्षण, ३-३७॥

संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा।

—भामह, काव्यालंकार, १–१६॥

संस्कृतप्राकृतापभ्रंश-भाषात्रयप्रतिबद्धप्रबन्धरचनानिपुणान्तःकरणः।

—वलभी के राजा धरसेन द्वितीय का ताम्रलेख॥

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि इस शताब्दी तक भाषाविशेष के अर्थ में अपभ्रंश शब्द का पर्याप्त प्रचलन हो गया था। इतना ही नहीं; अन्तिम दो उल्लेखों से यह भी स्पष्ट है कि अपभ्रंश भाषा में रचे गये साहित्य को पर्याप्त महत्व भी प्राप्त हो चला था। भामह ने उक्त पंक्ति में भाषा के आधार पर काव्य के तीन प्रकार—संस्कृत,

१. संस्कृत कविता कठोर और प्राकृत कविता कोमल होती है। दोनों में उतना ही अन्तर है जितना पुरुष तथा महिलाओं में।—कर्पूरमंजरी १।८।

२. संस्कृत बहुतों को अच्छी नहीं लगती और प्राकृत रस के मर्म को नहीं जानती।

प्राकृत, अपभ्रंश कहे हैं। धरसेन द्वितीय उपर्युक्त पंक्ति में अपने पिता गुहसेन को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं की प्रबन्धरचना में निपुण घोषित करते हैं। घोषणा में उनका गर्व ध्वनित होता है। उक्त पंक्तियों में प्राकृत का अर्थ महाराष्ट्री प्राकृत है--इसी अर्थ में उसका अन्यत्र भी प्रयोग हुआ है। इस सबका अभिप्राय यह है कि अपभ्रंश का स्थान संस्कृत, प्राकृत (महाराष्ट्री) के साथ है। पालि, पैशाची, शौरसेनी, मागधी आदि इस सम्मानित पंक्ति से बाहर हैं। ९वीं शताब्दी में राजशेखर ने इस पंक्ति में पैशाची को और बैठा दिया है। लेकिन अपभ्रंश का स्थान जहाँ का तहाँ है। उन्होंने राजाओं के कवि-दरबार का चित्रण करते हुए राजसिंहासन के चारों ओर चार भाषाओं के कवियों के बैठने की व्यवस्था दी और संकेत किया है—'उत्तर की ओर संस्कृत, पूर्व की ओर प्राकृत, पश्चिम की ओर अपभ्रंश और दक्षिण की ओर पैशाची भाषा के कवियों का स्थान निर्धारित है।'[१] यहाँ भी प्राकृत और पैशाची शब्दों का एक साथ प्रयोग इसी बात का समर्थन करता है कि प्राकृत का अर्थ महाराष्ट्री प्राकृत ही है।

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में किसी भाषा को आभीरोक्ति कहा है।[२] आगे चलकर दण्डी के कथन 'आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः'[३] (काव्यों में आभीर आदि की भाषा को अपभ्रंश नाम से स्मरण किया जाता है) से सिद्ध होता है कि अपभ्रंश ही आभीर आदि जातियों की भाषा या आभीरोक्ति थी। आभीरों के अतिरिक्त गुर्जर, जिनके कारण गुजरात नाम पड़ा तथा ऐसी ही अन्य गोपालक जातियाँ अपभ्रंश भाषाभाषी थीं। गाय के पालन से सम्बन्धित इन जातियों में ही गौ शब्द के वे विभिन्न रूप प्रचलित हुए होंगे जिनका उल्लेख पंतजलि ने किया है। ये जातियाँ पश्चिमोत्तर भारत की थीं और धीरे-धीरे दक्षिण-पश्चिम भारत में फैल रही थीं। इनके राज्य भी स्थापित हो गये थे।[४] इन जातियों के प्रसार और अन्य जातियों में इनके मिश्रण के कारण अपभ्रंश भाषा की आरम्भिक विशेषताएँ सबसे पहले भारत के पश्चिमी प्रदेश में ही प्रकट हुईं। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में जिस उकार-

१. काव्यमीमांसा, दशम अध्याय।

२. आभीरोक्तिः शाबरी स्याद् द्राविड़ी द्रविड़ादिषु।—नाट्यशास्त्र १७, ५५।

३. काव्यादर्श १, ३६।

४. राज्यों की स्थापना के लिए देखें—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—नामवर सिंह, पृष्ठ २७–२६।

बहुला भाषा का उल्लेख किया है, उसका सम्बन्ध उन्होंने पश्चिमोत्तरी भारत से ही जोड़ा है।[1] धीरे-धीरे शेष भाषाभाषी भारत में भी अपभ्रंश भाषाएँ कुछ अपनी पूर्ववर्ती प्रादेशिक प्राकृतों की विकसित विशेषताओं के साथ और कुछ अपनी निज की अर्जित प्रादेशिक विशेषताओं के साथ बोलचाल में आ गयीं। फिर भी पश्चिमी अपभ्रंश का विशेष महत्व बना रहा। अन्य अपभ्रंशों के प्रदेशों में, जहाँ अब भी संस्कृत और प्राकृत को ही राजाश्रय मिला हुआ था, वहाँ मान्यखेट के जैन राष्ट्रकूट राजाओं ने, जो लाट, सौराष्ट्र और कान्यकुब्ज तक धावा बोलते थे, जिनकी एक शाखा गुजरात में राज्य करती थी[2] और जो राहुलजी के मतानुसार दिल्ली के पास से पुष्पदन्त को तथा कोसल से स्वयंभू को अपने यहाँ ले आये थे[3], पश्चिमी प्रदेश की अपभ्रंश बोली को प्रश्रय और प्रोत्साहन दिया। मान्यखेट के राष्ट्रकूटों के पतन के बाद गुजरात के चालुक्यवंशी राजाओं, जयसिंह सिन्धुराज (१०९३–११४३ ई०) और कुमारपाल (११४४– ११७१) ने इसे प्रोत्साहित किया। प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द्र सूरि इन्हीं राजाओं के यहाँ थे। आभीर और गुर्जर जातियाँ तो आरम्भ से ही अपनी भाषा का प्रसार कर रही थीं। फलस्वरूप यही अपने परिनिष्ठित रूप में सम्पूर्ण आर्य भाषाभाषी भारत में गृहीत हुई और इसी के परिनिष्ठित रूप में सभी प्रदेशों में अधिकांश अपभ्रंश-साहित्य रचा गया। लेकिन इसके बावजूद साहित्यशास्त्रियों और वैयाकरणों को इसके मूल प्रदेश का ध्यान निरन्तर बना रहा। सम्भवतः इसी कारण राजशेखर इसे टक्क, भादानक, मरुभूमि अर्थात् पंजाब, राजस्थान आदि की भाषा कहते हैं।[4] मध्ययुगीन कवि-दरबारों में अपभ्रंश कवियों के राजसिंहासन के पश्चिम की ओर बैठने की व्यवस्था भी शायद सर्वथा संयोग मात्र नहीं है। १७वीं शताब्दी के प्राकृत वैयाकरण मार्कण्डेय भी इन संस्कारों से मुक्त नहीं हैं और यह सूचना देते हुए भी कि कुछ लोग अपभ्रंश के

१. हिमवत्सिन्धुसौवीरान् येऽन्यदेशान् समाश्रिताः ।
उकारबहुलां तेषु नित्यं भाषां प्रयोजयेत् ॥

—नाट्यशास्त्र १८, ४६ ।

२. उसके समय में गुजरात शाखा के राष्ट्रकूटों ने सम्भवतः विद्रोह किया जिसको कृष्ण ने दबा दिया ।

—प्राचीन भारत, राजबली पाण्डेय, पृष्ठ ३६१ ।

३. हिन्दी काव्यधारा : अवतरणिका, पृष्ठ २५–२७ ।

४. काव्यमीमांसा ।

२७ भेद मानते हैं, स्वयं केवल तीन ही भेद गिनाते हैं—नागर, उपनागर और ब्राचड जो तीनों पश्चिम की ही अपभ्रंश बोलियाँ हैं ।

पश्चिमी प्रदेश की अपभ्रंश में ही अधिकांश साहित्य सुलभ होने का अर्थ यह नहीं है कि अन्य अपभ्रंशों का अस्तित्व ही नहीं था । वस्तुतः पाँच मुख्य प्राकृतों पैशाची, शौरसेनी , महाराष्ट्री, अर्धमागधी और मागधी से कम से कम पाँच अपभ्रंश भाषाओं का विकास सहज सम्भव माना जाना चाहिए । इस संख्या के अधिक होने की ही सम्भावना अधिक है । बढ़ती हुई जनसंख्या और ऐतिहासिक विकास से भाषागत क्षेत्रीय अन्तरों को पनपने का सुअवसर ही मिला होगा । इस प्रकार साधारणतः पैशाची या ब्राचड, शौरसेनी या पश्चिमी अपभ्रंश, महाराष्ट्री, अर्धमागधी, मागधी और केकय इन छह अपभ्रंशों के होने की सम्भावना है । इन्हीं से आ० भा० आ० काल की भाषाओं का जन्म हुआ ।

अपभ्रंश भाषा का सबसे अधिक प्रचलित नाम अपभ्रंश ही है । लेकिन साहित्य में अन्य अनेक नामों का भी प्रयोग हुआ है, जिनकी मुख्य दो श्रेणियाँ हैं--(१) अपभ्रंश और इस शब्द से ही विकसित नाम : अवब्भंस, अवहंस। (२) अपभ्रष्ट और इस शब्द से ही विकसित नाम : अवहत्थ, अवहट्ट, अवठहट्ठ, अवहठ, अव्हट तथा औहट । डॉ० चटर्जी, डॉ० सेन आदि विद्वानों ने अपभ्रंश भाषा के ऐतिहासिक भेद करते हुए काल-क्रम की दृष्टि से पूर्ववर्ती भाषा को अपभ्रंश और परवर्ती भाषा को अवहट्ठ कहा है । इसमें सन्देह नहीं कि अपभ्रंश भाषा क्रमशः विकसित होती गयी । ठीक वैसे ही जैसे सभी भाषाएँ विकसित होती हैं । और यदि हम ६०० ई० की अपभ्रंश के किसी उपलब्ध रूप से १००० ई० की अपभ्रंश की तुलना करें तो दोनों में बहुत अन्तर दिखाई देगा । ठीक वैसे ही जैसे द्विवेदी या प्रसाद युगीन हिन्दी कविता और आज की हिन्दी कविता की भाषा में अन्तर है । लेकिन क्या ये अन्तर इतने भेदक हैं कि हम इन दो युगों की भाषा को एक नाम हिन्दी न देकर दो अलग-अलग नाम दें ? डॉ० भोलानाथ तिवारी ने इस प्रश्न पर विस्तार से विचार करके निष्कर्ष निकाला है कि प्राचीन अपभ्रंश साहित्यकारों तथा वैयाकरणों ने अपभ्रंश, अवहट्ठ तथा ऐसे ही अन्य अनेक शब्दों को पर्यायवाची के रूप में ही प्रयुक्त किया है, दो भिन्नकालीन भाषाओं के अर्थ में नहीं।[1] इस प्रकार ५०० ई० से १००० ई० तक प्रदेशभिन्नता और कालभिन्नता के कारण आये हुए सामान्य भाषावैज्ञानिक अन्तरों के बावजूद अपभ्रंश भाषा ही सम्पूर्ण आर्य-

१. हिन्दी भाषा, पृष्ठ ६३ ।

भाषाभाषी भारत में व्याप्त रही। संस्कृत के परवर्ती नाटककारों और नाट्यशास्त्रियों ने भरत मुनि के नाटकों में प्राकृत भाषा के प्रयोग सम्बन्धी निर्देश का शब्दश: पालन किया। उन्होंने उनकी लोकवादी अन्तरंग दृष्टि को नहीं समझा। भरत नाटक में लोक-भाषाओं का प्रयोग भी चाहते थे। उनके समय में प्राकृत भाषाएँ लोकभाषाएँ थीं। इसलिए उन्होंने प्राकृत के प्रयोग का निर्देश किया। जब प्राकृतें लोकभाषा नहीं रह गयी थीं तो नाटककारों और नाट्यशास्त्रियों का आग्रह अपभ्रंश के प्रति होना चाहिए था। लेकिन वैसा नहीं हुआ और नाटकों में संस्कृत के साथ प्राकृतें ही प्रयुक्त होती रहीं। फलस्वरूप प्राकृत के प्रादेशिक भेदों की जानकारी के लिए तो हमारे पास सामग्री है, लेकिन अपभ्रंश के प्रादेशिक भेदों की जानकारी के लिए नहीं। अपभ्रंश में मुख्यत: धार्मिक साहित्य, काव्य और कथाएँ ही लिखी गयीं और इनमें प्राय: अपभ्रंश का परिनिष्ठित रूप ही प्रयुक्त हुआ। कहीं-कहीं प्रादेशिक भिन्नताओं की जो झलक है उसके आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाल लिये गये हैं। स्वभावत: इन निष्कर्षों के सम्बन्ध में मतभेद भी कम नहीं हैं। अपभ्रंश की पूर्ववर्ती प्राकृत भाषा और परवर्ती आ० भा० आ० काल की भाषा के प्रादेशिक रूपों की पर्याप्त सामग्री सुलभ है। इसके आधार पर अपभ्रंश के प्रादेशिक रूपों का पुनर्निर्माण किया जा सकता है।

अपभ्रंश भाषा में प्रचुर साहित्य है। लेकिन उसकी खोज, सम्पादन और प्रकाशन की कथा इसी शताब्दी के प्रथम दशक से आरम्भ होती है। सबसे पहले १९०२ ईसवी में जर्मन विद्वान् पिशल ने अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'ग्रामेटिक डेर प्राकृत श्प्राखेन' के परिशिष्ट रूप में 'माटेरियालिएन त्सुर केंट निस डेस अपभ्रंश' के नाम से अपभ्रंश-साहित्य का छोटा सा संकलन प्रकाशित किया, जिसमें हेमचन्द्र के प्राकृत व्या-करण के सभी अपभ्रंश छन्द, विक्रमोर्वशीय के पन्द्रह छन्द तथा कुछ अन्य सामग्री है। फिर १९१८ ई० में जर्मन विद्वान् याकोबी ने धनपाल की 'भविस्सयत्त कहा' को सम्पादित कर प्रकाशित किया। इसके उपरान्त अपभ्रंश साहित्य की खोज और उसके सम्पादन-प्रकाशन का कार्य भारतीय विद्वानों—चमनलाल डाह्याभाई दलाल, मुनि जिन-विजय, हीरालाल जैन, पी० एल० वैद्य, ए० एन० उपाध्ये आदि का कार्य है। इन सबके प्रयत्न से देश के पश्चिमी प्रदेशों का अपभ्रंश-साहित्य प्रकाश में आया। पूर्वी प्रदेश के अपभ्रंश-साहित्य को, जिसमें बौद्ध सिद्धों की रचनाएँ हैं, प्रकाश में लाने का श्रेय म० म० हरप्रसाद शास्त्री, राहुल सांकृत्यायन, शहीदुल्ला और प्रबोधचन्द्र बागची को है।

आज अपभ्रंश के प्रकाशित-अप्रकाशित लगभग दो सौ ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

ध्वनि—(१) अपभ्रंश में प्राकृत की सभी ध्वनियाँ विद्यमान हैं—

स्वर :

ह्रस्व—अ, इ, उ, एँ, ओँ

दीर्घ—आ, ई, ऊ, ए, ओ

व्यंजन :

कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग

य्, र्, ल्, व्

स्, ह्

ड़्, ढ़्

'अ' ध्वनि पूर्वी अपभ्रंश में संवृत और पश्चिमी अपभ्रंश में विवृत उच्चरित होती थी। लेकिन लेखन-पद्धति में इन्हें अलग-अलग अंकित करने की कोई व्यवस्था न होने के कारण ये एक ही तरह से अंकित हैं। ऋ ध्वनि लिखी तो जाती थी, लेकिन वस्तुतः वह उच्चारण में नहीं थी। उसका असंयुक्त उच्चारण रि हो गया था : ऋषभ > रिसह, ऋद्धि > रिद्धि। और संयुक्त रूप में वह प्रायः इ में बदल गयी थी : तृण > तिणु, श्रृंगार > सिंगार, समृद्धि > समिद्धि। पूर्वी अपभ्रंश में केवल श् ध्वनि है। ळ् ध्वनि महाराष्ट्री अपभ्रंश में है। कुछ अन्य प्रदेशों में भी सम्भवतः यह विद्यमान थी।

(२) अन्त्य स्वर का ह्रस्वीकरण अपभ्रंश की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता है। यह प्रवृत्ति थोड़ी बहुत संस्कृत, पालि और प्राकृत में भी थी, पर अपभ्रंश में अत्यन्त प्रबल हो गयी : आज्ञा > आण, उपशोभा > उवसोह, रजनी > रयणि, पीयते > पिज्जइ, प्रसुप्यते > पसुप्पइ।

(३) अपभ्रंश में उकार की बहुलता है : उद्वेग > उवेउ; एषः > एहु, इहु; पुरतः > पुरउ; समम् > सउ; वचनम् > वयणु; कस्य > कासु। यहीं से यह प्रवृत्ति व्रज, अवधी आदि आ० भा० आ० काल की कुछ भाषाओं में पहुँची।

(४) आद्यक्षर तथा उसका स्वर प्रायः सुरक्षित है। लेकिन ऐसा उन्हीं शब्दों में है जिनमें आद्यक्षर पर सुराघात था : खादित > खात, ध्यान > झाण, कीटक > कीड। जिन शब्दों में आद्यक्षर पर सुराघात नहीं था उनमें आदि स्वर या तो परिवर्तित हुआ है : आत्मन् > अप्पाण, त्रीणि > तिण्ण; या लुप्त हो गया है : अरण्य > रण्य, आभ्यंतर > भीतर।

व्यंजन ध्वनियों के परिवर्तन में भी अपभ्रंश में प्रायः उन्हीं प्रवृत्तियों का अनुसरण है जो प्राकृत में विद्यमान हैं।

(५) प्रा० भा० आ० काल के शब्दों की स्वरमध्यग म् ध्वनि कहीं-कहीं सुरक्षित है : व्यामोह > वामोह, समय > समइ, समृद्धि > समिद्धि। लेकिन अधिकांशतः वँ में बदल गयी हैं : कमल > कवँल, आमलक > आवँलक, श्रमण > सवँण, पञ्चमम् > पंचवुँ।

(६) आदि य् प्रायः ज् में परिवर्तित हुआ है : युगल > जुगल, यदि > जइ, यद्यपि > जइवि, यामिनी > जामिणि, यमुना > जउण, यौवन > जोव्वण।

(७) प्राकृत वैयाकरणों ने अपभ्रंश में मध्यग अघोष अल्पप्राण स्पर्श व्यंजनों के सघोष होने की व्यवस्था दी है। कहीं-कहीं ऐसा हुआ भी है : अनेक > अणेग, विचिकित्सा > विजिगिच्छा, आगतः > आगदो, दीप > दीव। लेकिन अधिकांशतः महाराष्ट्री प्राकृत की तरह ये व्यंजन लुप्त ही हो गये हैं : चातकी > चावइ, योगिन > जोई, केतकी > केवइ, गोरोचन > गोरोअण, पाद > पाअ। कहीं-कहीं लुप्त मध्यग व्यंजन के स्थान पर य्, व् श्रुति भी आ गयी है : नरक > नरय, वियोग > वियोय, स्थापित > ठविय, स्तोक > थोवा।

मध्यग महाप्राण व्यंजन के स्थान पर केवल प्राणध्वनि (ह्) शेष रह गयी है : सुखाप्यते > सुहाइयइ, कथा > कहा, मन्मथ > वम्मह, चतुर्विध > चउविह, मुक्ताफल > मुक्ताहल।

स् > ह् : संदेश > संदेस > संनेह, दशन् > दस > दह, > वर्षण > वरिसण > वरिहण।

इस प्रकार ध्वनिपरिवर्तन की जो प्रवृत्तियाँ प्राकृत में विद्यमान हैं, अपभ्रंश में प्रायः उन्हीं का विकास मिलता है। परवर्ती अपभ्रंश में अवश्य प्राकृत शब्दों में समीकरण के कारण उत्पन्न व्यंजन-द्वित्व का एक ही व्यंजन रह गया और पूर्ववर्ती स्वर क्षतिपूरक दीर्घीकरण के कारण दीर्घ हो गया : सं० तस्य > प्रा० तस्स > अप० तासु, सं० कर्म > प्रा० कम्म > अप० कामु।

(८) सुराघात समाप्त हो गया। उसके स्थान पर बलाघात अपनी विकसित अवस्था में विद्यमान है।

(९) सानुनासिकता की प्रवृत्ति : कहीं स्वतः और कहीं क्षतिपूर्ति के रूप में : वक्र > बंक, पक्षिन् > पंखि, अहकम् > हउँ, स्वयम् > सइँ।

रूप——प्राकृत और अपभ्रंश का मौलिक अन्तर जितना रूपरचना के क्षेत्र में स्पष्ट है उतना ध्वनि के क्षेत्र में नहीं। रूपरचना के क्षेत्र में वह सरलीकरण, एकरूपीकरण आदि के द्वारा केवल प्राकृत की परम्पराओं का ही विकास नहीं करती बल्कि अपनी निजी विशेषताओं को भी प्रकट करती है।

(१) प्रा० भा० आ० काल की भाषाएँ और म० भा० आ० काल की पालि भाषा संयोगात्मक भाषाएँ हैं। प्राकृत में वियोगात्मकता के लक्षण हैं। लेकिन अपभ्रंश में ये लक्षण प्रमुख और महत्वपूर्ण हैं। शब्द और धातु इन दोनों ही क्षेत्रों में इन्हें आसानी से देखा जा सकता है। अनेक कारकों के लिए स्पष्ट विकसित परसर्गों का विकास वियोगात्मकता की दिशा में अपभ्रंश की उल्लेखनीय उपलब्धि है। जैसे—करण के लिए सहुँ, तण; सम्प्रदान के लिए केहि, रेसि; अपादान के लिए होन्तउ, हुन्तउ, होन्त, थिउ, ट्ठिउ; सम्बन्ध के लिए केरअ, केर, कर और अधिकरण के लिए मज्झ, महँ, महि परसर्गों का प्रयोग मिलता है: तिह हुंतउ (वहाँ से, तिह हुंतउ हउं इक्किण लेहउ पेसियउ, सन्देशरासक २–६५), मणमहि (मन में), हिअअट्ठिउ (हृदय से)।

संयोगात्मक भाषाओं में काल और क्रियार्थ की सूचना धातु के साथ संयुक्त होती है। गत्वा (जाकर) में गम्√के साथ संयुक्त पूर्वकालिकत्व की सूचना से सम्बन्धित अंश को अलगाया नहीं जा सकता। इसी प्रकार क्रियार्थक क्रिया लब्धुम् में√लभ् और क्रियार्थकत्व की सूचना सयुक्त है। अपभ्रंश में ऐसी सूचनाओं के लिए स्वतंत्र शब्द विकसित हैं। पूर्वकालिक क्रिया के लिए –इवि, अवि, एवि, इ आदि का प्रयोग होता है : कर + इवि, अवि, एवि, इ = करिवि, करवि, करेवि, करि (करके)। क्रियार्थक क्रिया के लिए –एवं, अण, अणहं, एप्पि, एप्पिणु, एविणु आदि अनेक स्वतंत्र शब्दों की व्यवस्था है : करेवं, करण, करणहं, करेप्पि, करेप्पिणु, करेविणु (करना)।

लकारों की संख्या केवल चार रह गयी—लट्, लोट्, लिङ् और लृट्। अर्थात् कालरचना के क्षेत्र में केवल इन्हीं चार में संयोगात्मकता की स्थिति शेष रह गयी। अन्य सभी लकारों के रूप कृदन्तज होने लगे और स्वभावतः उनमें वियोगात्मकता आ गयी। संयुक्त क्रियाओं के प्रयोग की प्रवृत्ति जो प्राकृत में नहीं के बराबर थी अब पर्याप्त प्रबल हो गयी: भग्गा एन्तु, भज्जिउ जंति।

प्राकृत की तरह ही केवल भ्वादिगण और परस्मैपद शेष है।

(२) कारकों के रूप और कम हो गये। संस्कृत के २४ रूपों और प्राकृत के १२ रूपों की तुलना में अपभ्रंश में शब्द के केवल ६ रूप रह गये। ऐसा द्विवचन के लोप (जो प्राकृत काल में ही हो चुका था) और कुछ कारकों के रूप एक से हो जाने के कारण हुआ। अपभ्रंश में (अ) कर्ता, कर्म, सम्बोधन; (आ) करण, अधिकरण; (इ) सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध ये तीन ही कारकरूप रह गये। इन तीन कारकों के एकवचन और बहुवचन में कुल ६ रूप हैं। इन रूपों के साथ परसर्ग जोड़कर अलग-अलग कारक का अर्थ सूचित किया जाता है।

शब्दों के रूपों की संख्या ही कम नहीं हुई; उनकी विविधता भी समाप्त सी हो गयी। प्रा० भा० आ० काल की भाषाओं के व्यंजनान्त शब्द या प्रातिपदिक पालि के समय से ही लुप्त होने लगे थे और धीरे-धीरे स्वरान्त प्रातिपदिकों की संख्या बढ़ रही थी। स्वरान्त प्रातिपदिकों में भी अकारान्त प्रातिपदिकों की प्रमुखता हो चली थी। अपभ्रंश की अन्त्य स्वर के ह्रस्वीकरण की प्रवृत्ति के कारण उसमें दीर्घ स्वर से अन्त होने वाले प्रातिपदिकों का अभाव हो गया। अपभ्रंश के अधिकांश प्रातिपदिक अ—इ—उ—कारान्त ही हैं।

नपुंसकलिंग समाप्त हो गया। स्त्रीलिंग प्रातिपदिक बहुत कम रह गये। इस प्रकार पुंल्लिग प्रातिपदिकों की बहुलता हो गयी। पुंल्लिग प्रातिपदिकों में भी अकारान्त प्रातिपदिक ही बहुसंख्या में हैं। इसलिए अन्य ध्वनियों से अन्त होने वाले प्रातिपदिकों के रूपों में भी उन्हीं के सादृश्य पर चलने की प्रवृत्ति पनप गयी। इस प्रकार रूपों की विविधता का बोझ समाप्त-सा हो गया।

(३) स्वार्थिक प्रत्यय—ड का अधिक प्रयोग अपभ्रंश की सर्वथा निजी विशेषता है। राजस्थानी में –ड़, –ड़ी, –ड़िया अपभ्रंश के –ड का ही विकास है।

(४) वियोगात्मकता बढ़ने के कारण वाक्य में शब्दों के स्थान प्रायः निश्चित हो गये।

शब्द—अपभ्रंश में स्वभावतः तद्भव शब्दों की बहुलता है। लेकिन अपभ्रंश-काल के उत्तरार्ध में सम्भवतः पुनर्जागरण की भावना के कारण तत्सम शब्दों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में दिखाई देता है। अपभ्रंश-शब्दकोश की एक अन्य विशेषता उसमें अनेक देशज शब्दों का होना है : द्रवक्क (भय), घंघल (झगड़ा), नालिअ (मूर्ख), नवख (नया, विचित्र), दड़बड़ (शीघ्र; दड़बड़ होइ विहाणु=शीघ्र सुबह हो जायेगा), छुड्डु (यदि; छुड्डु अग्घइ ववसाउ=यदि काम मिल जाय), निच्चट्टु

(नीचट, प्रगाढ़; लग्गइ निच्चटु=खूब नीचट लगता है)।[1] अनेक देशज क्रियाओं का प्रयोग भी अपभ्रंश में है : छोल्लइ (छीलता है), खुडुक्कइ (खुड़कता है), घुडुक्कइ (घुड़कता है), घुट्ठुअइ (व्यर्थ शब्द करता है)।[2] ध्वनि और दृश्य के अनुकरण पर बने शब्द भी विद्यमान हैं : हुहुरुत्ति (हहरकर; हउं प्रेम्मद्रहि हुहुरुत्ति वुड्डीसु = मैं प्रेम-समुद्र में हहरकर डूबूँगी), उट्ठबईस (उठा – बैठक; मुद्धए उट्ठबईस कराविआ= मुग्धा के द्वारा उठा-बैठक करवायी जाती है)।[3]

जैसे-जैसे समय बीतता गया अपभ्रंश भाषा में उक्त विशेषताएँ और विकसित होती गयीं। नितान्त पूर्ववर्ती अपभ्रंश की तुलना में नितान्त परवर्ती अपभ्रंश का कुछ भिन्न होना स्वाभाविक ही है। परवर्ती अपभ्रंश का रूप संनेहयरासय, उक्ति-व्यक्तिप्रकरण, वर्णरत्नाकर, कीर्तिलता, चर्यापद, ज्ञानेश्वरी आदि ग्रन्थों में सामान्य प्रादेशिक विभिन्नताओं के साथ सुरक्षित है। आ० भा० आ० भाषा-काल की विशेषताओं के निर्मित होने की प्रक्रिया की दृष्टि से परवर्ती अपभ्रंश का विशेष महत्व है। सन्देशरासक की भाषा से कुछ उदाहरण लेकर इसे समझा जा सकता है—

(१) पदान्त अनुनासिक के लोप की प्रवृत्ति बढ़ गयी है। कारक विभक्तियों में सानुनासिक रूपों की तुलना में निरनुनासिक रूपों का अधिक प्रयोग है : करण-अधिकरण का हिं > हि। एच० सी० भायाणी द्वारा प्रस्तुत आँकड़ों के अनुसार[4] सन्देशरासक की भाषा में करण-अधिकरण एकवचन-बहुवचन रूपों में –हिं युक्त रूप कुल ५८ बार और –हि युक्त रूप ८९ बार प्रयुक्त हुआ है।

(२) —इ — > — अ –

विरहिणी > विरहणी
धरित्री > धरत्ति (हिन्दी धरती)

(३) स्वर संकोच की प्रवृत्ति, जिसका आ० भा० आ० भाषाओं में पूर्ण विकास हुआ :

१. अपभ्रंशप्रकाश, देवेन्द्र कुमार, पृष्ठ ८१।
२. वही, पृष्ठ ८०।
३. वही, पृष्ठ ८२।
४. सन्देशरासक—मुनि जिनविजय द्वारा सम्पादित, व्याकरण भाग, पष्ठ ३।

अ आ > आ

स्वर्णकार > *सुन्नआर > सुन्नार (हिन्दी सुनार)

इय > ई

तुट्टिय > तुट्टी (हिन्दी टूटी)

मञ्जरी > मंजरिय (हिन्दी मंजरी)

(४) द्वित्व या संयुक्त व्यंजन में एक व्यंजन सुरक्षित रखकर पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ करने की प्रवृत्ति :

उच्छ्वास > उस्सास > ऊसास

दृश्यते > दिस्सइ > दीसइ

(५) अन्त्य स्वर के ह्रस्वीकरण की अपभ्रंशीय प्रवृत्ति के बावजूद अन्त्य स्वरों के संकोच के कारण पदान्त में दीर्घ स्वर भी मिलने लगे हैं :

दोधक > दोहअ > दोहा

गाथा > गाहअ > (क स्वार्थे के योग से) > गाहा

त्वम् > *तुवँ > तूँ (हिन्दी तू)

(६) लिंग-व्यत्यय के उदाहरण जो आ० भा० आ० काल की भाषाओं में पर्याप्त हैं, सन्देशरासक की भाषा में भी हैं :

ध्वनि (पुंल्लिग) > झुणि (स्त्रीलिंग)

देह (पुंल्लिग) > देह (स्त्रीलिंग)

(७) प्राय: सभी कारकों और वचनों में मात्र प्रातिपदिक का प्रयोग ही इस बात का प्रमाण है कि परवर्ती अपभ्रंश भाषा आ० भा० आ० भाषाओं के पर्याप्त निकट है : विरह सवसेय कय (विरहेण शवशेषा कृता), णेवर चरण विलग्गिवि (नूपुरः चरणे विलग्य)।

(८) पूर्वकालिक क्रिया का एक महत्वपूर्ण उदाहरण दहेवि करि (जलाकर) का प्रयोग है जो हिन्दी हँसकर, बोलकर का सहज पूर्वज प्रतीत होता है :

सुन्नारह जिम मह हियउ, पिय उक्किख करेइ ।
विरह हुयासि दहेवि करि, आसाजलि सिंचेइ ॥[1]

(९) विभक्ति—प्रत्ययों के घिस जाने और विभिन्न कारकों में प्रातिपदिक

१. सन्देशरासक, मुनि जिनविजय की भूमिका, पृष्ठ १३ ।

मात्र प्रयुक्त होने के कारण परसर्गों का बढ़ता हुआ प्रयोग परवर्ती अपभ्रंश को आ० भा० आ० भाषाओं के अत्यन्त निकट ले आया।

३. आधुनिक भारतीय आर्यभाषा काल

१००० ई० के उपरान्त भी अपभ्रंश भाषा में साहित्य-रचना होती रही। वस्तुतः जिसे परवर्ती अपभ्रंश, सन्धिकालीन भाषा, संक्रान्तिकालीन भाषा, संक्रमण-काल की भाषा या अवहट्ठ भाषा आदि नाम दिये गये हैं, उसका सम्पूर्ण साहित्य १००० ई० के बाद का ही है। उदाहरण के लिए सन्देशरासक ईसा की १३वीं शताब्दी, कीर्तिलता १४वीं—१५वीं शताब्दी, चर्यापद १४वीं शताब्दी[1] और ज्ञानेश्वरी १३वीं शताब्दी की रचना है। लेकिन साहित्य की भाषा अपभ्रंश रहने पर भी बोलचाल की भाषा का रूप बदल गया था। वह अपभ्रंश नहीं थी। अपभ्रंश के अनेक क्षेत्रीय भेदों से अनेक क्षेत्रीय बोलियाँ पनप आयी थीं। उनमें और म० भा० आ० काल के अन्तिम उपकाल की भाषा अपभ्रंश में बहुत अन्तर था। इन्हीं बोलियों के विकसित रूप आ० भा० आ० काल की भाषाएँ हैं। साधारणतः अपभ्रंश की निम्नलिखित बोलियों का अनुमान लगाया गया है जिनसे आ० भा० आ० काल की विभिन्न भाषाओं का विकास हुआ—

अपभ्रंश बोलियाँ	उनसे विकसित आ० भा० आ० भाषाएँ
१. शौरसेनी	१. पश्चिमी हिन्दी
२. नागर	२. अ. राजस्थानी
	आ. गुजराती
३. खस	३. पहाड़ी
४. पैशाची	४. अ. लहँदा
	आ. पंजाबी
५. ब्राचड	५. सिन्धी
६. महाराष्ट्री	६. मराठी
७. अर्धमागधी	७. पूर्वी हिन्दी

१. हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—डॉ० उदय नारायण तिवारी, पृष्ठ १५६ पर उद्धृत राखालदास बनर्जी का मत।

८. मागधी ८. अ. बिहारी

आ. बंगाली

इ. उड़िया

ई. असमिया

उपर्युक्त अपभ्रंश भाषाओं के स्थानीय या क्षेत्रीय रूप भी रहे होंगे। मागधी, पैशाची आदि वस्तुतः भाषावर्ग, भाषाग्राम या भाषिम (यदि ऐसे शब्दों के प्रयोग करने की अनुमति दी जाय) हैं, जिनके अन्तर्गत विभिन्न परिवेशों में कई भाषाएँ, बोलियाँ या संभाषाएँ रही होंगी। जैसे एक ध्वनिग्राम के अन्तर्गत विभिन्न परिवेशों में प्रयुक्त विभिन्न संध्वनियाँ होती हैं, उसी प्रकार एक भाषा के अन्तर्गत विभिन्न परिवेशों या प्रदेशों में उसकी विभिन्न उपभाषाएँ या बोलियाँ होती हैं। उदाहरण के लिए, मागधी अपभ्रंश के जिस रूप से आ० भा० आ० काल की बिहारी का जन्म हुआ, ठीक उसी से बंगाली का जन्म नहीं हुआ होगा। एक ही काल में प्रयुक्त बिहार और बंगाल की मागधी अपभ्रंश में अन्तर होंगे। ये अन्तर समय के साथ बढ़ रहे होंगे। यदि अन्तर न होते तो आ० भा० आ० काल में बिहारी और बंगाली इन दो अलग-अलग भाषाओं का विकास सम्भव नहीं होता। इसी प्रकार पैशाची के जिस रूप से लहँदा विकसित हुई, उससे कुछ भिन्न रूप से पंजाबी का विकास हुआ। पंजाबी की पूर्वज पैशाची अपभ्रंश शौरसेनी अपभ्रंश से प्रभावित थी। लहँदा की पूर्वज पैशाची अपभ्रंश पर यह प्रभाव उतना नहीं था।

आ० भा० आ० भाषाओं में सम्भवतः १३वीं शताब्दी के पूर्व साहित्य-रचना का कार्य आरम्भ ही नहीं हुआ। १००० ई० से १२०० ई० तक इन भाषाओं का बोलचाल का क्या रूप था, इसे जानने का साधन नहीं है। साहित्य में सुरक्षित रूप बोलचाल के उक्त रूप का ही विकसित परिष्कृत रूप है, जिसमें सूक्ष्म प्रादेशिक भेदों से ऊपर उठकर भाषाविशेष का एक परिनिष्ठित रूप खोजे जाने का यत्न है।

भारतीय आर्यभाषा के विकास में एक विशेष बात द्रष्टव्य है कि पश्चिमी या पश्चिमोत्तरी प्रदेशों की तुलना में पूर्वी प्रदेशों में विकास की गति अत्यन्त तीव्र रही है। दोनों प्रदेशों का यह अन्तर बहुत आरम्भ से ही विद्यमान रहा है। प्रा० भा० आ० काल में ही इस प्रकार के कथन मिलते हैं : उत्तर दिशा में अधिक विज्ञता के कारण लोग उत्तर दिशा में ही बोलना सीखने के लिए जाते हैं और जो वहाँ से आता

है उसे सुनना चाहते हैं।[1] स्पष्ट है कि उत्तरी (पश्चिमोत्तरी) प्रदेशों में बोली जाने वाली भाषा प्रामाणिक थी। अर्थात् उसमें परिवर्तन कम हुए थे। उसका रूप अपेक्षाकृत परम्पराप्राप्त रूप था। पूर्वी प्रदेशों के सम्बन्ध में पतंजलि के कथन का उल्लेख हम कर ही चुके हैं।[2] विकास की गति का यह अन्तर आ० भा० आ० काल की भाषाओं में भी देखा जा सकता है। पश्चिमोत्तरी भाषा सिन्धी, पंजाबी और गुजराती में अनेक प्राचीन विशेषताएँ सुरक्षित हैं। सिन्धी में अब भी ब्राचड अपभ्रंश के अनेक लक्षण हैं। उदाहरण के लिए, उसमें आदिवर्ती त्, द् ध्वनियाँ ब्राचड अपभ्रंश की तरह ट्, ड् में बदल जाती हैं : संस्कृत ताम्र > हिन्दी ताँबा, सिन्धी ट्राम्मो; संस्कृत देश > हिन्दी देस, सिन्धी डेह; सं० दश > सिन्धी डह। पंजाबी में अनेक प्राकृत शब्द सत्त (हिन्दी सात), अट्ठ (हिन्दी आठ), गड्डी (हिन्दी गाड़ी), काम्म (हिन्दी काम) अब भी प्रयुक्त होते हैं। गुजराती के व्याकरणिक गठन में अब भी प्राचीन तत्व विद्यमान हैं। उसमें नपुंसक लिंग भी अभी समाप्त नहीं हुआ है। इन पश्चिमोत्तरी भाषाओं की तुलना में बिहारी, बंगाली आदि पूर्वी भाषाओं में प्राचीन को सुरक्षित रखने की वृत्ति अत्यन्त शिथिल है। ये भाषाएँ अपनी पूर्ववर्ती म० भा० आ० भाषाओं से अपेक्षाकृत अधिक दूर हट आयी हैं। विकास की गति की दृष्टि से हिन्दी की स्थिति मध्यवर्ती हैं।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

ध्वनि—(१) प्रायः उन्हीं ध्वनियों का प्रयोग हो रहा है जो प्राकृत अपभ्रंश की परम्परा से प्राप्त हुई हैं। लेकिन कुछ नवीनताएँ भी हैं—

(अ) पालि, प्राकृत, अपभ्रंश में केवल मूल स्वर थे। आधुनिक भाषाओं में ऐ तथा औ इन दो संयुक्त स्वरों का भी प्रयोग होता है। इनका जन्म वस्तुतः परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ठ भाषा में ही हो गया था। भुजपति > भुववइ > भुववै, चतुर्विंशति > चउबिस > चौबिस।

इधर इन संयुक्त स्वरों का उच्चारण भी मूल स्वर की तरह करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। हिन्दी में ऐ तथा औ का संयुक्त स्वरत्व वहाँ तो स्पष्ट सुनाई देता है जहाँ ये क्रमशः य तथा व श्रुति के पूर्व आते हैं : गैया, मैया, भैया, खिवैया, सतसैया; कौवा, पौवा, हौवा। किन्तु अन्य सभी स्थितियों में ये प्रायः मूल स्वरों की तरह

१. **तस्मादुदीच्यां प्रज्ञाततरा वागुद्यते। उदञ्च उ एव यन्ति वाचं शिक्षितुम्। यो वा तत आगच्छति तस्य वा शुश्रूषन्त इति।—कौशीतकि ब्राह्मण ७–६।**

२. **तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः।—महाभाष्य, पश्पशाह्निक।**

उच्चरित हो रहे हैं : ऐसा, कैसा, बैल, खैल, पैठना, पैताना; और, पौधा, पौरुष, नौका, नौसेना।

(आ) ऋ स्वर केवल लेखन में सुरक्षित है। उच्चारण में यह रि या रु में बदल गया है। हिन्दी में इसका उच्चारण रि है : अमृत > अम्रित, ऋषि > रिसि; मराठी, गुजराती में रु : अमृत > अम्रुत, ऋषि > रुसि।

(इ) श, ष्, स् तीनों ही ऊष्म ध्वनियाँ अंकित तो की जाती हैं पर उच्चारण केवल श् और स् इन दो का ही होता है। ष् का उच्चारण पश्चिमी प्रदेशों में प्रायः स् और पूर्वी प्रदेशों में श् है। पूर्वी प्रदेशों में स् भी श् रूप में उच्चरित होता है। इसी प्रकार पश्चिमी प्रदेशों में श् भी स् रूप में उच्चरित हो रहा है।

(ई) चवर्ग का उच्चारण विभिन्न भाषाओं में एक रूप में नहीं है। हिन्दी में यह वर्त्स्य स्पर्शसंघर्षी है, मराठी में दन्त्य संघर्षी। फलस्वरूप वहाँ चवर्ग ध्वनियाँ त्स् (च्), द्ज् (ज्) रूप में उच्चरित होती हैं।

(उ) कुछ नयी ध्वनियाँ, जैसे क़् (स्पर्श), ख़्, ग़्, ज़्, फ़् (संघर्षी) फारसी और ऑ ध्वनि अंग्रेजी प्रभाव के फलस्वरूप आ गयी है। पश्चिमोत्तरी प्रदेशों में प्रायः इनका सही उच्चारण सुनाई पड़ता है। अन्य प्रदेशों तथा बोलियों में इनका उच्चारण क्रमशः क्, ख्, ग्, ज्, फ् और आ है।

(ऊ) कई स्थलों पर विवृति और अनुनासिकता की ध्वनिग्रामिक सत्ता भी है।

(२) पवर्ग को छोड़कर शेष वर्गीय नासिक्येतर व्यंजन-ध्वनियाँ पहले की अपेक्षा कुछ आगे की ओर (होठों की ओर) उच्चरित हो रही हैं। उदाहरण के लिए, क्, ख्, ग्, घ् संस्कृत में कण्ठ्य कहे गये हैं। लेकिन उनका उच्चारण आज कोमल तालव्य है। ङ अब भी कण्ठ्य है। ट्, ठ्, ड्, ढ् हिन्दी में मूर्धन्य न होकर कठोर तालव्य हैं। ण् मूर्धन्य है।

(३) प्राकृत के समीकृत संयुक्त व्यंजनों में से एक का लोप और पूर्ववर्ती स्वर का क्षतिपूरक दीर्घीकरण परवर्ती अपभ्रंश में ही आरम्भ हो गया था। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की यह मुख्य प्रवृत्ति है। केवल पंजाबी, सिन्धी में ही यह प्रवृत्ति नहीं है :

संo कर्म > प्राo कम्म > हिo काम, पंजाबी काम्म; सिन्धी कम्म।
संo अष्ट > प्राo अट्ठ > हिo आठ, पंजाबी अट्ठ, सिन्धी अट्ठ।

प्राकृत के नासिक्य व्यंजन + व्यंजन के असमीकृत संयुक्त व्यंजनों में भी प्रायः ऐसा ही हुआ है। अन्तर बस यह है कि नासिक्य ध्वनि सर्वथा लुप्त होने के स्थान पर पूर्ववर्ती स्वर में अनुनासिकता के रूप में बच गयी है :

सं० कण्टक > प्रा० कण्टअ > हि० काँटा, पं० कंडा, सि० कंडो ।
सं० कम्प > प्रा० कम्प > हि० काँप, पं० कम्ब, सि० कम्ब।

(४) स्पर्श व्यंजन के उपरान्त आनेवाला अन्त्य अ स्वर प्रायः लुप्त हो गया है। इसलिए ऐसे शब्द जिनके अन्त में स्पर्श + अ की स्थिति थी वस्तुतः हलन्त हो गये हैं : काक्, राख्, आग्, घाघ्, पाट्, सात्, आप्, रौब्।

(५) आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में बलाघात तथा सुराघात की स्थिति के सम्बन्ध में विवाद है। ग्रियर्सन के अनुसार इनमें केवल बलाघात की सत्ता है। जूल ब्लाक को इनमें बलाघात तथा सुराघात दोनों की ही विद्यमानता में सन्देह है। टर्नर के अनुसार मराठी में सुराघात तथा गुजराती में बलाघात की सत्ता है। हिन्दी में बलाघात और सुराघात को निश्चय ही वह स्थान प्राप्त नहीं है जो उन्हें क्रमशः अंग्रेजी और चीनी में प्राप्त है। फिर भी वाक्य के स्तर पर उसमें दोनों की ही सत्ता है। इस स्तर पर ये सार्थक भी हैं।

रूप--म० भा० आ० भाषाओं से आ० भा० आ० भाषाओं की भिन्नता ध्वनि की अपेक्षा रूपरचना के क्षेत्र में अधिक स्पष्ट और तात्विक है।

शब्द तथा धातु दोनों ही दृष्टियों से भारतीय आर्य भाषाएँ पूर्णतः वियोगात्मक हो गयी हैं। परसर्गों और संयुक्त क्रियाओं का प्रचुर प्रयोग इनकी मुख्य विशेषता है। यह प्रवृत्ति म० भा० आ० काल के अपभ्रंश उपकाल में ही आरम्भ हो गयी थी। आ० भा० आ० काल में यह अत्यन्त विकसित अवस्था में है। रूपों की संख्या जो संस्कृत में २४, प्राकृत में १२ और अपभ्रंश में ६ है, अब अधिकांश शब्दों में घटकर २ या ३ रह गयी है। शब्द का एक मूल या अविकारी रूप है और दूसरा उसका तिर्यक् या विकारी या विकृत रूप। बस, इसी विकृत रूप में परसर्ग जोड़कर सभी कारक-अर्थ प्रकट कर लिये जाते हैं :

	एकवचन	बहुवचन
मूल —	राम	राम
विकृत—	राम	रामों

मूल—	लड़का	लड़के
विकृत—	लड़के	लड़कों
मूल—	सीता	सीताएँ
विकृत—	सीता	सीताओं

मूल रूप में परसर्ग नहीं जुड़ता। वह बिना परसर्ग के प्रयुक्त होता है : राम जाता है, राम जाते हैं। कारकचिह्न या परसर्ग का प्रयोग विकृत रूप के साथ होता है—

कर्ता—	राम ने	रामों ने
कर्म—	राम को	रामों को
करण—	राम के द्वारा	रामों के द्वारा
सम्प्रदान—	राम के लिए	रामों के लिए
अपादान—	राम से	रामों से
सम्बन्ध—	राम का	रामों का
अधिकरण—	राम में	रामों में

इस प्रकार रूपों की संख्या का बहुत बड़ा बोझ समाप्त हो गया। यहाँ राम और ने, को, के, द्वारा, से आदि अलग-अलग शब्द हैं। राम व्यक्ति की और परसर्ग उसके कारकत्व की—वाक्य में क्रिया के साथ उसके सम्बन्ध की सूचना देता है। रामः, रामम्, रामेण, रामाय आदि की तरह एक ही शब्द में उक्त दोनों अर्थ-इकाइयाँ निहित नहीं हैं। और जब एक शब्द में एक से अधिक अर्थ-इकाइयाँ निहित नहीं होतीं, शब्द अलग-अलग होते हैं, उन्हें अलग-अलग प्रयोग किया जा सकता है, तब भाषा की यह अवस्था वियोगात्मक कहलाती है।[१] यह अवस्था हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगला आदि सभी आ० भा० आ० कालीन भाषाओं की है। हिन्दी की तरह ही इन भाषाओं के भी अपने परसर्ग हैं जिन्हें ये कारकत्व की सूचना के लिए शब्द के साथ प्रयुक्त करती हैं। उदाहरणार्थ हिन्दी का, की; पंजाबी दा, दी; गुजराती ना, नी; मराठी चा, ची आदि परसर्ग सम्बन्ध कारक की सूचना के लिए प्रयुक्त होते हैं।

कुछ शब्दों, विशेष रूप से सर्वनामों में, रूपों की संख्या कुछ अधिक है। उदाहरण के लिए, हिन्दी उत्तम पुरुष सर्वनाम के रूप लें—

	एकवचन	**बहुवचन**
मूल—	मैं	हम

१. Invitation to Linguistics—Mario pei, page 97.

विकृत—	मुझ	हम
सम्बन्ध—	मेरा	हमारा
सम्प्रदान—	मुझे	हमें

लेकिन यह सम्भावना दीखती है कि शीघ्र ही सम्बन्ध कारक के रूप, जैसा कि हमने इस अध्याय के अन्त में स्पष्ट किया है, विकृत रूप (मेरे ने, मेरे को, मेरे से, मेरे में) बन जायँगे और इस प्रकार यहाँ भी रूप-संख्या कम हो जायँगी।

हिन्दी में लकारों की संख्या केवल दो रह गयी है—वर्तमान सम्भावनार्थ और आज्ञार्थ। ये रूप प्रा० भा० आ० काल के क्रमशः लट् तथा लोट् लकार के रूपों से विकसित होते हुए आये हैं। उदाहरण के लिए, वर्तमान सम्भावनार्थ के रूप इस प्रकार हैं[1]—

सं०	प्रा०	अप०	हिन्दी
एकवचन			
चलति	चलइ	चलहि, चलइ	चले (वह)
चलसि	चलसि	चलहि, चलइ	चले (तू)
चलामि	चलामि	चलउँ	चलूँ (मैं)
बहुवचन			
चलन्ति	चलन्ति	चलहिं	चलें (वे)
चलथ	चलह	चलहु	चलो (तुम)
चलामः	चलामो	चलहुँ	चलें (हम)

हिन्दी भूत निश्चयार्थ, भूत सम्भावनार्थ और भविष्य आज्ञा के रूप संस्कृत कृदन्तों से बने हैं। शेष सभी कालों की रचना वर्तमान या भूतकालिक कृदन्त के रूपों में सहायक क्रिया लगाकर की जाती है। अभिप्राय यह है कि क्रिया में संयोगात्मकता के तत्व केवल वर्तमान सम्भावनार्थ तथा आज्ञार्थ में ही शेष हैं। अन्यत्र वियोगात्मक स्थितियाँ हैं। न्यूनाधिक ऐसी ही स्थिति अन्य सभी आ० भा० आ० भाषाओं में है।

द्विवचन जो पालि में ही समाप्त हो गया था फिर लौटकर नहीं आया। केवल एकवचन और बहुवचन ये दो ही वचन हैं। लेकिन वचन के क्षेत्र में अभी और भी परिवर्तन लक्षित हो रहे हैं। इस अध्याय के अन्त में इन परिवर्तनों और सम्भावित परिवर्तनों पर विचार किया गया है।

१. ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तुत तुलनात्मक कोष्ठक, क्रम-परिवर्तन के साथ।

नपुंसक लिंग के लोप की प्रक्रिया म० भा० आ० काल के अपभ्रंश उपकाल में ही दिखाई देने लगी थी। आ० भा० आ० भाषाओं में केवल मराठी, गुजराती में ही नपुंसक लिंग विद्यमान है। अन्य सभी भाषाओं से वह पूर्णतः लुप्त हो गया है। बंगाली, उड़िया, असमी में लिंग-भेद कम है। बिहारी की स्थिति भी बहुत कुछ यही हो रही है। हिन्दी में यह स्थिति आने में समय लगेगा। फिलहाल उसमें लिंग-भेद की अनेक जटिलताएँ हैं। शब्दों में लिंग-भेद की थोड़ी-बहुत जटिलता सभी भाषाओं में है। उन भाषाओं में भी है जिनमें लिंग-भेद सजीवत्व और निर्जीवत्व या लघु और महान जैसे स्पष्ट आधारों पर टिका हुआ है। लेकिन हिन्दी में विशेष जटिलता का कारण यह है कि संज्ञा और सर्वनाम का लिंग-भेद सम्बन्ध कारक के विभक्ति-चिह्नों, कुछ विशेषणों और क्रिया (संस्कृत लकारों के अवशेष वर्तमान सम्भावनार्थ और आज्ञार्थ को छोड़कर) के लिंगभेद को भी निर्धारित करता है। कौन सा शब्द पुंल्लिंग है और कौन सा स्त्रीलिंग इस सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं है। मूँछ और दाढ़ी जैसे शब्द स्त्रीलिंग हैं। लेकिन घाघरा, लहँगा, पेटीकोट जैसे शब्द पुंल्लिंग हैं। मोती शब्द पुंल्लिंग है, मोती से बनी माला स्त्रीलिंग। दिया पुंल्लिंग है, लालटेन स्त्रीलिंग। ईकारान्त शब्द बेंदी स्त्रीलिंग है। लेकिन ईकारान्त शब्द पानी पुल्लिंग है। हिन्दी मे लिंग सम्बन्धी यह जटिलता अधिकांशतः ऐतिहासिक क्रमविकास या परम्परा की देन है। लेकिन यह हिन्दी का निजी अर्जन भी कम नहीं है। विभिन्न बोलियों और बोलचाल की तो बात ही और है, जहाँ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार[1] 'लोमड़ी बोला कि ऐ हाथी तुम कहाँ जाती हो' जैसे प्रयोग मिल जाते हैं, परिनिष्ठित हिन्दी-लेखन में भी लिंगभेद की अस्पष्टता के कारण होने वाली भूलों की कमी नहीं है। एक ही लेखक एक शब्द को एक स्थान पर पुल्लिंग में और दूसरे स्थान (कभी-कभी केवल चार पंक्तियों के उपरान्त ही) पर स्त्रीलिंग में प्रयोग करता है। लिंगभेद से आतंकित लेखक उन स्थलों पर भी लिंगभेद का अंकुश मान बैठते हैं जिन स्थलों पर वाक्य के रचना-विशेष के कारण वह सर्वथा अस्तित्वहीन है। नीचे अत्यन्त परिनिष्ठित और प्रसिद्ध हिन्दी-लेखन से सब प्रकार के उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

> हमारे दाहिनी ओर एक लम्बी मैदान और नदी के पार ग्लेशियर का दृश्य था।[2]
>
> पानी की छींटें उछलकर उसकी बाँह को भिगो देती हैं।[3]

१. हिन्दी भाषा का इतिहास, पृष्ठ २५३, १९६१।

२. अजय की डायरी—डॉ० देवराज, पृष्ठ १६२।

३. वही, पृष्ठ १०७।

समाज टूटी कि फिर हम किसके भीतर बनेंगे।[१]

ठीक उसी प्रकार बहुत सी इल्मों का आरम्भ.........।[२]

पाणिनि के अष्टाध्यायी की भाँति ही इनका ग्रन्थ भी अपने में बहुत पूर्ण मिलता है।[३]

आज उन्होंने सेमिनार के सदस्यों को डिनर दी थी।[४]

कुछ रात गये डाकू ने बाहरी दरवाजे पर दो बड़ी-बड़ी सींग वाले बैल लाकर बाँध दिये।[५]

एक दिन मकान छोड़ने की नोटिस आ गयी।[६]

चौकसी से फाइल स्टडी की, स्टेटमेंट चैक की।[७]

बड़ी दी उसे अपनी पलंग पर खींच छाती से लगा लेतीं।[८]

उसे जो पहला पेड़ नजर आयेगा वह उसी की छाया तले बैठकर घोड़ा-गाड़ी की इन्तजार करेगा।[९]

सुबह से ही तुम्हारी इन्तजार कर रहा हूँ।[१०] (लेकिन) बड़ी देर से तुम्हारा इन्तजार कर रहा हूँ, नवल![११]

उसके मालिक की काफी देर तक इन्तजार की गयी।[१२]

१. त्यागपत्र—जैनेन्द्र कुमार, १९५६, पृष्ठ ७३।

२. भाषाविज्ञान—भोलानाथ तिवारी, १९६९, पृष्ठ ५३८।

३. वही, पृष्ठ ५३९।

४. अजय की डायरी, पृष्ठ २७५।

५. क्या भूलूँ क्या याद करूँ—बच्चन, पृष्ठ ७०।

६. वही, पृष्ठ २३१।

७. यारों के यार : तीन पहाड़—कृष्णा सोबती, पृष्ठ २६।

८. कृष्णकली—शिवानी, पृष्ठ २०।

९. हॉथर्न की श्रेष्ठ कहानियाँ : अनुवादक शिवदान सिंह चौहान, विजय चौहान, पृष्ठ ७४।

१०. भूले बिसरे चित्र—भगवतीचरण वर्मा, पृष्ठ ४६८।

११. वही, पृष्ठ ५७२।

१२. नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली, २२ जुलाई ७०, पृष्ठ ५, कालम ६।

गोयल ने अपने एकल मैच में तीसरी और अन्तिम गेम में......सुरेश गोयल ने यह गेम बड़े ही धीमे तरीके से प्रारम्भ की......।......पहली गेम सुरेश हारा था।[१] (लेकिन) पहले गेम में वह २–७ से पिछड़ रहा था।[२] (फिर लगभग ४ पंक्तियों बाद) दूसरी गेम और भी सनसनीखेज रही।[३] (फिर बगल के ही कालम में) पहले गेम में चटापट आगे निकलकर[४] दूसरे गेम में भी सुरेश का वही रवैया जारी रहा....।[५]

वैसे उसकी हर मजाक के पीछे.........।[६]
मीना को कुछ लम्बी हुई पाया।[७]
और वह भी हेम को अकेली छोड़कर ।[८]
उजले रंग का बखान ही शायद कली को अनमनी कर गया।[९]

वह कहीं कोई विषबुझा शब्दभेदी बाण छोड़कर मुझे लंका में ही ठंडी न कर दे।[१०]

माधुरी-सम्पादकों के प्रयोग 'कड़ी परिश्रम' पर निराला ने टिप्पणी की थी।[११]

लिंग-व्यत्यय के उदाहरण प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं की तरह हिन्दी में भी विद्यमान हैं। संस्कृत में देह, बाहु, आत्मा शब्द पुंल्लिग हैं; लेकिन हिन्दी में स्त्रीलिंग। संस्कृत में देवता, तारा आदि शब्द स्त्रीलिंग हैं, लेकिन हिन्दी में पुंल्लिग।

विशेष्य के अनुसार विशेषण के लिंग-विधान की परम्परा अपभ्रंश तक मिलती है। हिन्दी में भी आकारान्त विशेषणों में उस परम्परा का निर्वाह है। अन्य विशेषणों के प्रयोग में हिन्दी साधारणतः इस परम्परा से मुक्त हो गयी है।

वास्तव में मध्यदेश की भाषा होने के कारण हिन्दी अपनी पूर्ववर्ती अन्य मध्य-देशीय भाषाओं की तरह ही सदैव प्रा० भा० आ० काल की भाषाओं के प्रभाव-क्षेत्र में

१. नव भारत टाइम्स, २१ जुलाई, पृष्ठ ८, कालम २ ।
२–३. वही, २३ जुलाई, पृष्ठ ८, कालम ६ ।
४–५. वही, वही, वही, कालम ७ ।
६. धर्मयुग, ९ अगस्त ७०, पृष्ठ ४३, चित्र के नीचे का विवरण ।
७. अजय की डायरी, पृष्ठ ३२७ ।
८. वही, पृष्ठ १४२ ।
९. कृष्णकली, पृष्ठ १४३ ।
१०. वही, पृष्ठ १८८ ।
११. निराला की साहित्य साधना—रामविलास शर्मा, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ७५ ।

बनी रही। उस पर यह प्रभाव कुछ तो प्रा० भा० आर्य भाषाओं से सीधा आया और अधिकतर पालि, शौरसेनी प्राकृत तथा शौरसेनी अपभ्रंश के माध्यम से उसे रिक्थ के रूप में मिला। लिंगभेद सम्बन्धी जो रिक्थ उसे मिला वह वह है जिसके सम्बन्ध में हेमचन्द्र को कहना पड़ा था 'लिंगमतन्त्रम्' (लिंग का कोई नियम नहीं है)। लेकिन क्रियाओं में लिंगभेद उसका अपना उपार्जन है जो संस्कृत कृदन्त रूपों को क्रिया-रूप में अपनाने के कारण सम्भव हुआ। फिर भी यह सही है कि मध्यदेश से दूर-वर्ती आ० भा० आ० भाषाओं को रिक्थ में इतनी जटिलताएँ प्राप्त नहीं हुईं। उनकी पूर्वज भाषाएँ ही अपेक्षाकृत अधिक प्रगतिशील थीं और बहुत सा कूड़ा उन्होंने ही घर से अलग कर दिया था।

शब्द—आ० भा० आ० काल की भाषाओं के शब्द-समूह में अनेक स्रोतों से शब्द आये हैं। संस्कृत से तत्सम और तद्भव शब्द प्राप्त हुए हैं। संस्कृत तत्सम शब्दों में अधिकांश वे हैं जो आ० भा० आ० भाषाओं ने सांस्कृतिक, धार्मिक पुनर्जागरण के प्रभावस्वरूप सीधे संस्कृत से ग्रहण किये। अनेक शब्द प्राकृत, अपभ्रंश में भी अपनी तत्समता बनाये रहे और इस परम्परा से आ० भा० आ० भाषाओं को प्राप्त हो गये। कुछ तत्सम शब्द ऐसे भी हैं जो आधुनिक आर्यभाषाओं ने एक-दूसरी से ग्रहण किये हैं। उदाहरण के लिए, हिन्दी में उपन्यास, गल्प, धन्यवाद आदि शब्द बँगला से और वाङमय, प्रगति आदि शब्द मराठी से आये हैं। आ० भा० आ० भाषाओं में तद्भव शब्दों की भी एक बड़ी संख्या है। ये शब्द मूलतः संस्कृत के हैं। लेकिन पालि, प्राकृत, अपभ्रंश की लम्बी यात्रा में इनकी ध्वनियों में परिवर्तन हो गया है। हेमचन्द्र इन्हें 'संस्कृतयोनि' कहते हैं। सं० कर्ण > प्रा० कण्ण > हिन्दी कान; सं० कल्य > प्रा० कल्ल > हि० कल; सं० घोटक > प्रा० घोडय > हि० घोड़ा; सं० पुष्कर > प्रा० पुक्खर, पोक्खर > हि० पोखर आदि ऐसे ही शब्द हैं।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के शब्द-समूह की एक प्रमुख विशेषता उसमें पर्याप्त मात्रा में विदेशी शब्दों का होना है। विभिन्न राजनीतिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्धों के कारण ये शब्द निरन्तर आते चले गये। विदेशी शब्दों का ग्रहण सभी कालों में हुआ है। लेकिन शब्द-समूह में उनका प्रतिशत नगण्य रहा है। १९४७ के पूर्व राजनीतिक अधीनता के कारण और उसके बाद देश के बढ़ते हुए अन्तर-राष्ट्रीय सम्बन्धों, दायित्वों, पर्यटन आदि के कारण विदेशी शब्दों की संख्या बढ़ती गयी है। इधर संसार की सभी सभ्य भाषाओं में अन्तरराष्ट्रीय दृष्टि के विकास के

कारण यह कार्य हो रहा है। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में मुख्यतः अरबी-फारसी, पश्तो, तुर्की, पुर्तगाली, अंग्रेजी, फ्रांसीसी, डच, स्पेनी, रूसी आदि विदेशी भाषाओं के शब्द हैं। डॉ० चटर्जी के अनुसार बँगला में पश्तो शब्दों की संख्या आधा दर्जन है।[१] डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार हिन्दी में पठान, रुहेला, मटरगश्ती, गुण्डा, अचार, जमालगोटा, अखरोट, लुच्चा आदि लगभग सौ शब्द पश्तो से आये हैं।[२] उनकी ही गणना के अनुसार हिन्दी में ६००० फारसी शब्द हैं, जिनमें से लगभग ३५०० तो फारसी के अपने हैं और लगभग २५०० अरबी के हैं।[३] सोवियत, बोल्शेविक, वोदका, रूबल, स्पुतनिक, सोयुज आदि शब्द विभिन्न आ० भा० आ० भाषाओं में रूसी भाषा से पहुँचे हैं।

आ० भा० आ० भाषाओं की वाक्य-रचना में रूप या पद का स्थान प्रायः निश्चित है। इसमें परिवर्तन करने से अर्थ में परिवर्तन हो सकता है। प्रा० भा० आ० भाषाओं की वाक्य-रचना से आ० भा० आ० भाषाओं की वाक्य-रचना में यह बहुत बड़ा अन्तर है। फारसी तथा अंग्रेजी वाक्य-रचना के प्रभाव-चिह्न भी आधुनिक भाषाओं की वाक्य-रचना में हैं। हिन्दी में 'कि' का प्रयोग फारसी तथा अंग्रेजी और अपने के स्थान पर मेरे, उसके; मैं के स्थान पर अप्रत्यक्ष कथन की तरह वह का प्रयोग अंग्रेजी का प्रभाव है : मैंने उससे कहा कि वह बुरा लड़का है। मैंने तो मेरा (<अपना) काम कर लिया। वह उसके ही (<अपने ही) जाल में फँस गया। उसने कहा कि वह (< मैं) रुक नहीं सकता।—इन स्पष्ट प्रभावों के अतिरिक्त वाक्य-रचनागत अन्य अनेक प्रभाव भी आ० भा० आ० भाषाओं की वाक्यरचना में विद्यमान हैं। हिन्दी में जैनेन्द्र, अज्ञेय और इधर निर्मल वर्मा की वाक्य-रचना में इन प्रभावों को ढूँढ़ा जा सकता है।

आ० भा० आ० काल में जनसंख्या, पारस्परिक व्यवहार, यात्राएँ, अन्तर्भाषा-भाषी विवाह तथा मित्रताएँ, नौकरी तथा आजीविका के लिए भिन्न भाषाभाषी क्षेत्रों तथा व्यक्तियों के मध्य रहने आदि में वृद्धि के बावजूद भाषा के परिवर्तन की गति उतनी तीव्र नहीं है, जितनी प्रा० भा० आ० तथा म० भा० आ० काल की भाषाओं की रही है। वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश इन भाषाओं

१. O. D. B. L. पृष्ठ २१३।
२. हिन्दी भाषा, पृष्ठ २८०।
३. वही, पृष्ठ २८२।

में प्रत्येक की जीवन-अवधि ५०० वर्ष में समाप्त हो गयी। इसके विपरीत आ० भा० आ० काल की भाषाएँ पंजाबी, हिन्दी, बंगला आदि १००० ई० से निरन्तर जीवित हैं। भाषा-परिवर्तन के इस गति-ह्रास के पीछे अनेक कारण हैं। मुद्रण-यंत्र के आविष्कार के फलस्वरूप पुस्तकों, समाचारपत्रों, पत्रिकाओं तथा अन्य सामग्रियों का अटाट्ट प्रकाशन; शिक्षा का प्रसार; आकाशवाणी; चित्रपट; दूरदर्शन; लाउडस्पीकर और उसके कारण सम्भव होने वाली चुनावी तथा अन्य सन्दर्भों की विशाल सभाएँ भाषा की द्रुत परिवर्तन गति को शिथिल कर रही हैं। फिर भी परिवर्तन के कुछ न कुछ चिह्न निरन्तर प्रकट हो रहे हैं और उन्हें रूपरचना के क्षेत्र में भी देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, हिन्दी क्रियाओं से स्त्रीलिंग प्रयोग समाप्त हो रहे हैं। उत्तम पुरुष एकवचन और बहुवचन सर्वनामों के साथ प्रयुक्त क्रियाओं में यह प्रवृत्ति सहज ही दिखाई देती है। अच्छा, हम चलती हैं, हम आपके यहाँ गयी थीं, हम खूब हँसी; अच्छा, हम लोग चलती हैं, हम सब आपके यहाँ गयी थीं, हम सब खूब हँसीं आदि वाक्यों के स्थान पर स्त्रियों के द्वारा निम्नलिखित वाक्य बोले जा रहे हैं—अच्छा, हम चलते हैं, हम आपके यहाँ गये थे, हम खूब हँसे; अच्छा, हम लोग चलते हैं, हम सब आपके यहाँ गये थे, हम सब खूब हँसे।

बहुवचन के शब्द-रूप लुप्त होते प्रतीत होते हैं। एकवचन मूल रूप के साथ समूहवाची कोई शब्द लोग, सब, गण आदि जोड़कर बहुवचन का अर्थ प्रकट किया जा रहा है। पुरुष वहाँ पहुँचे; भाभियों ने कहा; कुत्ते भौंक रहे हैं; कुत्तों को रोटी डाल दो; हमें कुछ नहीं चाहिए आदि के स्थान पर पुरुष लोग वहाँ पहुँचे; भाभी लोग ने कहा; कुत्ता लोग/कुत्ते लोग भौंक रहे हैं; कुत्ता लोग को रोटी डाल दो; हम लोग को कुछ नहीं चाहिए, हम सबको कुछ नहीं चाहिए आदि वाक्य बोलचाल में सुने जा सकते हैं।

पुरुषवाचक सर्वनामों में विकृत रूप (मुझ, हम, तुझ, तुम) और सम्प्रदानकारक के रूप (मुझे, हमें, तुझे, तुम्हें) प्रचलन से हट रहे हैं। उनके स्थान पर सम्बन्धकारक के रूप पहुँच रहे हैं, जिनके साथ परसर्ग जोड़कर विभिन्न कारकों के अर्थ प्रकट किये जा रहे हैं। उदाहरण के लिए—

मुझ पर क्या मुसीबत आयी है। > मेरे पर क्या मुसीबत आयी है।
हममें क्या खोट है? > हमारे में क्या खोट है?
तुझसे यह न होगा। > तेरे से यह न होगा।

तुमको क्या पड़ी है? > तुम्हारे को क्या पड़ी है?
मुझे रोटी दो। > मेरे को रोटी दो।
हमें कुछ नहीं चाहिए। > हमारे को कुछ नहीं चाहिए।
तुझे क्या दूँ? > तेरे को क्या दूँ?
तुम्हें दूँ? > तुम्हारे को दूँ?

आ० भा० आ० भाषाओं में ऐसे ही अनेक परिवर्तन लक्षित किये जा सकते हैं। ये केवल बोलचाल तक ही सीमित नहीं हैं। इन्हें यदा-कदा परिनिष्ठित लेखन में भी देखा जा सकता है। फिर भी ये इतने महत्वपूर्ण नहीं हैं कि आ० भा० आ० काल के अन्तर्गत हम हिन्दी, बँगला आदि के किसी परवर्ती उपकाल का नामकरण कर सकें।

परिशेष १

आर्येतर भारतीय भाषाएँ

आर्यों के उद्भव या आगमन के पूर्व कम से कम चार जातियाँ भारत में रह चुकी थीं। इनके नाम हैं—नेग्रिटो, आस्ट्रिक, किरात और द्रविड़।

नेग्रिटो—भारतीय संस्कृति को पीपल की पूजा और धनुष-बाण का प्रयोग प्रदान करने वाली नेग्रिटो जाति की भाषा का भारतीय भाषाओं पर कोई प्रभाव नहीं दिखाई देता। एक तो इतिहास के क्रम में नेग्रिटो जाति के बहुत आरम्भिक होने और दूसरे, भारतवर्ष से सम्भवतः शीघ्र ही इसके दक्षिणपूर्वी द्वीपसमूहों की ओर चल देने और तीसरे, इसकी भाषा के बहुत विकसित न होने के कारण ही यह जाति भारत में अपना कोई भाषागत प्रभाव नहीं छोड़ सकी।

आस्ट्रिक—आस्ट्रिक जाति कदाचित् भूमध्यसागर से ईराक, ईरान होती हुई भारत आयी। प्राचीन भारतीय साहित्य में निषाद, सौद्युम्न, कोल्ल, भिल्ल, शबर, पुलिन्द आदि संज्ञाएँ इसी जाति के लिए प्रयुक्त हुई हैं। विन्ध्य मेखला के वन्य और पर्वतीय प्रदेशों में यह जाति अब भी पर्याप्त संख्या में विद्यमान है। पश्चिम में भील, मध्य में कोल तथा पूर्व में संथाल और मुंडा इनके नाम हैं। एशिया में वियतनाम, कम्बोडिया, लाओस आदि देशों की भाषाएँ और भारतीय आस्ट्रिक जाति की भाषाएँ एक ही भाषापरिवार के अन्तर्गत गिनी जाती हैं। भारतीय आस्ट्रिक भाषाएँ मुख्य रूप से छोटा नागपुर के प्रदेश में बोली जाती हैं। इसके अतिरिक्त मध्यप्रदेश, उड़ीसा और मद्रास के कुछ भागों तथा पश्चिमी बंगाल और बिहार के पहाड़ी जंगली भागों में भी इन भाषाओं के बोलने वाले हैं। कोल, संथाली, मुंडारी, हो, कुर्कू, कनावरी, खासी, निकोबारी आदि लगभग १९ आस्ट्रिक भाषाएँ भारतवर्ष में बोली जाती हैं। संथाली, मुंडारी, हो आदि भाषाओं के लिए एक सामूहिक नाम खेरवारी भी है। भारतीय आस्ट्रिक भाषाओं को मुण्डा भाषाएँ भी कहा जाता है। मुण्डा शब्द इसी परिवार की एक भाषा मुण्डारी का है और उसमें इसका अर्थ मुखिया या जमींदार है। सबसे पहले मैक्समूलर ने भारतीय आस्ट्रिक भाषाओं को द्राविड़ परिवार की भाषाओं से भिन्न समझा था और उन्होंने ही इनके लिए मुण्डा संज्ञा का प्रयोग किया था। अब भी यह शब्द प्रयोग में है। लेकिन भाषापारिवारिक तथा भौगोलिक

स्थिति की सूचना देने की दृष्टि से भारतीय आग्नेय या भारतीय आस्ट्रिक भाषाएँ या भारतीय मोनख्मेर भाषाएँ नाम कदाचित् अधिक उपयुक्त है।

बीस (कोड़ी) के क्रम पर आधारित गणना-पद्धति; गुजराती तथा मध्यप्रदेश की मालवी, बुन्देली आदि कुछ बोलियों में उत्तम पुरुष बहुवचन के लिए दो रूपों (अमे और आपणे) (हम और अपन) का प्रयोग और कर्पास, कदली, बाण, तांबूल, पिनाक, गंगा, लिंग, कम्बल आदि अनेक शब्द भारतीय आर्य भाषाओं को मूलतः आस्ट्रिक भाषाओं की ही देन हैं। भारतीय भाषाओं में अनुकरणात्मक शब्द बनाने की प्रवृत्ति भी सम्भवतः आस्ट्रिक भाषाओं से ही आयी है। पूर्वी भारत की आर्यभाषाओं पर इनका अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव है।

भारतीय आस्ट्रिक भाषाओं के ध्वनिग्राम--स्वर तथा अधिकांश व्यंजन प्रायः हिन्दी स्वर, व्यंजनों की तरह ही हैं। लेकिन उनमें एक प्रकार के अर्ध व्यंजन भी हैं जिनका उच्चारण हिन्दी व्यंजनों से भिन्न है। इन्हें साधारणतः क्लिक व्यंजन की तरह उच्चरित किया जाता है और उच्चारण में थोड़ी सी अनुनासिकता भी सुनाई देती है।

ये भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं। रूपरचना के लिए प्रत्यय, उपसर्ग और कभी-कभी मध्यसर्ग का योग किया जाता है। लेकिन योग अत्यन्त सरल और स्पष्ट होता है। उदाहरण के लिए खेरवारी भाषा में--

दल = मारना, दपल = परस्पर मारना
हाड़ = आदमी, हाड़कीन् = दो आदमी
हाड़को = कई आदमी

प्रा० भा० आ० भाषाओं की तरह वचन तीन हैं। लेकिन लिंग केवल दो हैं—स्त्रीलिंग, पुंल्लिग। इनका बोध स्त्री और पुरुषवाचक शब्द जोड़ने से होता है। जैसे—आडिया कूल = बाघ, एंगा कूल = बाघिन। कुछ शब्दों को हिन्दी की तरह –ई जोड़कर भी स्त्रीलिंग रूप दिया गया है। जैसे—कोड़ा = लड़का, कूड़ी = लड़की। लेकिन ऐसे शब्दों की संख्या कम है।

संज्ञाओं का विभाजन सजीव और निर्जीव पर आधारित है। उत्तम पुरुष सर्वनाम के द्विवचन और बहुवचन में दो-दो रूप हैं। उदाहरण के लिए हम के लिए अले और अबून ये दो रूप हैं। अले का प्रयोग वक्ता केवल अपने लिए करता है। इसके विपरीत अबून का प्रयोग वह अपने अतिरिक्त श्रोता के लिए भी करता है। इस पद्धति का प्रभाव, जैसा कि हम कह चुके हैं, कुछ भारतीय आर्य भाषाओं में भी देखने को मिलता है।

क्रियाओं में लिंग-भेद नहीं है। काल का बोध कराने के लिए प्रत्यय जोड़े जाते हैं। वास्तव में क्रियाएँ अलग शब्द नहीं हैं। प्रयोग-भेद से एक ही शब्द संज्ञा या क्रिया बन जाता है। बल देने के लिए धातु-अभ्यास की पद्धति का सहारा लिया जाता है। अगर किसी क्रिया के बार बार होने की सूचना देनी हो तो सम्पूर्ण धातु को दुबारा उच्चरित किया जाता है। जैसे—दल्=मारना, दल्-दल्=बार बार मारना। लेकिन यदि क्रिया के अधिक होने की सूचना देनी हो तो धातु के केवल प्रथम वर्ण को ही दुहराया जाता है। जैसे—दल्= मारना, ददल्=खूब मारना।

भारतीय आस्ट्रिक भाषाओं में अव्यय शब्दों की अव्यय से इतर सत्ता भी है। उदाहरण के लिए, मैनखन का अर्थ है—लेकिन। किन्तु कभी-कभी उसका अर्थ 'यदि तुम कहो' भी होता है।

किरात—हिमाचल प्रदेश, नेपाल, भूटान, असम, मनीपुर और उत्तरी बंगाल में चीनी भाषा-परिवार से सम्बन्धित कुछ भाषाओं के अवशेष मेइथेइ, कचिन, नगा, गारो, बोड़ो, लोलो, कुकीचिन, लेप्चा और नेवारी आदि भाषाओं के रूप में विद्यमान हैं। इन्हें चीनी परिवार की तिब्बती-बर्मी तथा थाई शाखा से सम्बद्ध माना जाता है। इन भाषाओं को बोलने वाली जातियों के पूर्वज सम्भवतः चीन के पश्चिमोत्तर प्रदेशों से ब्रह्मपुत्र तथा इरावती नदियों के किनारे-किनारे भारत आये थे। प्राचीन भारतीय साहित्य में इन्हें किरात कहा गया है। आधुनिक भाषाओं में इनके लिए मंगोल शब्द का प्रचलन है।

इन भाषाओं पर भारतीय आस्ट्रिक भाषाओं का बहुत अधिक प्रभाव है। भारतीय आस्ट्रिक भाषाओं के प्रायः सभी प्रमुख लक्षण—शब्दों का विभाजन सजीव-निर्जीव पर आधारित होना, उत्तमपुरुष सर्वनाम के द्विवचन और बहुवचन में दो-दो रूप, क्रिया के कुछ रूपों में प्रत्ययों का प्रयोग, बीस पर निर्भर गणना-पद्धति इनमें विद्यमान हैं। चीनी परिवार की भाषाओं के प्रमुख लक्षण इनमें अपेक्षाकृत कम हैं। वास्तव में भारतीय आस्ट्रिक भाषाओं का किरात भाषाओं पर इतना अधिक प्रभाव है कि कुछ विद्वानों को इनके चीनी परिवार से सम्बद्ध होने में भी सन्देह है।[1]

द्रविड़—भारतवर्ष के चार दक्षिणी प्रान्तों—आन्ध्र, मैसूर, तमिलनाडु और केरल की भाषाएँ द्राविड़ परिवार की भाषाएँ हैं। इनके अतिरिक्त लंका के उत्तरी भाग तथा लक्ष द्वीप में भी यही भाषाएँ हैं। कुर्ग की भाषा कोडगु या कुर्गी; कुर्ग और महा-

१. सामान्य भाषाविज्ञान—बाबूराम सक्सेना, पृष्ठ २६५।

राष्ट्र प्रान्त के सीमावर्ती छोटे से प्रदेश की भाषा तुलु; नीलगिरि के जंगलों की बोलियाँ टोडा और कोटा ; मध्यप्रदेश के एक भाग में बोली जाने वाली भाषा गोंड; बिहार, उड़ीसा और मध्यप्रदेश की सीमाप्रदेशीय बोली ओरावँ; बंगाल और बिहार की सीमावर्ती राजमहल की पहाड़ी पर रहने वाली माल्टो जाति की भाषा माल्टो और पश्चिमोत्तर में बिलोचिस्तान के एक छोटे से भाग की भाषा ब्राहुई भी द्राविड़ परिवार के ही अन्तर्गत है। इससे यह तो सिद्ध होता ही है कि किसी समय द्राविड़ भाषाएँ भारतवर्ष में आज की अपेक्षा अधिक व्यापक प्रदेश में बोली जाती थीं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की संस्कृति का सम्बन्ध द्रविड़ जाति से जोड़ा गया है। यदि यह सच है तो कहना होगा कि भारतवर्ष में द्राविड़ भाषाएँ लगभग चार हजार वर्ष ईसा पूर्व से बोली जा रही हैं।

बहुत लम्बे समय तक एक ही देश में बोले जाने और एक ही धर्म तथा संस्कृति से सम्बन्धित होने के कारण आस्ट्रिक, द्राविड़ तथा आर्य भाषाओं ने एक दूसरी को प्रभावित किया है। लेकिन प्रभावों के बावजूद उनकी पारिवारिक विशेषताएँ सर्वथा अलग और सुरक्षित हैं। इनके ये मौलिक अन्तर सहज ही समझे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, आस्ट्रिक भाषाओं में तीन वचन हैं, द्राविड़ भाषाओं में दो। भारतीय आर्यभाषा के प्राचीन काल की भाषाओं में तीन वचन थे, बाद में दो रह गये। आस्ट्रिक भाषाओं में मध्यसर्ग का भी प्रयोग होता है, लेकिन द्राविड़ और आर्य भाषाओं में नहीं। आस्ट्रिक भाषाओं में गणना की पद्धति बीस के क्रम पर आधारित है; द्राविड़ तथा आर्य भाषाओं में दस के क्रम पर। आस्ट्रिक भाषाओं में संज्ञा का विभाजन चेतन-अचेतन पर आधारित है; द्राविड़ भाषाओं में विवेकी और अविवेकी या उच्च जातीय और निम्न जातीय पर। भारतीय आर्यभाषाओं में संज्ञाओं का ऐसा कोई विभाजन नहीं है।

द्राविड़ परिवार की भाषाओं में मूर्धन्य ध्वनियों की प्रधानता है। भारतीय आर्यभाषाओं में सम्भवतः इन्हीं भाषाओं के कारण टवर्ग का विकास हुआ है। मूल भारोपीय भाषा में ये ध्वनियाँ नहीं थीं।

शब्द के आदि में सघोष व्यंजन का प्रयोग नहीं होता। यह प्रवृत्ति प्रायः सभी भाषाओं में और विशेष रूप से तमिल में है। यही कारण है कि संस्कृत शब्दों का आदि सघोष व्यंजन तमिल में अघोष में परिवर्तित हुआ मिलता है : सं० दन्त > तमिल तन्दम्।

द्राविड़ भाषाएँ अश्लिष्ट अन्त-योगात्मक हैं। रूप बनाने के लिए मूल शब्द

या धातु में प्रत्यय जोड़ दिये जाते हैं। प्रत्ययों के संयोग से मूल शब्द या धातु में कोई विकार नहीं आता। यह संयोग अत्यन्त पारदर्शक होता है।

दो वचन (एकवचन और बहुवचन) और तीन लिंग (पुंल्लिग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग) हैं। लिंग निर्णय करना सरल है। पुरुषवाची शब्द पुंल्लिग, स्त्रीवाची स्त्रीलिंग और शेष नपुंसक लिंग के अन्तर्गत हैं। संज्ञाओं में लिंग-बोध कराने के लिए अन्यपुरुष सर्वनाम के स्त्रीलिंग या पुंल्लिग रूप का अन्तिम अंश भी जोड़ने की पद्धति है। क्रियारूपों में इसी पद्धति के अनुसार पुरुषवाची सर्वनाम का अन्तिम भाग जोड़-कर पुरुष का बोध कराया जाता है। क्रियाओं में कृदन्त रूपों का प्रयोग अधिक है।

द्राविड़ परिवार की सबसे मुख्य भाषा तमिल है जो वर्तमान तमिलनाडु और लंका के उत्तरी भाग में बोली जाती है। ईसा की सातवीं शताब्दी से इसका साहित्य मिलता है। तमिल भाषा के दो रूप हैं—शेन और कोडुन। शेन उच्च वर्ग की और कोडुन साधारण बोलचाल की भाषा है।

मलयालम भाषा वर्तमान केरल और लक्षद्वीप में बोली जाती है। यह तमिल की ही शाखा है जो उससे नवीं शताब्दी में अलग हो गयी। साहित्य की भाषा में संस्कृत शब्दों की प्रचुरता है। मलयालम में प्राचीनतम साहित्य तेरहवीं शताब्दी का मिलता है।

द्राविड़ परिवार की तीसरी मुख्य भाषा कन्नड़ है जो वर्तमान मैसूर प्रान्त में बोली जाती है। इसका प्राचीन साहित्य ईसा की पाँचवीं शताब्दी से अभिलेखों के रूप में मिलता है। द्राविड़ भाषाओं में यह सबसे प्राचीन भाषा है।

चौथी प्रमुख भाषा तेलुगु है जो वर्तमान आन्ध्र प्रदेश की भाषा है। प्राचीन साहित्य दसवीं शताब्दी तक का है। तेलुगु भाषी प्रदेश अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण भारतीय आर्य भाषाभाषी प्रदेशों के सर्वाधिक निकट है। उड़ीसा, मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र की सीमाएँ उसका स्पर्श करती हैं। इसलिए अन्य द्राविड़ भाषाओं की अपेक्षा उस पर भारतीय आर्य भाषाओं का प्रभाव अधिक है। भारतीय संविधान में जिन पन्द्रह भाषाओं को मान्यता मिली है उनमें ग्यारह भारतीय आर्य भाषाओं के साथ उपर्यक्त चार द्राविड़ भाषाएँ भी हैं।

द्राविड़ भाषाभाषियों की कुल संख्या १३ करोड़ है, जिसमें से ४ करोड़ व्यक्ति तमिल, २ करोड़ मलयालम, २ करोड़ कन्नड़, ४ करोड़ ५० लाख तेलुगु तथा लगभग ५० लाख व्यक्ति अन्य द्राविड़ भाषाएँ बोलते हैं।

परिशेष २

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में भारत का मौलिक प्रदेय

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में भारत का मौलिक प्रदेय तीन रूपों में है—१. क्रमागत प्राचीन भाषा-सामग्री की प्रचुर उपलब्धि। २. ऐतिहासिक पद्धति से भाषाओं का प्राचीनतम अध्ययन। ३. आधुनिक युग में संसार में ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान के अध्ययन की प्रेरणा और पुरस्करण।

१. भारतवर्ष में न केवल अत्यन्त प्राचीन भाषाएँ सुरक्षित हैं बल्कि भाषा-विकास का अविच्छिन्न क्रम भी सुरक्षित है। अधिक नहीं तो १५०० ई० पू० से लेकर आज तक यहाँ भाषा को उसके सम्पूर्ण गत्यात्मक स्वरूप में देखा जा सकता है। हिन्दू धर्म के कारण वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत, बौद्ध धर्म के कारण पालि और जैन धर्म के कारण अर्धमागधी प्राकृत विशेष रूप से संरक्षित हुईं। भाषाओं की संरक्षा में इतनी व्यापक और कालक्रमागत भूमिका सम्भवतः अन्य किसी देश के धर्मों की नहीं है। वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, पालि और अर्धमागधी प्राकृत ये चार भाषिक विकास-क्रम ही दो हजार वर्ष की अविच्छिन्न परम्परा हैं। प्राकृतों के उपरान्त लेखन सामग्री का अपेक्षाकृत अधिक प्रचार और साहित्यकारों के अपने नाम तथा कृतित्व के प्रति सचेतन हो जाने के कारण अपभ्रंश तथा आ० भा० आ० भाषाओं की सामग्री उनके साहित्यों के माध्यम से सहज ही सुरक्षित है। इस प्रकार उपर्युक्त परम्परा लगभग ३५०० वर्ष की परम्परा है। वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, आ० भा० आ० भाषाएँ—विकास के ये ६ अधिक प्रकट क्रम ही नहीं; इनके मध्यवर्ती क्रम भी उपलब्ध हैं। ऋग्वेद के पहले और दसवें मण्डल को छोड़कर शेष ८ मण्डलों की भाषा, पहले और दसवें मण्डल की भाषा, अन्य तीन वैदिक संहिताओं की भाषा, ब्राह्मणों, उपनिषदों और फिर सूत्रों की भाषा—एक ही वैदिक भाषा के ये विभिन्न क्रमविकास हैं। ये एकरूप नहीं हैं। इनमें स्पष्ट अन्तर विद्यमान हैं। लौकिक संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और आ० भा० आ० भाषाओं में भी इस प्रकार के मध्यवर्ती क्रम हैं। अभिलेखीय (अशोक) प्राकृत, अशोकोत्तर अभिलेखीय प्राकृत, साहित्यिक

प्राकृत--प्राकृत के ये तीन विकास-क्रम तो प्रायः अलग-अलग विवेचित भी होते हैं। अपभ्रंश के उपरान्त और आ० भा० आ० भाषाओं के पूर्व अवहट्ट भाषा भी विवेचन का विषय बनती है।

भाषा के ऐतिहासिक क्रमविकास की यह सुरक्षा केवल एक ही स्थान या भूगोल-खण्ड में सीमित नहीं है। कहीं-कहीं विभिन्न और विपरीत भौगोलिक खण्डों में भी इसे सुरक्षित रखा गया है। उदाहरण के लिए, अशोक के अभिलेख शिलालेखों, गुहालेखों, स्तम्भलेखों आदि के रूप में देश के विभिन्न भागों में उपलब्ध हुए हैं, जिनमें तीसरी शताब्दी ई० पू० की प्राकृत भाषा का विभिन्न क्षेत्रीय रूप द्रष्टव्य है। इनमें कम से कम तीन बोलियों—पश्चिमोत्तरी, दक्षिणपश्चिमी और पूर्वी का रूप है। पूर्वी बोली का कुछ और परवर्ती रूप सुतनूका नामक देवदासी के जोगीमारा स्थित गुफालेख में है। फिर संस्कृत नाटकों में प्राकृत के क्षेत्रीय भेद विभिन्न पात्रों की भाषा के रूप में सुलभ हैं। विभिन्न कालों में लिखे गये व्याकरणों में भी वैदिक संस्कृत से लेकर अब तक की प्रायः सभी भारतीय आर्य भाषाओं का स्वरूप उक्त भाषाओं के उदाहरणों के कारण सुरक्षित है। इस प्रकार ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के लिए भारतवर्ष अत्यन्त उपयोगी भाषा-सामग्री प्रस्तुत करता है। सम्भवतः सामग्री की इसी प्रचुर सुलभता को दृष्टि में रखकर ही मैक्समूलर ने संस्कृत भाषा के विशेष सन्दर्भ में भारत को भाषा के रत्नों से भरी खान कहा है।[1]

भाषाओं का जो रूप उपलब्ध है वह निश्चय ही कुछ महत्वपूर्ण अपवादों को छोड़कर उनका बोलचाल का रूप नहीं है। लेकिन यह अभाव तो संसार भर की सभी प्राचीन और मध्ययुगीन भाषाओं के उपलब्ध रूपों में है। भारतवर्ष में जन-भाषाओं के प्रति प्रबल आकर्षण के कारण अन्य प्रदेशों की तुलना में यह अभाव उतना नहीं है। महावीर, बुद्ध, अशोक और सिद्ध, नाथ सन्त आदि सम्प्रदायों के कवियों ने विभिन्न युगों में विभिन्न जनभाषाओं को ही अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। उल्लेखनीय है कि लोकभाषा को अंगीकार करने का जो कार्य यूरोप में लगभग आधुनिक युग के आरम्भ में सम्पन्न हुआ, उसे महावीर और बुद्ध ईसा की छठी सदी पूर्व ही सम्पन्न कर चुके थे। पतंजलि जैसे संस्कृत वैयाकरण ने शब्द-प्रयोग में लोक को ही प्रमाण माना है। महाभाष्य के वैयाकरण-सूत-संवाद में शब्द-प्रयोग को लेकर वैयाकरण को सूत के सामने मुँह की खानी पड़ी है। और लोक कहाँ है? पतंजलि उत्तर

१. भाषाविज्ञान पर भाषण, पृष्ठ १८८।

देते हैं—'अभ्यन्तरोऽहं लोके न त्वहं लोकः' (मैं लोक के भीतर हूँ, मैं ही लोक नहीं हूँ) । वररुचि ने पाँचवीं शताब्दी में प्राकृत भाषा का व्याकरण लिखा और हेमचन्द्र ने संस्कृत भाषा के व्याकरण के साथ जनभाषाओं का व्याकरण लिखने में गौरव का अनुभव किया । फिर भाषा के विकास-क्रम की यह सुदीर्घ अविच्छिन्न परम्परा बोल-चाल की भाषा का अंकन भले ही न हो, बोलचाल की भाषा पर आधारित अंकन तो है ही। यह न होता तो उसमें विकास-क्रम ही क्यों होते ? संसार भर में प्राचीन और मध्य-युगीन भाषाओं की स्थिति को देखते हुए भारतीय भाषाओं की इतनी संरक्षा भी ऐति-हासिक भाषाविज्ञान के अध्ययन के लिए कम उपलब्धि नहीं है ।

२. ऐतिहासिक अध्ययन के लिए किसी काल-खण्ड की एक भाषा के अतिरिक्त उसकी पूर्ववर्ती या परवर्ती भाषा भी अध्येता को सुलभ होनी चाहिए । काल विशेष की पूर्वापर सम्बन्ध से रहित भाषा वर्णनात्मक भाषाविज्ञान को तो जन्म दे सकती है, ऐतिहासिक भाषाविज्ञान को नहीं । भारतवर्ष में प्रा० भा० आ० काल के वैदिक भाषा-युग में जब भाषा के प्रति वैज्ञानिक चिन्तन का अंकुरण हुआ, तब भौगोलिक परिवेश के सर्वथा बदल जाने, पूर्ववर्ती भाषा के प्रति धार्मिक आग्रह के अभाव, ईरानवासी अपने बान्धवों से मनमुटाव तथा भारत के पूर्व निवासियों से बहुत समय तक होने वाली लड़ाइयों में पुरानी पीढ़ी की जनसंख्या में कमी के कारण सम्भवतः भारतीय आर्य पूर्व-वर्ती भाषा भारत-ईरानी को भूल चुके थे । लिपि के अभाव में उसे भूलना और भी सम्भव हुआ होगा । परवर्ती भाषा लौकिक संस्कृत का अभी विकास नहीं हुआ था । इस प्रकार तत्कालीन अध्येता के सम्मुख केवल एक ही भाषा थी—वैदिक भाषा। लौकिक भाषा के रूप में परवर्ती काल-खण्ड की भाषा के विकसित हो जाने पर भी कुछ समय तक स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया । क्योंकि वैदिक भाषा न केवल पुरानी और स्थापित भाषा थी बल्कि धार्मिक ग्रन्थों की भाषा भी थी । इसलिए उसका महत्व कम नहीं हुआ और लौकिक संस्कृत के काल में भी वह बहुत दिनों तक अध्ययन तथा व्याकरण का विषय बनी रही । इस स्थिति में भाषा का केवल वर्णनात्मक विवेचन ही सम्भव है । हुआ भी वही । ब्राह्मण ग्रन्थों और मुख्य रूप से ऐतरेय ब्राह्मण में धात्वर्थ तक पहुँचने की चेष्टा; पदपाठ में सन्धि और समास के आधार पर वाक्य के शब्दों को अलग करने का यत्न और सुराघात पर विचार; प्रातिशाख्यों में वेद की प्रति शाखा के मूल उच्चा-रण को अक्षुण्ण रखने की दृष्टि से ध्वनियों का वर्गीकरण, सुराघात, मात्रा आदि का अध्ययन तथा पदों का नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात में विभाजन; शिक्षाग्रन्थों

में ध्वनि का सैद्धान्तिक विवेचन; और निघण्टु में वैदिक शब्दों का संग्रह है। इस प्रकार केवल वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की आरम्भिक अभिव्यक्ति उपर्युक्त ग्रन्थों में देखने को मिलती है।

यास्क––उपर्युक्त सारा कार्य यास्क (८वीं शताब्दी ई० पू०) के पूर्व सम्पन्न हो चुका था। यास्क ने अपने ग्रन्थ निरुक्त में निघण्टु के प्रत्येक शब्द का व्युत्पत्ति और अर्थ की दृष्टि से विवेचन किया। यह संसार का प्राचीनतम अर्थविवेचन है। इसमें कुल १२९८ व्युत्पत्तियाँ हैं जिनमें लगभग २२४ अत्यन्त वैज्ञानिक कही जा सकती हैं। २२५ अस्पष्ट और ८४९ पुराने ढंग की हैं। व्युत्पत्ति खोजने का कार्य स्वभावतः ऐतिहासिक पद्धति से सम्बद्ध है। शब्द के प्रचलित अर्थ से उसके व्युत्पत्त्यर्थ तक पहुँचना इतिहास में यात्रा करना है।

पाणिनि (५वीं शताब्दी ई० पू० का मध्यभाग)––पाणिनि के समय तक लौकिक संस्कृत को महत्व और पर्याप्त विकास ही नहीं प्राप्त हो चुका था; वह साहित्य में वैदिक संस्कृत की स्थानापन्न भी बन चुकी थी। पाणिनि ने लौकिक संस्कृत का विस्तृत और अत्यन्त प्रामाणिक वर्णनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। उनके ग्रन्थ अष्टाध्यायी में आठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं और प्रत्येक पाद में विभिन्न संख्याओं में सूत्र दिये हुए हैं। सूत्रों की कुल संख्या ३९६५ है। वैदिक संस्कृत की तुलना में लौकिक संस्कृत में अनेक भिन्नताएँ थीं। लौकिक संस्कृत का वर्णन करते समय उसकी पूर्ववर्ती भाषा वैदिक संस्कृत की ओर पाणिनि का ध्यान चला जाना स्वाभाविक ही था। क्योंकि वैदिक संस्कृत लोगों की स्मृति में सुरक्षित थी और धार्मिक आयोजनों में उसका निरन्तर प्रयोग होता था। पाणिनि ने वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के अन्तरों को स्पष्टतः सूचित किया है और इस प्रक्रिया में उनका थोड़ा सा विवेचन तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के क्षेत्रों में चला आया है। इस प्रसंग की कुछ चर्चा हम प्रथम अध्याय में कर चुके हैं।

कात्यायन––पाणिनि के लगभग ३०० वर्ष उपरान्त लौकिक संस्कृत का और भी विकास हो गया। उसमें अनेक ऐसे परिवर्तन हो गये कि पाणिनि के सूत्रों से उन्हें समझना कठिन हो गया। इस स्थिति में कात्यायन ने अष्टाध्यायी के १५०० सूत्रों में परिवर्तन तथा संशोधन करके चार हजार वार्तिकों की रचना की। अनेक वार्तिक पाणिनि के कथन को स्पष्ट भर करते हैं। लेकिन अनेक वार्तिकों में भाषा के पाणिन्युत्तर विकसित रूप को स्पष्ट करने का यत्न भी है। कात्यायन का सम्बन्ध दक्षिणी

वैयाकरणों के ऐन्द्र सम्प्रदाय से था। सम्भवतः सम्प्रदायगत भिन्न दृष्टि के कारण या वैसे भी कुछ स्थलों पर वे पाणिनि के आशय को समझ नहीं सके। फलस्वरूप उनके वार्तिकों में कहीं-कहीं पाणिनि की अनधिकारपूर्ण आलोचना भी है।

पतंजलि—समय १५० ई० पू०। कात्यायन आदि पूर्ववर्ती वैयाकरणों ने पाणिनि की जो आलोचना की थी, पतंजलि ने अपने महाभाष्य में उसका उत्तर देते हुए पाणिनि का समर्थन किया। पाणिनि के अनेक सूत्रों की सम्यक् व्याख्या भी उन्होंने की। महाभाष्य भी अष्टाध्यायी की तरह आठ अध्यायों में और प्रत्येक अध्याय चार-चार पादों में विभक्त है। प्रत्येक पाद को कुछ आह्निकों में विभाजित किया गया है। आह्निकों की कुल संख्या ८५ है। पतंजलि के समय तक संस्कृत का बोलचाल से सम्पर्क टूट चुका था। इसलिए उनसे यह आशा करना कि उनके महाभाष्य में संस्कृत के गत्यात्मक स्वरूप का विवेचन होगा, व्यर्थ ही है। वैसे भी पतंजलि की रुचि भाषा के दार्शनिक विवेचन में अधिक है। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के विवेचन की दृष्टि से पतंजलि की अपेक्षा कात्यायन में अधिक सामग्री है।

संस्कृत व्याकरण के उक्त मुनित्रय के उपरान्त अन्य संस्कृत वैयाकरणों का सम्पूर्ण कार्य केवल सरलीकरण, लघु संस्करण, पिष्टपेषण और टीकाकरण का कार्य है। ऐतिहासिक विवेचन के क्षेत्र में उनके योग का तो प्रश्न ही क्या, वर्णनात्मक विवेचन के क्षेत्र में भी उनकी मौलिक भूमिका नितान्त नगण्य है।

पालि वैयाकरण—पालि भाषा के वैयाकरणों से यह आशा की जा सकती थी कि वे अपने विवेचनों में संस्कृत भाषा से पालि के विकास का सन्दर्भ भी ध्यान में रखेंगे। पर न तो कच्चायण (आठवीं या नवीं शताब्दी) ने और नामोग्गलान (१२वीं शताब्दी) ने ही उक्त सन्दर्भ को ध्यान में रखा है। सम्भवतः पालि को आदि भाषा मानने के धार्मिक विश्वास ने उन्हें संस्कृत से उसके विकास-सूत्र खोजने की सुविधा नहीं दी।

प्राकृत वैयाकरण—पालि वैयाकरणों के विपरीत प्राकृत वैयाकरणों ने ऐतिहासिक सन्दर्भ से अपनी प्रतिबद्धता घोषित करने के उपरान्त ही प्राकृत भाषाओं का विवेचन आरम्भ किया है। उदाहरण के लिए हेमचन्द्र, मार्कण्डेय आदि सभी प्राकृत वैयाकरणों ने प्राकृत को संस्कृत से विकसित भाषा मानते हुए ही उसका विवेचन किया है। हेमचन्द्र का कथन है 'प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृ-

तम्।'[1] (प्रकृति या मूल संस्कृत है और उससे उत्पन्न अथवा आयी हुई भाषा प्राकृत है)। वररुचि ने प्राकृत के उस पक्ष को तो स्पष्ट किया है जो संस्कृत से भिन्न है, लेकिन जो उससे भिन्न नहीं हो सका है उसके लिए 'शेषः संस्कृतात्'[2] (शेष नियम संस्कृत के ही हैं) कहकर संस्कृत तथा प्राकृत की भाषागत समानता और प्राकृत के संस्कृत से ही विकसित होने की ओर स्पष्ट संकेत कर दिया है। मार्कण्डेय भी 'प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं प्राकृतमुच्यते'[3] (मूल संस्कृत है उससे उत्पन्न भाषा प्राकृत कहलाती है) कहकर संस्कृत से प्राकृत के क्रमागत विकास को स्वीकार करते हुए प्राकृत का विवेचन आरम्भ करते हैं। यह ऐतिहासिक दृष्टि केवल संस्कृत-प्राकृत के सम्बन्ध-विवेचन के सन्दर्भ में ही नहीं, प्राकृत-भेदों के पारस्परिक सम्बन्ध-विवेचन के सन्दर्भ में भी द्रष्टव्य है। मागधी प्राकृत के विवेचन को आरम्भ करते हुए वररुचि कहते हैं—'प्रकृतिः शौरसेनी'[4] (मागधी का मूल शौरसेनी है)। हेमचन्द्र के मतानुसार नागर अपभ्रंश का आधार शौरसेनी प्राकृत है। प्राकृतों के विवेचन में भी जहाँ तक सम्भव हुआ है, इन वैयाकरणों ने भाषाओं के विभिन्न अवयवों-ध्वनि, रूप आदि की तुलना और कालक्रमिक विकास को स्पष्ट करने की चेष्टा की है।

प्राकृत वैयाकरणों की दो शाखाएँ हैं—प्राच्य और प्रतीच्य। प्राच्य शाखा के सबसे महत्वपूर्ण वैयाकरण प्राकृतप्रकाश के लेखक वररुचि (पाँचवीं शताब्दी) हैं। प्राकृतप्रकाश प्राकृत भाषाओं का सबसे प्राचीन व्याकरण है। उसके प्रथम ९ अध्यायों में महाराष्ट्री प्राकृत का और फिर १०वें, ११वें तथा १२वें अध्याय में क्रमशः पैशाची, मागधी और शौरसेनी प्राकृत का वर्णन है। शौरसेनी का वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त है। प्राकृतप्रकाश पर कात्यायन (७वीं शताब्दी) की प्राकृतमंजरी नामक प्राचीनतम उपलब्ध टीका है।

प्राच्य शाखा के दूसरे महत्वपूर्ण वैयाकरण उड़ीसा के मार्कण्डेय (१७वीं शताब्दी) हैं। मार्कण्डेय ने अपने व्याकरण ग्रन्थ प्राकृतसर्वस्व में १६ प्राकृतों का उल्लेख किया

१. हेम० ८–१–१ ।
२. प्राकृतप्रकाश ६–१८ ।
३. प्राकृतसर्वस्व १–१ ।
४. प्राकृतप्रकाश ११–२ ।

है।[1] लंकेश्वर की प्राकृतकामधेनु और वसंतराज की प्राकृतसंजीवनी प्राच्य शाखा की अन्य व्याकरण-कृतियाँ हैं।

प्रतीच्य शाखा के सबसे महत्वपूर्ण वैयाकरण जैन साधु हेमचन्द्र (१२वीं शताब्दी) हैं। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ सिद्धहेमचन्द्राभिध स्वोपज्ञ शब्दानुशासन में, जिसे संक्षेप में सिद्धहेमचन्द्र या सिद्धहेम शब्दानुशासन कहा जाता है, कुल ८ अध्याय और ३२ पाद हैं। सूत्रों की कुल संख्या ४५०० है। प्रथम ७ अध्यायों में संस्कृत का और अन्तिम अध्याय में प्राकृतों—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, आर्ष, पैशाची और चूलिका-पैशाची का वर्णन है। अपभ्रंश का वर्णन भी अन्तिम अध्याय में ही प्राकृतों के साथ किया गया है। अन्तिम अध्याय में लगभग ११०० सूत्र हैं। हेमचन्द्र ने स्वयं अपने ग्रन्थ पर 'शब्दानुशासन-बृहद्वृत्ति' नामक टीका भी लिखी। किसी अज्ञात लेखक की लिखी हुई अधूरी उपलब्ध 'बृहद्वृत्तिढुंण्ढि का' और देवेन्द्र सूरि की 'हेमलघुन्यास' नामक टीका सिद्ध हेमचन्द्र की अन्य प्रसिद्ध टीकाएँ हैं।

'प्राकृतव्याकरण' के लेखक त्रिविक्रम (१३वीं शताब्दी) और 'शब्दभाषाचन्द्रिका' के लेखक लक्ष्मीधर (१६वीं शताब्दी) प्रतीच्य शाखा के अन्य प्राकृत वैयाकरण हैं।

अपभ्रंश भाषाओं के सम्बन्ध में स्वतंत्र रूप से लिखा गया कोई प्राचीन व्याकरण नहीं है।

भारतवर्ष में यह सारा कार्य उस समय सम्पन्न हो चुका था जिस समय यूरोप में लोग हिब्रू भाषा को दुनिया की सब भाषाओं की जननी सिद्ध करने में लगे हुए थे।[2] संस्कृत, पालि, अर्धमागधी, प्राकृत आदि के सम्बन्ध में ऐसी मान्यताएँ

१. प्रधान भेद चार हैं—भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाच। फिर भाषा के पाँच भेद—महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, आवन्ती और मागधी; विभाषा के पाँच भेद—शाकारी, चाण्डाली, शाबरी, आभीरिका और टक्की; अपभ्रंश के तीन भेद—कैकेय, शौरसेन और पाञ्चाल माने गये हैं।

२. १७वीं शताब्दी के प्रसिद्ध फ्रेंच लेखक पादरी गिशार जैसे विद्वान् ने भी, जिसने यह अनुभव किया था कि रोमन या लैटिन शाखा की भाषाओं से ट्यूटॉनिक शाखा की भाषाओं में अन्तर है, हिब्रू और ग्रीक का सम्बन्ध निरूपण करते हुए लिखा—'हिब्रू दाहिने से बायें लिखी जाती है और ग्रीक बायें से दाहिने। यदि ग्रीक शब्द भी दाहिने से बायें पढ़े जायेंगे तो पता लग जायेगा कि ग्रीक हिब्रू भाषा है।'

भारतवर्ष में भी रही हैं। लेकिन वे धर्म के क्षेत्र में ही सीमित रहीं। व्याकरण, भाषाविज्ञान और यहाँ तक कि धर्म ने भी उन्हें सिद्ध करने का यत्न नहीं किया। ऐसा यत्न किया गया होता तो द्राविड़ भाषाओं को भी संस्कृत से उत्पन्न सिद्ध किया गया होता। जैन होते हुए भी हेमचन्द्र ने प्राकृत का मूल संस्कृत को माना, संस्कृत का मूल प्राकृत को नहीं। यूरोप में इस समय तक हिब्रू को सब भाषाओं की जननी मानने के विचार को न्यूटन् के समकालीन लाइबनित्स (१८वीं शताब्दी) से पहली चुनौती भी नहीं मिली थी, न जनभाषाओं की महत्ता स्वीकृत हुई थी और न रूस की सम्राज्ञी काथेरिना महान् (१७६२–१७९६ ई०) एक वर्ष तक एकान्तवास में रहकर दो सौ-तीन सौ मूल रूसी शब्दों की सूची का अन्य रूसी भाषाओं तथा बोलियों में अनुवाद कराने में प्रवृत्त हुई थीं। उनके शाहंशाही कोश (Imperial Dictionary) का पहला खण्ड १७८५ ई० में प्रकाशित हुआ।[1] ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में महत्तर कार्यों में तो अभी यूरोप में और भी विलम्ब था। जॉन टी० वाटरमैन ने लिखा है कि युद्ध और राजवंशों के अतिरिक्त अन्य बातों पर भी ऐतिहासिक धारणा लागू करने का कार्य १८वीं शताब्दी की समाप्ति तक भी वहाँ प्रशंसनीय नहीं बन सका।[2]

३. यूरोप और शेष संसार में ऐतिहासिक पद्धति से भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन संस्कृत तथा यूरोपीय भाषाओं के शब्दों में समानताओं की खोज के बाद आरम्भ हुआ। यूरोप में संस्कृत का प्रवेश तो सम्भवतः पहले हो चुका था, पर उक्त

१. शब्दों की अर्थगत समानताओं और भिन्नताओं से काथेरिना चमत्कृत हो उठी थीं। उन्होंने ९ मई १७८५ ई० को त्सिमरमान को भेजे गये पत्र में लिखा था––'यह भी मालूम हुआ है कि एक भाषा में जिस शब्द का अर्थ आकाश है, दूसरी भाषाओं में उसका अर्थ बादल, कुहरा आदि होता है; ईश्वर शब्द दूसरी भाषाओं में भला अर्थ भी रखता है (मिलाओ हमारा शिव—अनु०) और किसी किसी भाषा में इसका अर्थ सर्वोच्च और किसी में सूर्य या अग्नि हो जाता है।'

२. The Notion of History applied to things other than wars and dynasties—was not generally appreciated until the late eighteenth and early nineteenth Centuries.

—Perspectives in Linguistics, page 16.

समानताओं की खोज कुछ विलम्ब से हुई। इस खोज के लिए तीन आद्य प्रयत्न विशेष उल्लेखनीय हैं—

क. १७६७ ई० में फ्रांसीसी पादरी कोर्दो ने अपने एक लेख में संस्कृत, ग्रीक, लैटिन तथा फ्रेंच भाषाओं के कुछ शब्दों की तुलना करके उनकी समानता को दिखाने का यत्न किया। उक्त लेख को उन्होंने भारतवर्ष से फ्रेंच इंस्टीट्यूट को भेजा। लेकिन दुर्भाग्य से वह लेख सर विलियम जोन्स के भाषण के बाद प्रकाशित हुआ।

ख. १७७८ ई० में हाल्हेड नामक अंग्रेज ने, जो वारेन हेस्टिंग्स (१७७२–१७८४) के समय में भारतवर्ष में था, बंगाली भाषा का व्याकरण—Grammar of Bengali प्रकाशित किया। फारसी, अरबी, ग्रीक और लैटिन शब्दों से संस्कृत शब्दों की समानता लक्षित करते हुए उसने पुस्तक की भूमिका में लिखा—'इनमें केवल पारिभाषिक और आध्यात्मिक शब्दों में ही समानता नहीं है, क्योंकि ऐसे शब्द कभी-कभी सुललित कलाओं और सुसंस्कृत रीति-रिवाजों के आदान-प्रदान के कारण किसी भाषा में बाहर से भी आ सकते हैं, बल्कि मुख्य और बुनियादी शब्दों में भी समानता है; इनके एक-एक अक्षर से बने शब्दों में यह समानता पायी जाती है; इनकी संख्याओं के नाम एक-से हैं और उन पदार्थों के नाम भी एक-से हैं जिन्हें आदि मानव-समाज ने सभ्यता के जन्म लेते ही अपनी आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा होगा।'

ग. २ फरवरी १७८६ को सर विलियम जोन्स ने कलकत्ता में रॉयल एशियाटिक सोसायटी की नींव रखते समय ग्रीक, संस्कृत, लैटिन्, गॉथिक, केल्टिक और प्राचीन फारसी की शब्द और व्याकरणात्मक समानताओं की चर्चा करते हुए उनके किसी एक मूल भाषा से निकले होने की सम्भावना व्यक्त की।[1]

सर जोन्स की घोषणा से यूरोप में जो हलचल उत्पन्न हुई मैक्समूलर ने उसका सजीव चित्रण किया है—'यूरोप के विद्वान्, आश्चर्यचकित थे। ईसाई धर्म के बड़े-बड़े धुरंधर सिर हिलाने लगे, ग्रीक और लैटिन के विद्वान् यह विश्वास न कर सके कि ग्रीक और लैटिन का संस्कृत भाषा से कोई सम्बन्ध हो सकता है; दार्शनिक लोग अपने सामने उपस्थित किये गये तथ्यों से जो एकमात्र निदान निकलता था उससे बच निकलने के लिए ऊटपटाँग बातें करने लगे।'[2]

१. सर जोन्स के भाषण के लिए देखें अध्याय ६ ।
२. भाषाविज्ञान पर भाषण, पृष्ठ १८२ ।

१८०८ ई० में जर्मन कवि और प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी फ्रेडरिक श्लेगल ने भारतीयों की भाषा और उनकी बुद्धिमत्ता नामक विषय पर एक पुस्तक प्रकाशित की। इससे संस्कृत के प्रति यूरोप में भारी उत्साह उत्पन्न हुआ। यूरोप के अन्य विश्वविद्यालयों में संस्कृत के अध्यापन की पर्याप्त व्यवस्था न होने के कारण संस्कृत पढ़ने के उत्सुक व्यक्तियों को लंदन आना पड़ा। यह क्रम काफी समय तक चलता रहा। मैक्समूलर का कथन है कि भाषाविज्ञान के पिता बॉप, श्लेगल, लासन, रोजन, बुर्नूफ आदि ने संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कुछ न कुछ समय लन्दन में बिताया। इन लोगों ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा प्राप्त किये गये संस्कृत के कई हस्तलिखित उत्तम ग्रन्थों की 'ईस्ट इण्डिया हाउस' नामक भवन में प्रतिलिपि की। इस काम में इन्हें संस्कृत के आदि यूरोपीय विद्वान् विलकिन्स[1], कोलब्रुक, विलसन और पुरानी इण्डियन सिविल सर्विस के अन्य संस्कृत विशेषज्ञ विद्वानों से बहुत सहायता मिलती थी।[2] इस पृष्ठभूमि में फ्रान्त्स बॉप ने १८१६ ई० में धातुप्रक्रिया पर एक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें ग्रीक, लैटिन, ईरानी, जर्मन आदि के रूपों से संस्कृत के रूपों की तुलना की गयी है। इसके बाद अनेक अध्येताओं के ग्रन्थ प्रकाशित हुए और तुलनात्मक पद्धति से स्वभावतः ऐतिहासिक पद्धति विकसित हो गयी। क्योंकि तुलना अपने आप में कोई उद्देश्य नहीं है। पूर्ववर्ती भाषा के पुनर्निर्माण या भाषा के विकासक्रम को स्पष्ट करने के लिए प्रायः वह एक साधन भर है। संस्कृत के कारण भारोपीय परिवार के रूप में आयरलैण्ड से बंगाल तक एक व्यापक भौगोलिक पटल निर्मित हो सका। उसकी सहायता लेकर मूल भारोपीय भाषा का पुनर्निर्माण हुआ। मूल भारोपीय भाषा से विभिन्न भाषाओं के विकास को इतिहास के लम्बे अन्तराल में दिखाना सम्भव हुआ और भाषाओं के ऐतिहासिक विकास-क्रम के विवेचन में भाषा-परिवर्तन के सिद्धान्त, नियम तथा प्रक्रियाएँ स्वतः स्पष्ट होती गयीं।

१. विलकिन्स तब तक भगवद्गीता और हितोपदेश का अंग्रेजी अनुवाद कर चुके थे।

२. भाषाविज्ञान पर भाषण, पृष्ठ १८८।

परिशेष ३

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के आधुनिकयुगीन भारतीय अध्येता

इस परिशेष में आरम्भ में प्रमुख आरम्भिक अध्येताओं के सम्बन्ध में आवश्यक सूचनाएँ दी गयी हैं। तिथियों की भरमार को बचाने का यत्न किया गया है। लेकिन ऐतिहासिक कालक्रम को स्पष्ट करने के उद्देश्य से जहाँ आवश्यक हुआ है वहाँ उनका एकदम स्पष्ट उल्लेख भी है। यह भी यत्न किया गया है कि कोई ऐसी सामग्री न आने पाये जिसका ऐतिहासिक भाषाविज्ञान से कोई सीधा सम्बन्ध न हो। भूमिका, आडम्बर और भावोच्छ्वास को साधारणतः दूर ही रखा गया है। इसलिए इसमें बड़े से बड़े नाम के आगे भी छोटी से छोटी पंक्तियों में सामग्री मिले तो इसे अनुचित नहीं समझा जाना चाहिए।

पुस्तक के प्रथम अध्याय में ही हमने स्पष्ट किया है कि एफ० द सोस्युर (F. De Saussure) के ग्रन्थ Cours de Linguistique Generale के १९१६ ई० में प्रकाशन के पूर्व भाषा-अध्ययन की तीनों पद्धतियों (वर्णनात्मक, तुलनात्मक और ऐतिहासिक) की विभाजक रेखाएँ स्पष्ट नहीं थीं। इसलिए नीचे जो नाम गिनाये जा रहे हैं वे सब केवल ऐतिहासिक पद्धति से ही सम्बन्धित नहीं हैं। अन्य पद्धतियों से भी उनके सम्बन्ध, और घनिष्ठ सम्बन्ध हो सकते हैं। ऐतिहासिक भाषाविज्ञानी का वर्णनात्मक भाषाविज्ञानी भी होना सहज आवश्यक है। लेकिन वर्णनात्मक भाषाविज्ञानी का ऐतिहासिक भाषाविज्ञान होना आवश्यक नहीं है। इसलिए इसमें ऐसे बहुत से नाम छूटे हुए हैं जो भाषाविज्ञानी की पुस्तकों में आम तौर पर दिये हुए रहते हैं। कुछ नाम, जो वस्तुतः इसमें होने चाहिए थे, लेखक के अज्ञान, असावधानी और सूचनाओं के अभाव में भी छूट गये होंगे। यह सम्भावना वहाँ अधिक है जहाँ परवर्ती अध्येताओं के भाषा या भाषावर्ग के अनुसार केवल नाम दे दिये गये हैं। इसलिए यह एक अपूर्ण सूची ही है। जिन अध्येताओं का उल्लेख पूर्व-

वर्ती वर्ग में किया गया है, फिर उनके नाम की आवृत्ति भाषानुसार सूची में नहीं की गयी है।

१. **सर विलियम जोन्स** (१७४६–१७९६)—भारतवर्ष में ही नहीं सम्पूर्ण संसार में भी ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के अध्ययन का आधुनिक युग २ फरवरी सन् १७८६ ई० से आरम्भ होता है। इस दिन सर विलियम जोन्स ने रॉयल एशियाटिक सोसायटी की नींव रखते समय यह संकेत किया कि शब्द, धातु तथा व्याकरण की दृष्टि से संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, गॉथिक, कैल्टिक तथा पुरानी फारसी में पर्याप्त समानताएँ हैं और बहुत सम्भव है कि वे किसी एक मूल भाषा से निकली हों।[1]

सर जोन्स कलकत्ता उच्च न्यायालय में मुख्य न्यायाधीश थे।

२. **बिशप काल्डवेल** (१८१४–१८९१)—द्राविड़ भाषाओं के तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्येता: १८५६ ई० में इनका अद्वितीय ग्रन्थ Comparative Grammar of The Dravidian Languages (द्राविड़ भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण) प्रकाशित हुआ।

३. **जान बीम्स**—भारतीय सिविल सर्विस के अन्तर्गत १८५८ ई० में पहली बार भारत आये और १८९३ ई० में सेवा-मुक्ति तक मुख्यतः पंजाब तथा बंगाल में विभिन्न पदों पर कार्य किया।

१८६७ ई० में Outlines of Indian Philology (भारतीय भाषाविज्ञान की रूपरेखा) नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ में भारतीय भाषाओं का एक मानचित्र भी है जिसे इस सन्दर्भ का पहला मानचित्र कहा जा सकता है। ६ अध्यायों में विभक्त इस ग्रन्थ के पहले तथा दूसरे अध्याय क्रमशः भाषाओं के वर्गीकरण तथा उनके विस्तार से सम्बन्धित हैं। तीसरे अध्याय में भाषाओं की विकास-अवस्थाओं तथा चौथे में उनकी पारिवारिक विशेषताओं का वर्णन है। शेष दो अध्याय क्रमशः बोलियों और नयी भाषा के अध्ययन-प्रसंग में हैं।

बिशप काल्डवेल के ग्रन्थ से प्रेरित होकर बीम्स ने भारतीय आर्य भाषाओं का तुलनात्मक अव्ययन आरम्भ किया और उसे तीन खण्डों में क्रमशः १८७२, १८७५ तथा १८७९ में प्रकाशित किया।

भारतीय भाषाओं के काल्डवेल तथा बीम्स द्वारा किये गये अध्यनों की

1. सर जोन्स के भाषण का अंश भाषा-परिवार नामक अध्याय में उद्धृत है।

आधारशिला पर ही भारत में ग्रियर्सन का भाषा-सर्वेक्षण कार्य तथा अन्य अधिकांश भाषाविज्ञानियों के कार्य आरम्भ हुए।

बीम्स सच्चे अर्थ में ऐतिहासिक भाषाविज्ञानी थे। उन्होंने प्राकृत तथा अपभ्रंशों का महत्व स्वीकार किया। उनके बदलते रूपों का विश्लेषण किया और वह सब ज्ञान अर्जित किया जो ऐतिहासिक भाषाविज्ञानी के पास होना चाहिए। केवल भाषाएँ ही नहीं; साहित्य, पुरातत्व, नृविज्ञान, लोकसाहित्य आदि भी उनके अध्ययन के विषय थे। चन्द बरदायी तथा विद्यापति जैसे भाषा के संक्रान्ति युगीन कवियों पर उनका विशेष अध्ययन होना भाषा के गत्यात्मक स्वरूप के प्रति उनके आकर्षण का द्योतक है।

डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ने बीम्स को भारतीय भाषाविज्ञान का संस्थापक स्वीकार किया है।

४. **डी० ट्रम्प**—ट्रम्प का सिन्धी भाषा का प्रसिद्ध व्याकरण—Grammar of The Sindhi Language Compared with Sanskrit, Prakrit and The Cognate Indian Vernaculars १८७२ ई० में प्रकाशित हुआ।

५. **एच० एच० केलाग**—१८७६ ई० में हिन्दी व्याकरण का प्रकाशन हुआ। व्याकरण मुख्यतः खड़ी बोली का है, पर व्रज, अवधी, राजस्थानी आदि से तुलनात्मक सामग्री भी दी गयी है। अध्यायों के अन्त में दिया गया व्याकरण के मुख्य रूपों का इतिहास केलाग के व्याकरण की उल्लेखनीय विशेषता है।

६. **सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर**—१८७७ ई० में बम्बई विश्वविद्यालय में आर्य भाषाओं पर सात व्याख्यान दिये, जो Wilson Philological Lectures के नाम से १९१४ ई० में प्रकाशित हुए। इन भाषणों का प्रायः सम्पूर्ण सन्दर्भ ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का सन्दर्भ है। भाषा के विकास के सामान्य नियम; संस्कृत के विकास की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन; प्राचीन, मध्य और आधुनिक आर्यभाषाओं का क्रमागत सम्बन्ध आदि इन भाषणों के मुख्य विवेचन-विषय हैं।

७. **ए० रूडल्फ हार्नली**—पूर्वी हिन्दी पर इनका तुलनात्मक व्याकरण Grammar of Eastern Hindi, Compared with Other Gaudian Languages १८८० ई० में प्रकाशित हुआ। ग्रन्थ में मुख्य विवेचन भोजपुरी भाषा का है। लेकिन अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं से तुलना के कारण ग्रन्थ अपेक्षाकृत अधिक महत्व का बन गया है।

वस्तुतः बीम्स, ट्रम्प, केलाग और हार्नली के ग्रन्थ लगभग एक साथ ही प्रकाशित हुए और चारों ने ही भाषा-अध्ययन के ऐतिहासिक आयाम का स्पर्श किया।

उन्होंने संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं की सुदीर्घ परम्परा से हिन्दी की सम्बद्धताओं को स्पष्ट किया। इस स्पष्टीकरण में भाषा के गत्यात्मक स्वरूप का उद्घाटन होना स्वाभाविक ही था। हिन्दी भाषा के उद्‌भव और विकास के सभी परवर्ती अध्ययन हिन्दी के उपर्युक्त चार ऐतिहासिक भाषाविज्ञानियों के ऋणी हैं।

८. जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन—१८८३ ई० से १८८७ ई० तक बिहारी भाषाओं के सात व्याकरण प्रकाशित हुए। १८९४ ई० में ग्रियर्सन ने अपना प्रसिद्ध कार्य भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण आरम्भ किया, जो ३३ वर्ष के घोर परिश्रम के उपरान्त १९२७ ई० में पूरा हुआ। यह कार्य ११ बड़ी जिल्दों में प्रकाशित हुआ है। ग्रन्थ की भूमिका में भारतीय आर्यभाषाओं का विस्तृत और प्रामाणिक इतिहास दिया गया है।

९. रेल्फ लिले टर्नर—१९३१ में नेपाली कोश प्रकाशित हुआ। इसमें सभी नेपाली शब्दों की व्युत्पत्ति, प्रधान भारतीय आर्यभाषाओं के तुलनात्मक शब्द, कहीं-कहीं यूरोपीय भाषाओं के शब्द और मूल भारोपीय भाषा के लगभग २०० शब्द तुलनार्थ दिये हुए हैं। टर्नर ने सम्पूर्ण भारतीय आर्यभाषाओं के तुलनात्मक व्युत्पत्ति-कोश की रचना भी की है।

१०. ज्यूल ब्लाक—१९१९ ई० में मराठी भाषा के विकास पर ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। किसी आधुनिक भारतीय भाषा की संरचना और इतिहास का यह पहला वैज्ञानिक अध्ययन है। भारतीय आर्यभाषाओं पर भी इनका ग्रन्थ, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने जिसका मूल फ्रेंच से हिन्दी अनुवाद किया है, महत्वपूर्ण है। ज्यूल ब्लाक ने द्रविड़ तथा आर्यों के पूर्व पायी जाने वाली भारतीय भाषाओं का भी अध्ययन किया है।

भारतवर्ष में भाषाविज्ञान के क्षेत्र में कार्यरत अनेक अध्येता टर्नर तथा ज्यूल ब्लाक के ही शिष्य-प्रशिष्य हैं।

११. सुनीति कुमार चटर्जी—प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी बाबूराम सक्सेना सुनीति कुमार चटर्जी को वर्तमान भारतीय भाषाविज्ञानियों में सर्वप्रमुख मानते हैं।[1] बँगला भाषा की उत्पत्ति और विकास पर चटर्जी का ग्रन्थ Origin and Development of Bengali Language आज भी भारतीय आर्यभाषाओं के विश्वकोश के समान है। मूल ग्रन्थ में बंगाली का विवेचन होने पर भी उसकी भूमिका में सभी वर्तमान भारतीय आर्यभाषाओं पर प्रचुर प्रामाणिक सामग्री है। चटर्जी का कार्य भारोपीय भाषा, राजस्थानी, हिन्दी आदि पर भी है और भाषाविज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों को स्पष्ट करने में भी उनका योगदान है। भाषाविज्ञान

१. सामान्य भाषाविज्ञान, पृष्ठ २४१।

के साथ-साथ वे उन सब विषयों में भी पारंगत हैं जिनमें पारंगत होने की अपेक्षा ऐतिहासिक भाषाविज्ञानी से की जाती है।

भारत में ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के अध्ययन, विवेचन और विश्लेषण का मार्ग प्रशस्त करने में उपर्युक्त ऐतिहासिक भाषाविज्ञानियों के कष्टसाध्य परिश्रम की अविस्मरणीय भूमिका है। अत्यन्त परवर्ती अध्येताओं ने वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की नयी शोधों तथा पद्धतियों का उपयोग करके अपने विवेचनों को और भी वैज्ञानिक तथा आधुनिक बनाने का यत्न किया है। परवर्ती अध्येताओं की एक भाषानुसार सूची निम्नलिखित है—

१. **प्रा० भा० आ० भाषाएँ**—लक्ष्मणस्वरूप, वी० के० राजवाड़े, सिद्धेश्वर वर्मा, विश्वबन्धु शास्त्री, आर० एन० डाँडेकर, ई० डी० कुलकर्णी, सुकुमार सेन, कपिलदेव द्विवेदी, सूर्यकान्त शास्त्री, वटकृष्ण घोष, केशवराम पाल।

२. **म० भा० आ० भाषाएँ**—अलफर्ड सी० वूलनर, वैद्य, उपाध्ये, मनमोहन घोष, बापट, विधुशेखर भट्टाचार्य, गुणे, के० का० शास्त्री, दूरीसे ले, गाइगर, सुकुमार सेन, हीरालाल जैन, प्रबोधचन्द्र बागची, महृन्दे ले, पी० बी० पण्डित, बनारसीदास जैन, तगारे, शहीदुल्ला, हरिवल्लभ भायाणी, देवेन्द्र कुमार जैन।

३. **आ० भा० आ० भाषाएँ**—

क. **बंगाली**—मजूमदार, सुकुमार सेन, हेमन्त कुमार सरकार, विजन बिहारी भट्टाचार्य, ज्ञानेन्द्र मोहन दास।

ख. **उड़िया**—विनायक मिश्र, गोपाल प्रहराज।

ग. **असमी**—बालीकान्त काकाती।

घ. **सिन्धी**—भेरूमल महरचन्द।

ङ. **पंजाबी**—बनारसीदास, प्यारासिंह, प्रेमप्रकाश सिंह।

च. **मराठी**—एस० एम० कत्रे, के० पी० कुलकर्णी।

छ. **गुजराती**—नरसिंह राव भोलानाथ दिवेटिया, केशवराम काशीराम शास्त्री, भोगीलाल, साँडेसरा, भायाणी, बेचरदास जीवराज दोशी, पी० बी० पण्डित, कान्तिलाल ब० व्यास।

ज. **हिन्दी**—श्यामसुन्दर दास, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पद्मसिंह शर्मा, धीरेन्द्र वर्मा, कामताप्रसाद गुरु, विश्वनाथ प्रसाद, किशोरीदास वाजपेयी,

उदयनारायण तिवारी, जहाँगीरदार, चन्द्रबली पाण्डेय, रामचन्द्र वर्मा, हरदेव बाहरी, भोलानाथ तिवारी। (हिन्दी)

पद्मसिंह शर्मा, मसऊद हसन खाँ, चन्द्रबली पाण्डेय। (उर्दू)

गिलक्राइस्ट, सी० जे० लाल, मोइनुद्दीन कादरी, पद्मसिंह शर्मा। (हिन्दुस्तानी)

धीरेन्द्र वर्मा, हरिहर निवास द्विवेदी, किशोरीदास वाजपेयी, शिवप्रसाद सिंह, रामस्वरूप चतुर्वेदी, कैलासचन्द्र भाटिया, गेंदालाल शर्मा। (व्रज)

रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल, बंशीधर पंडा, एम० पी० जायसवाल। (बुन्देली)

बाबूराम सक्सेना, रामाज्ञा द्विवेदी। (अवधी)

विश्वनाथ प्रसाद, उदयनारायण तिवारी, वाचस्पति उपाध्याय। (भोजपुरी)

तेसीतोरी (राजस्थानी), हीरालाल काव्योपाध्याय, तैलंग, कान्तिकुमार (छत्तीसगढ़ी), जगदेव सिंह (बाँगरू), बाबूराम सक्सेना, श्रीराम शर्मा। (दक्खिनी)

झ. **अवेस्ता**—तारापुरवाला, पूनावाला, सुकुमार सेन।

ञ. **द्राविड़ी**—नरसिंह चार, रामकृष्ण, रामस्वामी ऐयर, अमृतराव, नीलकण्ठ शास्त्री, चन्द्रशेखर, पादरी हेरास, कृष्णमूर्ति।

परिशेष ४

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के आधुनिकयुगीन विश्व-अध्येता

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के प्राचीनयुगीन अध्ययन की तरह आधुनिकयुगीन अध्ययन भी भारत के अतिरिक्त मुख्यतः यूरोप में ही हुआ। यूरोप से यह परम्परा संयुक्त राज्य अमरीका गयी और वहाँ भी ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में कुछ उल्लेखनीय कार्य हुआ। अन्य देशों में आधुनिकयुगीन अध्येताओं के अध्ययनरत होते ही भाषाविज्ञान के सांकालिक अध्ययन और उसकी वर्णनात्मक (Descriptive) तथा संरचनात्मक (Structural) पद्धतियों की लहर जा पहुँची। फलस्वरूप वहाँ के अध्येता ऐतिहासिक अध्ययन से विमुख हो गये।

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के आधुनिकयुगीन अध्ययन का आरम्भ यूरोपीय विद्वानों द्वारा संस्कृत भाषा की खोज से होने के कारण प्रायः सभी आधुनिकयुगीन आरम्भिक अध्येता संस्कृत के विद्वान् थे। इस काल में ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के स्वरूप, सिद्धान्त, कार्यक्षेत्र, कार्यपद्धति आदि का निर्धारण हो रहा था। इसलिए स्वरूप-निर्धारण-अवस्था की अनेक अस्पष्टताएँ भी इन अध्येताओं के अध्ययनों में हैं। कुछ भ्रान्तियाँ संस्कृत भाषा के प्रति ताजी और तीव्र श्रद्धा-भावना के कारण भी हुई हैं। अधिकांश अध्येता मूलतः दर्शन, साहित्य, इतिहास, पुरातत्व आदि के क्षेत्रों से इस नये विज्ञान के क्षेत्र में आये थे। इसलिए कहीं-कहीं उनकी ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की चर्चाएँ भी उनके मूल क्षेत्रों के संस्कारों से मुक्त नहीं रह सकी हैं। उनके मूल क्षेत्रों का प्रभाव विषय के प्रस्तुतीकरण पर भी है। उनकी शैली कहीं अत्यधिक काव्यात्मक है और कहीं अत्यधिक दार्शनिक। और ये दोनों ही शैलियाँ किसी भी वैज्ञानिक विषय के प्रस्तुतीकरण के लिए उपयुक्त नहीं हैं।

आरम्भिक अध्येताओं ने केवल अतीत और वर्तमान का ही विवेचन नहीं किया, कहीं-कहीं भविष्यवाणियाँ भी कर दी हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐतिहासिक भाषाविज्ञान तो स्वभावतः भविष्य-चर्चा में नहीं पड़ सकता। अध्ययन की आरम्भिक

अवस्था के कारण कई स्थलों पर विवेचन तथ्यपरक न होकर कल्पनापरक हैं। भाषा की उत्पत्ति का अधिकांश विवेचन तो शुद्ध काल्पनिक तक कहा जा सकता है।

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के आरम्भिक विवेचनों में निश्चय ही उपर्युक्त दोष हैं। लेकिन इसके लिए केवल आरम्भिक अध्येता ही उत्तरदायी नहीं हैं। प्रत्येक अध्ययन-विवेचन का आरम्भिक युग इस प्रकार के कमोबेश दोषों से गुज़रता ही है। दूसरे, ऐतिहासिक अध्ययनों में खोयी हुई कड़ियों की पूर्ति प्रायः कल्पना और अनुमान से कर ली जाती है। धीरे-धीरे जब तथ्य प्रकट होने लगते हैं तो वे कल्पना और अनुमान का स्थान ग्रहण करते जाते हैं। शुद्ध इतिहास का अध्ययन भी आरम्भ में इस दौर से गुजरा है। तीसरे, भाषा की उत्पत्ति जैसे विषय का विवेचन तथ्यपरक हो ही नहीं सकता था। जिस विषय पर आज भी तथ्यों का अभाव है उसका विवेचन आरम्भिक अध्येताओं के द्वारा तथ्यपरक हो भी कैसे सकता था? इन अध्येताओं से बस यही भूल हुई कि ये भाषा की उत्पत्ति सम्बन्धी तथ्यों, अनुमानों और कल्पनाओं को प्रस्तुत करके ही नहीं रह गये, बल्कि इस अप्रामाणिक और अवैज्ञानिक सामग्री को आधार बनाकर निश्चित निष्कर्षों को भी निकाल बैठे। चौथे, जिस युग में इन अध्येताओं को कार्य करना पड़ा वह विज्ञान के आरम्भ का युग था। मध्ययुगीन जड़ताएँ और पूर्वाग्रह नष्ट हो रहे थे और वैज्ञानिक दृष्टि धीरे-धीरे विकसित हो रही थी। ऐसे में ऐतिहासिक भाषाविज्ञान जैसे नये और निश्चित विज्ञान (Exact Science) न होने वाले विज्ञान का आरम्भिक विवेचन परिपूर्ण रूप से वैज्ञानिक नहीं हो सका तो इसके लिए आरम्भिक अध्येताओं को अधिक दोष नहीं दिया जा सकता। वास्तव में इन्हीं आरम्भिक अध्ययनों से अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक अध्ययनों का जन्म हुआ। इनके महत्व को न्यून करना सम्भव नहीं है। नीचे ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के आधुनिक युगीन अध्येताओं के सम्बन्ध में आवश्यक सामग्री दी जा रही है—

१. **फ्रेडरिक वान श्लेगल्** (१७७२–१८२९)–जर्मन कवि और संस्कृत विद्वान्। इंग्लैंड और पेरिस में संस्कृत भाषा का अध्ययन किया। संस्कृत का आरम्भिक ज्ञान उन्होंने एलेक्जेंडर हैमिल्टन नामक एक युद्धबन्दी से प्राप्त किया था। १८०८ ई० में 'भारतीयों की भाषा और उनकी बुद्धिमत्ता' विषयक ग्रन्थ प्रकाशित किया। मैक्समूलर का कथन है कि इस ग्रन्थ से तुलनात्मक भाषाशास्त्र की जड़ जम गयी।[1] श्लेगल् ने ग्रीक, लैटिन, जर्मन तथा संस्कृत भाषा के अनेकानेक शब्दों में अर्थ और ध्वनिगत

१. भाषाविज्ञान पर भाषण, पृष्ठ १८८ ।

समानताओं के लिए संयोगेतर कारणों की खोज की। ध्वनिपरिवर्तन और ध्वनि-नियमों के आरम्भिक संकेत भी उनके तुलनात्मक विवचनों में विद्यमान हैं।

श्लेगल् ने ही संसार की भाषाओं का सर्वप्रथम वर्गीकरण प्रस्तुत किया। उन्होंने दो वर्ग बनाये—(अ) संस्कृत तथा सगोत्रीय भाषाएँ, (आ) अन्य भाषाएँ। उनका अ वर्ग आज के श्लिष्ट तथा आ वर्ग आज के अश्लिष्ट वर्ग से मिलता जुलता है। उन्होंने चीनी भाषा को आ वर्ग के अन्त में स्थान देते हुए भी स्वीकार किया कि वह अन्य भाषाओं से भिन्न है।

भाषा की उत्पत्ति के लिए उन्होंने किसी एक ही आधार पर बल देने के स्थान पर एकाधिक आधारों पर बल दिया।

२. **अडोल्फ डब्लू० श्लेगल्** (१७६७–१८४५)—फ्रेडरिक वान श्लेगल् के बड़े भाई। संस्कृत के विद्वान्, उसके ग्रन्थों के जर्मन में अनुवादक और जर्मन कवि। फ्रेडरिक द्वारा किये गये भाषाओं के वर्गीकरण को स्पष्ट किया। उनके प्रथम वर्ग को दो उपवर्गों (संयोगात्मक और वियोगात्मक) में विभाजित किया और दोनों के अन्तरों को अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से समझाया।

३. **विल्हेल्म फॉन हम्बोल्द्त** (१७६७–१८३५)—जर्मनी के प्रसिद्ध शासन-कर्ता अलेक्जेंडर फॉन हम्बोल्द्त के भाई। भाषा के दार्शनिक पक्ष पर विशेष विचार किया। भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न पर विचार करना निरर्थक बताया। लेकिन इसका कारण एक दार्शनिक की ही मुद्रा में निरूपित करते हुए कहा—किसी का भी आदि-अन्त जानना असम्भव है। इसलिए भाषा की उत्पत्ति को कैसे जाना जा सकता है?

हम्बोल्द्त ने भाषा-अध्ययन के क्षेत्र में ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टिकोण का विकास किया। भाषा को एक अबाध कर्म मानते हुए उसके ऐतिहासिक अध्ययन की आवश्यकता पर भी उन्होंने बल दिया।

संसार की भाषाओं को श्लिष्ट, अश्लिष्ट और प्रश्लिष्ट इन वर्गों में वर्गीकृत किया। चीनी भाषा को इन वर्गों से भिन्न माना।

जावा की कवि-भाषा पर एक बृहत् शोध-ग्रन्थ भी हम्बोल्द्त ने लिखा जिसका प्रकाशन उनके देहान्त के बाद १८३६ ई० में हुआ।

४. **रैज्मस रैस्क** (१७८७–१८३२)—डैनिश भाषाविज्ञानी। बाल्यकाल से ही व्याकरण से प्रेम। १८११ ई० में आइसलैण्ड की भाषा प्राचीन नॉर्स पर व्याकरण ग्रन्थ प्रकाशित किया। फिनो–उग्रिअन परिवार की भाषाओं का वर्गीकरण, अवेस्ता

को आर्य परिवार में उचित स्थान दिलाना, द्राविड़ भाषाओं की संस्कृत से पूर्णतया भिन्न सत्ता सिद्ध करना, कीलाक्षरीय लेखों के दो अस्पष्ट वर्णों को पढ़ने में सफल होना और अनेक भाषाओं के व्याकरणों की रचना रैस्क के अन्य महत्वपूर्ण कार्य हैं। रैस्क ने अनेक देशों का भ्रमण किया था। वे भारत भी आये थे।

रैस्क ने शब्दावली की तुलना में रूपरचना को भाषा का अधिक स्थिर तत्व माना और भाषाओं के अध्ययन के लिए उसके महत्व का प्रतिपादन किया।

५. याकोव् ग्रिम (१७८५–१८६३)—कानून के अध्ययन से भाषा-अध्ययन के क्षेत्र में आये। सर्वप्रथम ग्रिम ने ही बोलचाल की छोटी से छोटी भाषा को भी महत्व देने का भाषाशास्त्रीय संस्कार निर्मित किया। उन्होंने सिद्ध किया कि केवल मृत शास्त्रीय भाषा का अध्ययन ही नहीं; जीवित लोक भाषा का अध्ययन भी महत्वपूर्ण है। उन्होंने लोक संस्कृति-सम्बन्धी बहुत सी सामग्री को संकलित और प्रकाशित किया।

ग्रिम रैस्क से प्रभावित थे। उन्होंने रैस्क की बहुत प्रशंसा भी की है। रैस्क के आइसलैण्डिक व्याकरण की भाँति ग्रिम ने ट्यूटॉनिक भाषा का व्याकरण लिखा, जिसका पहला भाग १८१९ ई० में प्रकाशित हुआ। इसका प्रकाशन वर्षों चलता रहा और अन्तिम भाग १८३७ ई० में प्रकाश में आया। ग्रिम का यह ग्रन्थ ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में एक अद्‌भुत कार्य है। इसमें सम्पूर्ण दृष्टिकोण ऐतिहासिक है। इसी की पहली जिल्द के दूसरे संस्करण में उन्होंने १८२२ ई० में जर्मन भाषाओं के दो ध्वनिपरिवर्तनों का विवेचन किया।[1] इस विवेचन से भारोपीय परिवार की भाषाओं में विद्यमान अनेक ध्वनिभिन्नताओं का समाधान हो सका। इन ध्वनिपरिवर्तनों का संकेत रैस्क ने भी किया था। लेकिन उन्होंने केवल संकेत ही किया था। ग्रिम के द्वारा विवेचित ध्वनिपरिवर्तनों का नाम भी उन्हीं के नाम पर ग्रिम नियम पड़ गया। ग्रिम के गढ़े हुए umlaut, ablaut आदि कई पारिभाषिक शब्द आज भी ध्वनि-परिवर्तन के विवेचन में प्रयुक्त होते हैं।

ग्रिम ने ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग केवल ध्वनि के क्षेत्र में ही नहीं वाक्य-रचना के क्षेत्र में भी किया। उनके ग्रन्थ के चौथे भाग में वाक्य-रचना सम्बन्धी महत्वपूर्ण प्रकरण है।

६. फ्रान्त्स बॉप (१७९१–१८६७)—पेरिस में रहकर संस्कृत भाषा का अध्ययन किया। धातु प्रक्रिया से सम्बन्धित उनके ग्रन्थ का प्रकाशन १८१६ ई० में हुआ। इसमें

१. देखें अध्याय ५।

ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता, जर्मन तथा संस्कृत के रूपों को तुलनात्मक ढंग से दिया गया है। संस्कृत, अवेस्ता, आर्मीनियन, ग्रीक, लैटिन, लिथुआनियन, प्राचीन स्लावियन, गॉथी तथा जर्मन भाषा पर उनके तुलनात्मक व्याकरण का प्रकाशन १८३३ और उसके उपरान्त हुआ। तुलनात्मक व्याकरण पर यह पहली पुस्तक है। इसे पर्याप्त यश मिला। बॉप को तुलनात्मक भाषाविज्ञान का पिता कहा जाता है। व्याकरण के रूपों की उत्पत्ति का उनका विवेचन ऐतिहासिक पद्धति पर है। वस्तुतः बॉप की प्रधान रुचि रूपविज्ञान में ही थी। इस प्रकार मुख्यतः ध्वनिपरिवर्तन की ओर ध्यान देने वाले रैस्क तथा ग्रिम से उनकी दृष्टि को भिन्न कहा जा सकता है। प्रत्ययों के इतिहास को खोजते हुए बॉप इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रत्यय आरम्भ में स्वतंत्र शब्द थे। उनके पूर्व हार्नीटुके और हम्बोल्द्त भी यही विश्वास प्रकट कर चुके थे।

श्लेगल् के दो भाषावर्गों की आलोचना करते हुए बॉप ने संसार की भाषाओं को तीन वर्गों में वर्गीकृत किया—(अ) चीनी आदि बिना व्याकरण की भाषाएँ, (आ) भारोपीय आदि एकाक्षरीय धातु की भाषाएँ तथा (इ) दो अक्षरीय धातु की सामी भाषाएँ।

बॉप के अध्ययन की परिधि अत्यन्त व्यापक होने के कारण उसमें गहराई का अभाव है। येस्परसन ने उचित ही लिखा है कि गम्भीर पाठक के लिए बॉप में आलोचना के योग्य बहुत सी बातें मिल जाती हैं।

रैस्क, ग्रिम और बॉप उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्ध के प्रमुख ऐतिहासिक भाषाविज्ञानी हैं। धातुप्रक्रिया के सम्बन्ध में उनके ग्रन्थ भी प्रायः एक ही साथ प्रकाशित हुए। फिर भी कालक्रम की दृष्टि से बॉप के ग्रन्थ का प्रकाशन पहले—१८१६ में हुआ। उसके बाद १८१८ में रैस्क और फिर १८१९ में ग्रिम का ग्रन्थ प्रकाश में आया।

उपर्युक्त भाषाविज्ञानियों के प्रयत्नों से न केवल पर्याप्त भाषावैज्ञानिक सामग्री संकलित हुई बल्कि उसका विवेचन-विश्लेषण भी आरम्भ हुआ। फलस्वरूप भाषाविज्ञान एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में अस्तित्व में आने लगा और अधिक उत्साही भाषाविज्ञानी उसे भौतिकी तथा रसायनशास्त्र जैसे निर्दिष्ट विज्ञानों के समकक्ष सिद्ध करने का सपना देखने लगे।

७. आगस्ट एफ० पॉट (१८०२–१८८०)—बॉप के व्याकरण का संस्कार

करने, तुलनात्मक ध्वनियों की तालिका (Table) बनाने और व्युत्पत्तिशास्त्र पर एक वैज्ञानिक ग्रन्थ-लेखन के लिए प्रसिद्ध ।

८. **के० एम० रैप**—ग्रिम के समकालीन और रैस्क के शिष्य थे। ध्वनिशास्त्र पर इनके ग्रन्थ का चार भागों में क्रमशः १८३६, ३९, ४० और ४१ में प्रकाशन हुआ। रैप ने जीवित भाषाओं के महत्व का प्रतिपादन किया और उनके अध्ययन को महत्व न देने के लिए ग्रिम की आलोचना भी की। रैप की एक अन्य उल्लेखनीय देन यह मान्यता है कि लिपि को ध्वनि से सम्बन्धित होना चाहिए। इसके लिए उन्होंने ध्वन्यात्मक अनुलेखन (Phonetic Transcription) की पद्धति का सहारा लिया।

९. **जे० एच० ब्रेड्स्डार्फ**—डेनमार्क के भाषाविज्ञानी ब्रेड्रडार्फ मुख्यतः ध्वनिविज्ञान के विशेषज्ञ थे। लेकिन ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के सैद्धान्तिक पक्ष पर भी उन्होंने कार्य किया। १८२१ ई० में प्रकाशित अपने ग्रन्थ में उन्होंने भाषा के विकास के कारणों का विवेचन किया। यह उल्लेखनीय है कि ग्रिम तथा बॉप जैसे भाषाविज्ञानियों ने भी इस ओर ध्यान नहीं दिया। ब्रेड्स्डार्फ ने ध्वनिपरिवर्तन के प्रधान रूप से ये कारण बताये हैं—१. अशुद्ध श्रवण, २. अशुद्ध स्मरण, ३. उच्चारण-अवयवों की अपूर्णता, ४. आलस्य, ५. सादृश्य, ६. स्पष्ट होने का प्रयास, ७. नये विचारों को अभिव्यंजित करने की आवश्यकता, ८. विदेशी प्रभाव। इन कारणों को गिना देने के बाद भी ब्रेड्स्डार्फ ने स्वीकार किया है कि ध्वनिपरिवर्तन के लिए केवल यही कारण उत्तरदायी नहीं हैं, और भी कारणों से परिवर्तन हो सकते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि ब्रेड्स्फार्ड द्वारा गिनाये गये अधिकांश कारण आज भी मान्य हैं।

१०. **आगुस्ट श्लाइखर** (१८२१–१८६८)—संस्कृत भाषा के प्रभावों से मुक्त होने वाले प्रथम भाषाविज्ञानी श्लाइखर ही हैं। वे अनेक भाषाओं के ज्ञाता और अध्येता थे। लेकिन स्लावॉनिक तथा लिथुआनियन में उन्हें विशेषज्ञता प्राप्त थी। लिथुआनियन किसानों से उन्होंने लोकगीतों तथा लोककथाओं के नोट्स लिये थे। लोकगीतों पर उन्होंने पुस्तकें भी लिखीं। इस प्रकार वे मृत और जीवित दोनों ही भाषाओं को समान महत्व देते थे।

भाषाविज्ञान के अतिरिक्त दर्शन, भौतिकी और वनस्पतिशास्त्र में भी श्लाइखर की रुचि थी। हीगेल के दर्शन ने उन्हें विशेष प्रभावित किया था। उनके त्रयवाद (Trilogics) के आधार पर श्लाइखर ने भी भाषाओं के तीन वर्ग बनाये थे—(अ) अयोगात्मक, (आ) अश्लिष्ट योगात्मक, (इ) श्लिष्ट योगात्मक।

डार्विन की भाँति श्लाइखर भी भाषा को भौतिक वस्तु मानते थे।

श्लाइखर ने बॉप के कार्य को आगे बढ़ाया और अपने पूर्ववर्ती समस्त भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन को व्यवस्थित रूप प्रदान किया। उनकी विशेष देन मूल भारोपीय भाषा का पुनर्निर्माण है।

११. गेओर्ग कुर्टिउस तथा अन्य—कुर्टिउस श्लाइखर के समकालीन थे। ग्रीक क्रिया और ग्रीक शब्दों की व्युत्पत्ति पर उनका विशेष कार्य है। नवयुग के भाषाविज्ञानी ध्वनिनियमों को निरपवाद और प्राचीन भाषाओं की पदरचना में भी सादृश्य का प्रभाव मानते थे। यह मत कुर्टिउस के मत के विरुद्ध था। इसलिए कुर्टिउस को नवीन युग की आलोचना सहन करनी पड़ी। श्लाइखर की मृत्यु हो जाने के कारण उन्हें अकेले ही सारी आलोचनाओं का उत्तर देना पड़ा।

निकोलई मैडविग ग्रीक और लैटिन के विद्वान् थे। उन्होंने भाषाविज्ञान के सैद्धान्तिक पक्ष पर भी कार्य किया और अपने विवेचनों को रहस्यवादी पद्धति के स्थान पर तर्कवादी पद्धति पर आधारित किया। अपने लेखन के लिए केवल डैनिश भाषा को ही माध्यम बनाने के कारण उन्हें अपेक्षित प्रसिद्धि नहीं प्राप्त हो सकी।

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अलग-अलग भाषाओं का भी ऐतिहासिक अध्ययन आरम्भ हुआ। कुर्टिउस ने, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है, ग्रीक; वेस्टर्गार्ड और बेनफी ने संस्कृत; श्लाइखर (उल्लेख ऊपर हो चुका है) और मिक्लोसिख ने स्लावॉनिक और जेउस ने कैल्टिक पर विशेष कार्य किया।

मैक्समूलर (१८२३–१९००) ने भाषाविज्ञान की उपलब्धियों को सरल और मनोरंजक शैली में प्रस्तुत करके प्रचारित करने, संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का 'पूर्व की पवित्र पुस्तकें' ग्रन्थमाला के अन्तर्गत अनुवाद करने और नागरी लिपि की वैज्ञानिकता की ओर संकेत करने का मख्य कार्य किया। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में मैक्समूलर का उल्लेखनीय कार्य अर्थविज्ञान का विवेचन है। १८६१ ई० में लन्दन के रायल इन्स्टीट्यूट में विद्वानों तथा छात्रों के समक्ष दिये गये उनके भाषणों में, जो पुस्तकाकार प्रकाशित हुए, भाषाविशान के अनेक पक्षों का स्पर्श—केवल स्पर्श किया गया है। प्रचारक का उथलापन उनमें है।

यूरोप में भाषाविज्ञान के प्रचार का जो कार्य मैक्समूलर ने किया, वही कार्य विलियम ड्वाइट ह्विटनी (१८२७–१८९४) ने अमरीका में किया। भाषा और भाषा का अध्ययन (१८६७), भाषा का जीवन और विकास (१८७५), संस्कृत भाषा का

व्याकरण (१८७९) विषयक इनके तीन महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। मैक्समूलर की अपेक्षा इनके कार्य में गम्भीरता की मात्रा अधिक है। यों ये दोनों ही विद्वान् जिन बातों को शाश्वत समझकर प्रचारित करते रहे उनमें से आज अधिकांश अमान्य हो गयीं हैं।

१९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में (लगभग १८८० ई० से) मुख्यतः ध्वनि-नियमों को लेकर भाषाविज्ञानियों का पारस्परिक विवाद पर्याप्त उभर आया। पुरानी पीढ़ी के भाषाविज्ञानी ध्वनिनियमों को सापवाद मानते थे। इसके विपरीत नयी पीढ़ी के भाषाविज्ञानियों ने उन्हें निरपवाद माना और अत्यन्त परिश्रम करके ग्रिम नियम जैसे प्रसिद्ध नियम के अपवादों का समाधान किया। नयी पीढ़ी के इन भाषाविज्ञानियों को नव्य शाखा कहा गया। हेमैनस्टाइन्थाल (१८२५–१८९९) नव्य शाखा के अग्रणी कहे जाते हैं। उनके अतिरिक्त कार्ल ब्रुगमन्, हर्मन आस्टोफ, डेलब्रुक, ग्रैसमैन, वर्नर, आस्कोली, येस्पर्सन, हेनरी स्वीट आदि इसी शाखा के भाषाविज्ञानी हैं। प्राचीन भाषा-विज्ञानियों से नव्य शाखा के केवल ध्वनिक्षेत्रीय ही नहीं कुछ अन्य मतभेद भी हैं। उदाहरण के लिए, भाषा सीखने के लिए पुराने भाषाविज्ञानी व्याकरण पर विशेष बल देते थे। नव्य शाखा ने सिद्ध किया कि भाषा व्याकरण से नहीं संसर्ग से सीखी जाती है।

नव्य शाखा ने भाषा के विकास में सादृश्य की अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण भूमिका को भी स्वीकार किया। इसके आधार पर उसने शब्द रूपों के अनेक तथा-कथित अपवादों का समाधान प्रस्तुत किया। उसने सिद्ध किया कि जो अपवाद दिखाई दे रहे हैं वे वस्तुतः किन्हीं लुप्त रूपों के सादृश्य पर ही विकसित हुए हैं।

नव्य शाखा के भाषाविज्ञानियों ने भाषा को अन्तरंग और बहिरंग इन दो अंगों में विभाजित किया। अर्थ को भाषा का अन्तरंग और ध्वनि को उसका बहिरंग कहा गया। इससे एक लाभ यह हुआ कि अर्थविज्ञान की ओर समुचित ध्यान दिया जा सका। १८८२ ई० में अर्थविज्ञान पर ब्रेआल का महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। अर्थ के विवेचन में मनोविज्ञान का पर्याप्त सहारा लिया गया और इस प्रकार भाषावैज्ञानिक अध्ययनों में उसकी उपयोगिता स्वीकृत हुई। स्वयं हेमैनस्टाइन्थाल ने अपने अनेक ग्रन्थों में भाषा-अध्ययन के लिए मनोविज्ञान की महत्ता पर प्रकाश डाला।

नव्य शाखा ने भाषा के बोले जाने वाले रूप को महत्व दिया और प्राचीन भाषाओं के अध्ययनों में भी उनके बोले जाने वाले रूप तक पहुँचने का यत्न किया गया। इसे ही अंग्रेजी मुहावरे में Superiority of ear philology over eye philology

कहा गया। अंग्रेज भाषाविज्ञानी हेनरी स्वीट ने बोलचाल की भाषा का विशेष अध्ययन किया। वास्तव में नव्य शाखा की इस मान्यता से कि भाषा व्याकरण से नहीं संसर्ग से सीखी जाती है, भाषा के उच्चरित रूप को महत्व मिलना स्वाभाविक ही था।

नव्य शाखा ने भाषा की उत्पत्ति और वर्गीकरण के विवेचनों को बहुत सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा। १८६६ ई० में पेरिस में स्थापित भाषाविज्ञान परिषद् के संस्थापक नियम बनाकर परिषद् में भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न पर विचार करना निषिद्ध घोषित कर ही चुके थे। भाषाओं के वर्गीकरण का विरोध इस आधार पर किया गया कि बोलियों के मिश्रण के कारण सही वर्गीकरण तक पहुँचना कठिन है। वस्तुतः ये विरोध प्राचीन विवेचनों की अतिवादिता के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए। आवेश कम हो जाने पर विरोध की प्रबलता भी कम हो गयी। आस्कोली ने स्वयं १८७० ई० में मूल भारोपीय भाषा को केंतुम् तथा सतम् में वर्गीकृत करने के आधार की खोज की और आगे चलकर इन्हीं नामों से ब्रैड द्वारा दो वर्ग बनाये गये।

नव्य शाखा के भाषाविज्ञानियों ने अर्थविज्ञान पर ही नहीं; वाक्यविज्ञान पर भी कार्य आरम्भ किया। हर्मन ब्रुग्रमन और डेलब्रुक का नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। पाउल ने सामान्य भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों पर और ब्रग्रमन ने भारोपीय परिवार की भाषाओं की रूपरचना पर अपने ग्रन्थ प्रकाशित किये ।

आधुनिक युग में भाषाओं का अध्ययन तुलनात्मक पद्धति पर आरम्भ हुआ। लेकिन तुलना अपने आप में कोई उद्देश्य नहीं है, इसलिए उसकी स्वाभाविक परिणति ऐतिहासिक अध्ययन में हो गयी। १९वीं शताब्दी ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का स्वर्ण-युग है। धीरे धीरे नव्य शाखा के भाषाविज्ञानियों का प्रभाव शिथिल होने लगा। जीवित भाषाओं के प्रति बढ़ते हुए आकर्षण ने स्वभावतः सांकालिक (Synchronic) भाषाविज्ञान और वर्णनात्मक (Descriptive) पद्धति का मार्ग प्रशस्त किया। १९२० ई० तक उपर्युक्त नव्य शाखा प्रायः निष्क्रिय हो गयी और १९३० तक आते-आते सांकालिक वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की प्रतिष्ठा होने लगी। १९२८ ई० में हेग में हुई प्रथम अन्तरराष्ट्रीय परिषद् ने भाषा के वर्णनात्मक अध्ययन की आवश्यकता का स्पष्ट शब्दों में सामूहिक रूप से प्रतिपादन किया। जिन भाषाविज्ञानियों ने आधुनिक युग में वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की नींव रखी, उनमें एफ्० द सोस्युर (१८५७–१९१३), फ्रांज बोआस (१८५८–१९४२), एडवर्ड सपीर (१८८४–१९३९) और लिओनर्ड ब्लूमफील्ड (१८८७–१९४८) प्रमुख हैं। लेकिन वास्तव में

इन चारों भाषाविज्ञानियों की पृष्टभूमि ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की है। यह बात इनमें से सबसे अधिक परवर्ती और सबसे अधिक प्रसिद्ध वर्णनात्मक भाषाविज्ञानी ब्लूमफील्ड के सम्बन्ध में भी सोलहों आने सच है। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के प्रति ब्लूमफील्ड की भावना एक इसी बात से प्रकट है कि उन्होंने भाषाविज्ञान की १९२२ ई० की अमरीकी पत्रिका में ग्रिम की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए परवर्ती अध्ययनों पर ग्रिम के ऋण को स्वीकार किया है।[१] इससे यह भी सिद्ध होता है कि ऐतिहासिक और वर्णनात्मक अध्ययनों में ब्लूमफील्ड तक उतना अलगाव नहीं है जितना परवर्ती काल में देखने को मिलता है। वाटरमैन के इस कथन में सचाई है कि याकोब् ग्रिम से लेकर नव्य शाखा के भाषाविज्ञानियों और ब्लूमफील्ड तक एक सीधी अटूट रेखा है।[२]

१. It was Grimm's merit ..... that by the strength of a method, he conquered for science a body of facts so vast that the generations since have worked well within the bounds he reached and scarcely ever gone beyond. — Page 373.

२. The line from Jocob Grimm to the neogram marians and to Bloomfield is direct and unbroken.

— Perspectives in Linguistics. Page 88.

परिशेष ५

भाषाविज्ञान : प्रमुख ग्रन्थों की अपूर्ण सूची

अंग्रेजी ग्रन्थ

1. An Introduction to Descriptive Linguistics — H.A. Gleason 1955,1960, Holt Rinehart and Winston, New York.
2. A Dictionary of Linginstics — Mario Pei and Frank Gaynor, 1954, Philosophical Library, New York.
3. An Introduction to Linguistic Science — E.H. Sturtevant, 1960, New Haven : Yale University Press.
4. A Dictionary of Selected Synonyms In the Principal Indo-European Lauguages — Carl Darling Buck, 1949, The University of Chicago Press.
5. Study in Language and Meaning — Bishnupad Bhattacharya 1962, Progressive Publishers, Calcutta.
6. A Course in Modern Linguistics — Charles F. Hockett, 1960, The Macmillan Company, New York.
7. An Outline of English Phonetics — Daniel Jones, 1962, W. Heffer & Sons Ltd. Cambridge.
8. Aspects of the Theory of Syntax — Noan Chomsky, 1965, The M. I. T. Press Massachusetts.
9. All About Language — Mario Pei, 1956, The Bodley Head, London.
10. A History of Foreign Words in English—Mary S. Serjeantson, 1961, Routledge and Kegan Paul, London.
11. A Dictionary of Modern American Usage — H. W. Horwill, 1958, Oxford University Press.
12. A Dictionary of Modern English Usage—H. W. Fowler, 1965, Oxford University Press.
13. A Handbook of English Intonation — L. E. Armstrong and C. Idaward, 1949, W. Heffer and Sons Ltd., Cambridge.
14. A Comparatine Grammar of the Dravidian Languages—R. Caldwell, 1956, Madras University.
15. A short Introduction to the Study of Comparative Grammar

(Indo-European) — Williams T. Hudson, 1935, The University of Wales Press.

16. An Introduction to the Study of Language — Leonard Bloomfield, 1914, Henry Holt and Company, New York.
17. A Survey of Verb Forms in the Eastern United States, 1953, Ann Arbor.
18. A Word Geography of the Eastern United States — Hans Kurath, 1949, Ann Abrbor.
19. A Grammar of the Chhattisgarhi Dialect — originally written in Hindi by Hiralal Kavyopadhayaya and translated by Sir George A. Grierson, revised and enlarged by Pandit Lochan Prasad Kavyavinod, 1921, Calcutta.
20. A Grammar of the Hindi Language — H. S. Kellogg, first edition 1875, reprinted 1955, Routledge & Kegan Paul Ltd., London.
21. A Manual of Ardh Magdhi Grammar — P. L. Vaidya, Fifth edition, 1950, Modern Book Depot, Poona.
22. Adventuring Among Words — Eric Partridge, 1961, Andre Deutsch.
23. A New Approach to Language Teaching—A. Chandra Shekar, 1965, Linguistic Survery of Delhi.
24. Culture, Language and Personality — Edward Sapir, 1949, University of California Press.
25. Course in General Linguistics — Ferdinand De Sanssure, Translated from the French by Wade Baskin, 1960, Peter Owen Limited, London.
26. Comparative Grammar of Greek and Latin — Carl Darling Buck, 1933, Chicago.
27. Concise Grammar of the Hindi Language — H. C. Scholberg, 1940, Oxford University Press.
28. Etymology — A. S. G. Ross, 1958, Andre Deutsch.
29. Elements of General Linguistics — Andre Martinet, translated by Elisabeth Palmer, 1964, Faber and Faber Ltd.
30. Elements of Science of Language — Taraporewala, 1962.

31. Extinct Languages — Johannes Friedrich, 1957, The Philosophical Library, New York.
32. Esperanto Self-taught — William W. Mann, Third Edition, Marlborough & Co Ltd., London.
33. Exact Methods in Linguistic Research — O. S. Akhamanova & others, translated from Russian by David G. Hays and Dolores V. Mohr, 1963, University of California Press.
34. Evolution of Awadhi — Babu Ram Saksena, 1937, Indian Press, Allahabad.
35. Foundations of Language — Louis H. Gray, 1950, The Macmillan Company, New York
36. French Influence in English Phrasing — A. A. Prins 1952, Universitaire Pers, Leiden.
37. Fundamentals of Language — Roman Jakobson and Morris, 1956, Gravenhage.
38. Four Articles on Metalinguistics — Benjamin Lee whorf, 1950, Foreign Service Institute, Department of State, Washington.
39. General Linguistics. An Introductory Survey — H. H. Robins, 1964, Longmans.
40. General Phonetics — R. M. S. Heffner, 1960, The University of Wisconsin Press.
41. Growth and Structure of the English Language—Otto Jespersen, 1938, Oxford University Press.
42. Human Speech — Sir Richard Paget, 1930, Harcourt Brace and Company, New York.
43. Historical Grammar of old Kanada — G. S. Gai, Deccan College Publication, Poona.
44. Historical Grammar of Inscriptional Prakrits — M. A. Mahendale, Deccan College Publication , Poona.
45. Historical Linguistics — Winfred P.. Lehmann, 1964, Holt Rinehart and Winston.
46. History in English Words — Owen Barfield, Faber and Faber Ltd., London.

47. How to teach a Foreign Language — Otto Jespersen 1956, Allen and Unuin.
48. History of Modern Colloquil English — Henry Cecil Wyld, 1925, T. Fisher Unuin Ltd., London.
49. Handbook of Languages and Dialects of India — Amal Sarkar, 1964, Calcutta.
50. Handbook of American Indian Languages — F. Boas, 1907.
51. Hindi Semantics — Hardeo Bahari, 1959, Bharati Press Publications.
52. Invitation to Linguistics — Mario Pei, 1965, Doubleday & Company, Inc, New York.
53. Introduction to Semantics — A. Schaff, 1964, Pergamon Press.
54. Introduction to Linguistic Structures — Archibald A. Hill.
55. Indian Words in English — G. Subba Rao, 1954, Oxford University Press.
56. Introduction to Natural History of Language — F. G. Tucker.
57. In Honour of Daniel Jones (Papers contributed on the occasion of his eightieth birthday, 12 September 1961) Edited by David Abercrombie and others, 1964, Logmans.
58. I Break My Word — I'or Brounn, 1951, Jonathan Cape, London.
59. Introduction to the Science of Language — A. H. Sayce, in two volumes, Third edition, Kegan Paul, Trench, Triibner & Co Ltd., London.
60. Introduction to Romance Linguistics — lorgu Iordon and Orr John, 1934, Mathuen & Co, London.
61. Introduction to Handbook of American Indian Languages — Boas Franz, 1911.
62. International Mannual of Liguistics & Translators — William W. Bower, 1959, The Scarecrow Press, Inc, New York.
63. Language Change and Linguistic Reconstruction — Henry M. Hoenigswald, 1960, The University of Chicago Press.

64. Linguistics and Reading — Charles C. Fries, 1965, Holt Rinehart and Winston Inc, New York.
65. Language (A Linguistic Introduction to History) — Trans-lated by Paul Radin, 1959, Routledge & Keygan Paul Ltd.
66. Linguistic Change — E. H. Sturtevant, 1962, The University of Chicago Press.
67. Linguistic Change in Present-day English — charles Barber, 1964, Oliver & Boyd, London.
68. Language : An Introduction to the Study of Speech — Edward Sapir, 1949, Harvest book, New York.
69. Language A Modern Synthesis — Joshua Whatmough, 1956, Secker & Warburg, London.
70. Language, its Nature, Development and Origin—Otto Jespersen 1922, 1954, Allen & Unuin Ltd, London.
71. Linguistic Science in the Nineteenth Century — Holger Pedersen — Translated by John Spargo, 1931, Cambridge.
72. Language and the Study of Language—William Dwight Whitney, 1874, New York.
73. Language — Bloomfield 1933, Henry Holt & Co. New York.
74. Levels of Knowing and Existence (Studies in General Semantics)- Harry L. Weinberg, 1959, Harper & Brothers, Publishers, New York.
75. Leave Your Language Alone — A. Robert Hall, 1950, Ithaca, New York.
76. Language in Society — M. M. Lewis, 1947, Thomas Nelson and Sons Ltd.
77. Learning a Foreign Language (A Handbook for Missionaries) — Eugene A. Nida, 1950, Foreign Mission Conference of North America.
78. Language and Languages — W.L. Graff, 1932, London.
79. Linguistique Historique et Linguistique Generale — A. Meillet.
80. Linguistic Matrices — Punya Sloka Ray, 1967, Indian Institute of Advanced Study, Simla.

81. Language Thought and Reality (Selected writings of Benjamin Lee Whorf.) Edited by John B. Carroll, 1966, The M. I. T. Press, Massachusettes.

82. Lectures in Linguistics — Oscar Lius Chavarria Agiular, 1954, Deccan College, Poona. (contains one chapter on Langnage and Linguistics in India)

83. Language: An Enquiry into its Meaning and Function — Edited by Ruth Nanda Anshen,1957, Harper & Brothers, New York.

84. Linginstic Affairs of India — Ram Gopal, 1966, Asia Publishing House, Bombay.

85. Language For Teaching — Hunter Diack, 1966, Chatto & Windus, London.

86. Language Teaching — Robert Lado, 1964, Mcgrow - Hill, Inc, New York.

87. Langnages and Literatures of Modern India — Suniti Kumar Chaterji, 1963, Bengal Publishers Private Ltd., Calctutta.

88. Languages in History and Politics — A. C. Woolner, Oxford University Press, 1938.

89. Methods in Structural Linguistics — Zellig S. Harris, 1957, The University of Chicago Press.

90. Modern Linguistics — Simeon Potter, 1957, Andre Deutsch, London.

91. Morphology — Eugene A. Nida, 1961, Ann Arbor : The University of Mchigan Press.

92. Manual of Phonetics — Edited by L. Kaiser, 1957, North Holland Publishing Company, Amsterdam.

93. Meaning of Meaning — Ogden and Richards, Kegan Paul, London.

94. Meaning and Change of Meaning with Special Reference to the English Langnage — G. Stern, 1931, Goteborg.

95. New Directions in the Study of Language — Editor Eric H. Lenneberg, 1964, The M. I. T. Press, Massachusetts.

96. Outline of Linguistic Analysis — Berard Bloch, George L. Trager, 1942, Linguistic Society of India.
97. Oriya Bhashar Itihas — Binayak Mishara, 1927, Cuttack.
98. Perspectives on Language - Edited by — John A. Rycenga and Joseph Schwartz, 1963, The Ronald Press Company, New York.
99. Perspectives in Linguistics — John T. Waterman, 1963, University of Chicago Press.
100. Present Day English Syntax — G. Scheurweghs, 1961, Longmans, London.
101. Phonetics — Kenneth L. Pike, 1942, Ann Arbor, The University of Michigan Press.
102. Phonemics — Kenneth L. Pike, 1947, Ann Abror, The University of Michigan Press.
103. Psycholinguistics — Edited by Solsaporta, 1961, Holt Rinehart and Winston, New York.
104. Phonetics — Claude E. Kantner and Robert West, 1960, Harper & Brothers, New York.
105. Preliminaries to Speech Analysis — Roman Jakobson and others, 1961, The M. I. T. Press, Massachusetts.
106. Phonetics in Ancient India — W. S. Allen, 1953, Oxford Universsity Press.
107. Persian Influence in Hindi — A. P. Vajpeyi, 1936, Calcutta University Publication.
108. Philosophy and Ordinary Language — Edited by Charles E. Caton, 1963, University of Illinois Press, Urbana.
109. Readings in Linguistics (the Development of Descriptive Lingiustics in America Since 1925) — Edited by Martin Joos 1958, American Council of Learned Societies, New York.
110. Race, Language and Culture — Franz Boas, 1940, Macmillan New York.
111. Selected Writings of Edward Sapir — Edited by David G. Mandelbaum, 1949, University of California Press.
112. Semantics — F.H. George, 1964, the Englishh Universities Press, London.

113. Semantics and the Philosophy of Language — Edited by Leonard Linsky, 1952, the University of Illinois Press at Urbana.
114. Semantics An Introduction to the Science of Meaning — Stephen Ullmann, 1964, Oxford Basil Blackwell.
115. Semantics and Commonsense—Louis B. Salomon, 1966, Holt Rinehart and Winston
116. Semantics : the Nature of Words and Their Meaning — Hugh R. Walpole, 1941, W.W. Norton & Company Ltd., New York.
117. Semantic Analysis — Paul Ziff, 1960, Cornell University Press, New York.
118. Semantics Michel Breal.
119. Speech, Its Function and Development — Grace Andrus Di Laguna, 1963, Indiana University Press, Bloomington.
120. Sound and Symbol in Chinese—Bernhard Karlgren, 1946, Oxford Unversity Press.
121. Speech and Langnage —A.H. Gardiner, 1951, Oxford.
122. Studies in Deravidian Philology—Ramkrishana K. Iya, 1935, Madras.
123. Syntax (A Grammar of the English Language) — George O. Curme, 1931, D.C. Heath and Company Boston.
124. Syntactic Structures — Noam Chomsky, 1957, Mouton & Co. Gravenhage.
125. String Analysis of Sentence Structure—Zellig S. Harris, 1964 19, Mouton & Co., The Hague.
126. Shift of Meaning — Copley, 1961, Oxford University Press, London.
127. Short History of English Words — Bernard Groom, 1935, Macmillan & Co. Ltd.
128. Stdies in Words —C.S. Leuis, 1947, Cambridge, The University Press.
129. Signs, Language and Behaviour—Charles Morris, 1955, George Braziller, Inc, New York.

130. Studies Presented to Joshua Whatmough — Edited by Ernest Pulgram, 1967, Mouton & Co. 15 — Gravenhage.
131. Sanskrit in Indonesia — Dr. J. Gonda, 1952, International Academy of Indian Culture, Nagpur.
132. Studies on African Linguistic Classification — J. Greenberg, 1955, Haven.
133. The Tree of Language — Helene and Charlton Laird, 1957, Faber and Faber.
134. The Origins And Prehistory of Language — G. Revesz, 1956, Longmans..
135. The Adventure of Language— Michael Girsdausky, 1963, Allen & Unuin.
136. The Study of Language—John B. Carroll, 1959, Harvard University Press.
137. The Gift of Language —Margaret Schlaugh, 1955, Dover Publications, New York.
138. The History of Origin of Language—A.S. Diamond, 1960, Methuen & Co. Ltd., London.
139. The Principles of Semantics—Stephen Ullmann, 1959, Glasgow University Publications.
140. The Science of Language—John P. Hughes, 1962, New York.
141. The Bases of Speech —Giles Wilkeson Gray and Claude Merton Wise, 1959, Harper & Row Publishers, New York.
142. The Story of Language — Mario Pei, 1952, Allen & Unuin Ltd., London.
143. The Discovery of Language (Linguistic Science in the Nineteenth Century)—Holger Pedersen, translated from Danish by John Webester Spargo, 1959, Indiana University Press, Bloomington.
144. The Principles of Language Study — H.E. Palmer, 1964, Oxford University Press.
145. The Miraculous Birth of Language—Richard Albert Wilson, 1949, J.M. Dent and Sons Ltd., London.

146. The Principles of Linguistic Philosophy — F. Waismann, 1965, Macmillon.

147. The Spirit of Language in Civilization — Carl Vossler, Translated by Oscar Oeser, 1951, Routledge & Kegan Paul Ltd., London.

148. The Meaning of Meaning — C.K.Ogden, I.A. Richards.

149. The Importance of Language—Edited by Max Black, 1962, Prentice — Hall, Inc Englewood Cliffs, N.J.

150. The Words We Use — J. A. Sheard,, 1954, Andre Deutsch.

151. Two Lectures on Linguistics—S.M. Katre, 1959, K. M. Institute of Hindi Studies & Linguistics, Agra.

152. The Lingistic Sciences and Language Teaching — M.A.K. Halliday & others,1964, Longmans.

153. The Techniques of Language Teaching — F.L. Billows, 1964, Longmans.

154. The world's Chief Languages — Mario A. Pei, 1961, Allen and Unuin.

155. The Philosophy of Grammar — Otto Jespersen, 1951, Allen and Unuin.

156. The Latin Elements in English Words — Lulu Lee, 1959, Exposition Press, New York.

157. The History & Origin of Language — A.S. Diamond,1960, Methuen & Co. Ltd., London.

158. Trends in Language Teaching — Edited by Albert Valdman, 1966, Mcgraw Hill, Book Company.

159. The Practical Study of Languages — Henry Sweet, 1964, Oxford University Press.

160. The Loom of Language — Frederick Bodmer, Edited and arranged by Lancelot Hogben, Allen & Unuin.

161. The Alphabet — D. Diringer, 1948, New York.

162. The Structure of Amecrican English — W. Nelson Francis, 1958, New York.

163. The Phonetics of French — L.E. Armstrong, 1947, G. Bell & Sons Ltd, London.

164. The Phonetics of Hottentot Language — D.M. Beach, Cambridge.

165. The Sanskrit Language — T. Burrow, Faber and Faber, London.

166. The Evolution of Malyalam Morphology — L.V. Ramaswami Ayyar, 1936, Ernaculam.

167. The Grammatical Structure of Dravidian Languages —Jules Bloch, Translated by R. G. Harshe, 1954, Poona.

168. The Phonetics of Arabic — W.H. T. Gairdner, 1925, Oxford Unversity Press.

169. The Growth and Structure of English Language — Otto Jesperson.

170. The Intonation of American English—K.L. Pike, 1945, University of Michigan Press.

171. The Phoneme; its Nature and Use — Daniel Jones,1950, Heffner, Cambridge.

172. Universals of Language (Report of a Conference on Language Universals, held at New York 1961) Edited by Joseth H. Grenberg, 1963, The M. I. T. Press, Massachusetts.

173. Usage and Abusage — Eric Partridge, 1959, Hamish Hamilton, London.

174. Voices of Man — Mario Pei, 1962, George Allen & Union Ltd., London.

175. What is Language ? New Approach to Linguistic Description — Robert M. W. Dixon, 1966, Logmans.

176. Words in Season — Ivor Brown , 1961, Rupert Hart — Davis, London.

177. Wilson Philological Lectures on Sanskrit and the Derived Languages — R. G. Bhandarkar, 1929,Governrment Oriental Series B No. 4.

178. Words and Their Ways in English Speech — J. B. Greenough and G. L. Kittredge, 1961., New York.

हिन्दी ग्रन्थ

१. अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन—कपिलदेव द्विवेदी, १९५१, हिन्दुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद।

२. अर्थतत्व की भूमिका—शिवनाथ, सं० २०१८, नागरी प्रचारिणी सभा काशी।

३. अपभ्रंश प्रकाश—देवेन्द्र कुमार, प्रथम संस्करण, वी० सं० २४७६, वर्णी जैन ग्रन्थमाला २/३८ भदैनी, काशी।

४. अपभ्रंश प्रवेश—विपिनविहारी त्रिवेदी।

५. अपभ्रंश भाषा और साहित्य—देवेन्द्र कुमार जैन।

६. अपभ्रंश भाषा का अध्ययन—वीरेन्द्र श्रीवास्तव।

७. अन्य भाषा शिक्षण—महावीर सरन जैन, १९६६, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।

८. आगरा जिले की बोली—रामस्वरूप चतुर्वेदी, १९६१, हिन्दुस्तानी एकेडेमी।

९. आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन—नेमिचन्द्र शास्त्री।

१०. खुर्जा तथा बुलन्दशहर तहसीलों का सांकालिक अध्ययन—महावीर सरन जैन, १९६७, हिन्दी सा० सम्मेलन।

११. ध्वनिविज्ञान—गोलोकविहारी धल, १९५८, प्रेम बुक डिपो, आगरा।

१२. दक्खिनी हिन्दी का उद्भव और विकास—श्रीराम शर्मा, १९६४, हिन्दी साहित्य सम्मेलन।

१३. ध्वनि और ध्वनिग्रामशास्त्र—जयकुमार जलज, १९६२, त्रिवेणी प्रकाशन, दारागंज, इलाहाबाद।

१४. पुरानी राजस्थानी—मूल लेखक एल० पी० तेस्सितोरी—अनुवादक नामवरसिंह, सं० २०१२, नागरी प्रचारिणी सभा।

१५. प्राकृत प्रवेशिका—कोमलचन्द्र जैन, १९६४, प्राच्य भारती प्रकाशन, वाराणसी।

१६. प्राकृतप्रबोधः—नेमिचन्द्र शास्त्री, १९६५, चौखम्बा, काशी।

१७. पालि-प्राकृतव्याकरणम्—मथुराप्रसाद दीक्षित, १९५४, मोतीलाल बनारसी दास, काशी।

१८. पालिव्याकरणम्—भिक्षु धर्मरक्षित, संवत् २०१४, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी।

१९. पालि महाव्याकरण—भिक्ष जगदीश काश्यप, १९४०, महाबोधि सभा, सारनाथ।

२०. प्राकृत व्याकरण—मधुसूदन प्रसाद मिश्र, संवत् २०१७, चौखम्बा, काशी।

२१. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण—आर० पिशल, अनुवादक हेमचन्द्र जोशी।

२२. ब्रजभाषा—धीरेन्द्र वर्मा, १९५४, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद।

२३. ब्रजभाषा का व्याकरण — किशोरीदास वाजपेयी, १९४८, रामनारायण-लाल।

२४. ब्रजभाषा और खड़ी बोली का तुलनात्मक अध्ययन—कैलासचन्द भाटिया, १९६२, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा।

२५. ब्रजभाषा व्याकरण—धीरेन्द्र वर्मा, १९५४, रामनारायण लाल।

२६. ब्रजभाषा एवं खड़ी बोली के व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन—गेंदालाल शर्मा, १९६५, प्रकाशन प्रतिष्ठान, मेरठ।

२७. भाषा—जो० वान्द्रियैज, हिन्दी अनुवादक जगवंश किशोर बलवीर, १९६६, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ० प्र०।

२८. भाषाविज्ञान की रूपरेखा—हरीश शर्मा, १९६८, अमित प्रकाशन, गाजिया-बाद।

२९. भारतीय व्यवहार कोश—संपादक विश्वनाथ दिनकर नरवणे, १९६१।

३०. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, १९५७, राजकमल प्रकाशन।

३१. भाषा और भाषिकी—देवीशंकर द्विवेदी, १९६४, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।

३२. भारतीय आर्यभाषा—ज्यूल ब्लॉख, मूल फ्रेंच से अनुवादक—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, १९६३, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ० प्र०।

३३. भारतीय संस्कृति में आर्येतरांश—शिवशेखर मिश्र, १९५२, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

३४. भारतीय भाषाविज्ञान—किशोरीदास वाजपेयी, १९५९, चौखम्बा, काशी।

३५. भारत की भाषाएँ तथा भाषा सम्बन्धी समस्याएँ—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, १९५७, हिन्दी भवन, जालंधर।

३६. भाषाविज्ञान पर भाषण—ऐफ० मैक्समूलर के० एम०, अनुवादक हेमचन्द्र जोशी, १९६४, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ० प्र०।

३७. भोजपुरी भाषा और साहित्य—उदयनारायण तिवारी, १९५४, बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद्।

३८. भाषा रहस्य—श्यामसुन्दर [दास, पद्मनारायण आचार्य, संवत् २०१३, इण्डियन प्रेस।

३९. भाषा दर्शन—रामलाल सिंह, १९६३, विद्यामन्दिर, वाराणसी।

४०. भाषाविज्ञान—श्यामसुन्दर दास, सहायक गोपाल लाल खन्ना, संवत् १९८१।

४१. भाषालोचन—सीताराम चतुर्वेदी, संवत् २०१०, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस।

४२. भाषाविज्ञान—भोलानाथ तिवारी, १९५१, किताब महल, इलाहाबाद।

४३. भाषा—ब्लूमफील्ड, अनुवादक—विश्वनाथ प्रसाद।

४४. भाषा का इतिहास—भगवद्दत्त।

४५. भाषा की उत्पत्ति तथा हिन्दी और उसकी बोलियाँ—कोमल सिंह सोलंकी।

४६. भाषाविज्ञान (तुलनात्मक भाषाशास्त्र)—मंगलदेव शास्त्री।

४७. भाषाविज्ञान की भूमिका—देवेन्द्रनाथ शर्मा, १९६६, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

४८. भाषाशास्त्र प्रवेशिका—अमर बहादुर सिंह, १९६३, रामनारायण लाल, इलाहाबाद।

४९. भाषा और समाज—रामविलास शर्मा, १९६१, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्रा० लिमिटेड, नई दिल्ली।

५०. भाषाशास्त्र की रूपरेखा—उदयनारायण तिवारी, संवत् २०२०, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

५१. मध्य पहाड़ी भाषा (गढ़वाली–कुमाऊँनी) का अनुशीलन और उसका हिन्दी से सम्बन्ध—गुणानन्द जुयाल, १९६७, नवयुग ग्रन्थागार, लखनऊ।

५२. सामान्य भाषाविज्ञान—बाबूराम सक्सेना, १९४३, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

५३. सब की बोली (Our basic Vocabuldry)—डॉ रघुवीर, १९४२, The Internatiuoal Academy of Indian Culture, Lahore.

५४. शेखावाटी बोली का वर्णनात्मक अध्ययन—कैलासचन्द्र अग्रवाल, १९६४, लखनऊ विश्वविद्यालय।

५५. संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन — भोलाशंकर व्यास, १९५७, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ।
५६. हिन्दी शब्दानुशासन — किशोरीदास वाजपेयी, संवत् २०१४, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।
५७. हिन्दी भाषा का इतिहास -- धीरेन्द्र वर्मा, १९३३, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग ।
५८. हिन्दी भाषा -- भोलानाथ तिवारी, १९६६, किताब महल, इलाहाबाद ।
५९. हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास — उदयनारायण तिवारी, १९५५, भारती भंडार, इलाहाबाद ।
६०. हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों में अर्थपरिवर्तन — केशवराम पाल, १९६४, प्राची प्रकाशन, मेरठ ।
६१. हिन्दी शब्द रचना -- माईदयाल जैन, १९६६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ।
६२. हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास — शमशेर सिंह नरूला, १९५७, राजकमल प्रकाशन ।
६३. हिन्दी भाषा और लिपि का ऐतिहासिक विकास — सत्यनारायण त्रिपाठी, १९६४, विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर ।
६४. हिन्दी व्याकरण -- कामता प्रसाद गुरु, संवत् २००९, नागरी प्रचारिणी सभा ।
६५. हिन्दी व्याकरण — दुनीचन्द, संवत् २००७, होशयारपुर ।
६६. हिन्दी व्याकरण की रूपरेखा — ज० म० दीमशित्स, १९६६, राजकमल प्रकाशन ।
६७. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग — नामवर सिंह, १९६५, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।
६८. हिन्दी भाषा : अतीत और वर्तमान — अम्बाप्रसाद सुमन ।
६९. हिन्दी भाषा : विकास और विश्लेषण — चन्द्रभान रावत।
७०. हिन्दी भाषा का अर्थतात्विक विकास — शिवनाथ ।
७१. हिन्दी भाषा रूप-विकास—सरनाम सिंह शर्मा अरुण।
७२. हिन्दी में अंग्रेजी के आगत शब्दों का भाषातात्विक अध्ययन—कैलासचन्द्र भाटिया ।
७३. हिन्दी समास रचना का अध्ययन — रमेश चन्द्र जैन ।
७४. हिन्दी की तद्भव शब्दावली — सरनाम सिंह शर्मा अरुण, १९६८, कालेज बुकडिपो, जयपुर ।

हमारे कुछ नवीनतम प्रकाशन

१.	तान्त्रिक साहित्य (म० म० पण्डित गोपीनाथ कविराज)	३०.००
२.	प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास	१८.००
३.	एशिया के सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास की रूपरेखा	१३.००
४.	भारतीय वास्तुकला का इतिहास	८.००
५.	आधुनिक शासन के सिद्धान्त	१५.००
६.	क्रान्तिकारी यूरोप तथा नेपोलियन का युग	१२.००
७.	भाषा-भूगोल	१४.००
८.	मौर्य-साम्राज्य का सांस्कृतिक इतिहास	१२.००
९.	शिकार के पक्षी	१५.००
१०.	प्रायोगिक रसायन	१२.००
११.	इंगलैण्ड का संवैधानिक इतिहास	१६.००
१२.	वेदकालीन राज्य व्यवस्था	८.००
१३.	टेप-रिकार्डर	१३.००
१४.	हिन्दू-विधि	१७.००
१५.	हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास	१६.००

जनवरी ७३ के प्रकाशन

- धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ४
- धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ५
- भारतीय पक्षी
- कार्बनिक रसायन
- परिवार नियोजन

हिन्दी समिति

Jacket Printed by R. N. Seth at THE PRINTERS
9, Kaiser Bagh, Lucknow Ph. 22927